

पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका
अंक : 47 जुलाई-अगस्त 2013

संपादक
भारत भारद्वाज



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 47 जुलाई-अगस्त, 2013

प्रकाशक :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिंदीविश्व

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव

email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 08055290240

प्रचार-प्रसार : रामप्रसाद कुमरे

email : ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 09552114176, 09406546762

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ` 20

वार्षिक सदस्यता : ` 120

चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ` 145 और द्वैवार्षिक ` 265 म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा को भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटेर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो. 09212796256)।

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943

संपादकीय संपर्क :

211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
मो.-09313034049 (संपादकीय)
टेली.-011-42151470

PUSTAK-VARTĀ

A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटेर्स, दिल्ली-110032 (09212796256) email : ruchikaprinters2005@gmail.com

चरखा और चिंतन (शिल्प : केंजियो)

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: अब तो जाते हैं बुतकदे से मीर.../ भारत भारद्वाज	5
पुस्तकें और मैं	: किताबों के आसपास/ राजकुमार सैनी	6
उपन्यास	: बिंब-प्रतिबिंब : विवेकानंद पर एक जीवंत उपन्यास/ सुभाष शर्मा	10
	: हाशिए से संवाद की एक बेचैन प्रेमकथा/सुंदरम् शांडिल्य	12
	: नित नई लीलाओं का 'तलघर'/वंदना मिश्रा	16
	: पत्थर पर दूब : एक कमांडो की प्रेमकथा/राजा खुगशाल	18
	: सांप्रदायिक नफरत का प्रतिवाद करता एक सार्थक उपन्यास/वेदप्रकाश अमिताभ	21
	: एक कस्बे के नोट्स : भीगे पंखों की उड़ान/संजीव	23
	: सैनिक के बहाने कठोर जीवन के यथार्थ की ऐंठन/अमिय बिंदु	25
	: हमारे विपर्ययस्त समय की उतनी ही विपर्ययस्त दास्तान/सत्यप्रकाश पाल	28
कहानी	: मंटो की सदी : लुप्त होती मानवता की तलाश/तरसेम गुजराल	30
	: चिंताओं और पठनीयता का संगम/मधुरेश	33
कविता	: कैफ़ी आजमी की अज्म/ज्ञान प्रकाश विवेक	35
	: कविता में स्मृतियां/पूनम सिन्हा	38
	: मनुष्यता के पक्ष में खड़ी हैं कविताएं/रतीनाथ योगेश्वर	40
	: हिंदी में लिली का लालित्य/गीता शर्मा	41
	: चांदनी चंदन सदृश्य हम क्यों लिखें/शिवकरण सिंह	43
	: जीवन की असंगत लय की शिनाख्त करती कविताएं/अरुण अभिषेक	44
आलोचना	: वाचिक शक्ति और सौंदर्य का सफल संधान/श्याम कश्यप	46
	: 'आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास' : प्रवहमान एवं संश्लिष्ट चित्र/मीनू मंजरी	49
	: 'निराशा में भी सामर्थ्य' और समीक्षा/अविनाश मिश्र	52
	: भारतीय उपन्यास पर गहन चिंतन/पंकज पराशर	54
	: अध्यापकीय होने की मुश्किलें/मूलचंद गौतम	56
	: आलोचकीय दृष्टि साहित्यालोचन का सबसे बड़ा उपस्कर/देवीशंकर नवीन	57

साक्षात्कार	: पगडंडियों पर चलते पांव/डी.एन. प्रसाद	60
	: पात्रों के बहाने समकालीन लेखन से जवाब-तलब/विनोद अनुपम	63
नाटक	: आज के समय में गांधी/फ़ज़ल इमाम मल्लिक	65
	: जीवन की जय/नंद चतुर्वेदी	67
यात्रा	: विस्मृत इतिहास का पुनर्पाठ/निरंजन देव शर्मा	69
कला	: विस्मय और भाव प्रवणता से उपजी हुई कला चर्चा/प्रयाग शुक्ल	71
विचार-विमर्श	: भूमंडलीय परिवर्तन का परिप्रेक्ष्य प्रदान करने वाली दो महत्वपूर्ण पुस्तकें/रमेश उपाध्याय	73
आत्मकथा	: कुलदीप नैयर की आत्मकथा : आजाद भारत की कहानी/प्रेमपाल शर्मा	80
स्त्री-विमर्श	: सामंती मूल्य और स्त्री संघर्ष के आयाम/जवाहर पांडेय	83
संस्मरण	: चिंतामुक्त जीवन-शैली और अनुपम गद्य-शैली का अनोखा कॉकटेल : 'ग़ालिब छुटी शराब'/हरजेंद्र चौधरी	85
	: मजाज की कहानी : छोटी बहन की जुबानी/साधना जैन	88
जीवन-पत्रिका-इतिहास:	ऐतिहासिक संपदा की सुरक्षा का प्रयास/मनोज मोहन	90
कला-संस्कृति	: किताबें कुछ कहना चाहती हैं; तुम्हारे पास रहना चाहती हैं!/राकेश शुक्ला	91
सात समंदर पार	: गौतम सचदेव की कहानी 'जीरे वाला गुड़' का अंतर्पाठ/साधना अग्रवाल	93
हस्तक्षेप	: सचिन पर दिग्गजों की राय/अनंत विजय	95

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं की सदस्यता के लिए

बहुवचन (त्रैमासिक)	चैक/ड्राफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक शुल्क : ` 225
पुस्तक-वार्ता (त्रैमासिक)	चैक/ड्राफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक शुल्क : ` 145
हिन्दी लैंग्वेज डिस्कॉर्स राइटिंग (त्रैमासिक)	चैक/ड्राफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक शुल्क : ` 425

चैक/ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से जो वर्धा में देय हो, निम्न पते पर भेजें—



प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), फोन : 07152-232943

अब तो जाते हैं बुतकदे से मीर...

मे

रे संपादन में प्रकाशित 'पुस्तक-वार्ता' का यह समापन अंक है। मुझे सचमुच इस बात का दुख है कि अपनी व्यक्तिगत व्यस्तताओं के कारण भविष्य में इस द्वैमासिक

समीक्षा पत्रिका का संपादन करने में अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। म.गां.अं.हिं.वि. वर्धा के कुलपति और हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार विभूति नारायण राय ने वर्ष 2009 के आरंभ में इस पत्रिका के संपादन का दायित्व जब मुझे सौंपा था, मैं असमंजस की स्थिति में था। मैं मिडल स्कूल की हस्तलिखित पत्रिका 'नवज्योति' का 1956-57 में संपादन कर चुका था और हाईस्कूल की पत्रिका 'नव प्रभात' का भी। मैं 'धरातल' (1977-1979) और 'कसौटी' (संपादक : नंदकिशोर नवल) के संपादन से भी जुड़ा हुआ था। खुद स्वतंत्र रूप से 1978 में मैंने 'पदक्षेप' पत्रिका निकाली थी। इस पत्रिका के बस दो अंक निकले। अंतिम अंक 1980 में। मुझे यह देखकर सचमुच हैरानी हुई कि इस अंक पर कवि शमशेर बहादुर सिंह ने न केवल पत्र लिखा, बल्कि पत्रिका की कीमत 2/- रुपये मुझे मनिऑर्डर से भेजी। अंततः डरते-डरते मैंने 'पुस्तक-वार्ता' के संपादन का दायित्व संभाल लिया। मेरे संपादन में इस पत्रिका के कुल 28 अंक निकले।

'पुस्तक-वार्ता' का प्रवेशांक सितंबर-अक्टूबर 2001 में निकला था, जब अशोक वाजपेयी इस विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति थे। पत्रिका का नामकरण भी उन्होंने ही किया था। वे पत्रिका के प्रधान संपादक थे और राकेश श्रीमाल संपादक। श्रीमाल के संपादन-काल में इस पत्रिका के कुल 19 अंक निकले। रुक-रुक कर। अंतिम अंक जनवरी-फरवरी 2008 में, जब प्रो. जी. गोपीनाथन,

कुलपति थे। श्रीमाल ने इस पत्रिका का बहुत अच्छा संपादन किया था। बल्कि, मैं कहूँ कि इस पत्रिका के प्रवेशांक में मेरी भी एक रिव्यू छपी थी।

अंत में, बस मैं यह सिर्फ कहना चाहता हूँ कि संपादन के मेरे आदर्श हैं—महामना मदन मोहन मालवीय (कालाकांकर से प्रकाशित 'हिंदुस्थान'), आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ('सरस्वती' के संपादक), गणेश शंकर विद्यार्थी ('प्रताप'), अज्ञेय ('प्रतीक' और 'दिनमान'), माखनलाल चतुर्वेदी ('कर्मवीर'), सुमित्रानंदन पंत ('रूपाभ'), डॉ. नामवर सिंह ('आलोचना')।

'पुस्तक-वार्ता' के संपादन में हिंदी के जिन लेखक-आलोचकों और समीक्षकों ने अपना सहयोग दिया, उनके प्रति मैं हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूँ। बल्कि कहना चाहिए, मुझ पर उनकी कृतज्ञता का भार कुछ ज्यादा ही है। रुचिका प्रिंटर्स के कर्ता-धर्ता कांतीप्रसाद शर्मा के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने पत्रिका के प्रकाशन में व्यक्तिगत दिलचस्पी लेकर इसकी निरंतरता और नियमितता को बनाए रखा। पत्रिका के आकर्षक आवरण पृष्ठ बनाने के लिए मैं अशोक सिद्धार्थ का भी ऋणी हूँ।

भूल-गलती के लिए सबसे क्षमा सहित विदा लेता हूँ।

मेरे पास अनेक पुस्तकों की समीक्षाएं लंबित हैं। मुझे पूरा विश्वास है, नए संपादक इस पर विचार करेंगे और अच्छा लगेगा तो छापेंगे।

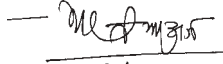
एक जरूरी सूचना

भारत भारद्वाज द्वारा संपादित पुस्तक-वार्ता का यह अंतिम अंक आपके हाथों में है। पिछले कुछ वर्षों में अपनी मेहनत और संपादकीय विवेक के बल पर भारत जी ने पुस्तक-वार्ता को एक जरूरी पत्रिका में तब्दील कर दिया था। बड़ी संख्या में पाठक, लेखक और पुस्तक प्रेमी पुस्तक-वार्ता से इस दौर में जुड़े। विश्वविद्यालय परिवार इस योगदान के लिए भारतजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है। अगले अंक से पुस्तक-वार्ता का संपादन राकेश श्रीमाल करेंगे।

विभूतिनारायण राय
कुलपति

एक बार फिर विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय, प्रकाशन प्रभारी डॉ. बीर पाल सिंह यादव एवं वित्त विभाग के सभी अधिकारियों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस बीच हमसे बिछुड़े प्रसिद्ध फिल्मकार और स्तंभकार के. विक्रम सिंह और प्रसिद्ध चिंतक और सांप्रदायिक सौहार्द के अवांगार्द असगर अली इंजीनियर के साथ बाबूलाल शर्मा तथा अभी-अभी राजपाल एंड संज के प्रबंध निदेशक विश्वनाथजी, जो साहित्य के परम अनुरागी थे, के बाद मार्क्सवादी आलोचना के प्रतिष्ठित आलोचक डॉ. शिवकुमार मिश्र, जो जनवादी लेखक मंच के अध्यक्ष भी थे, नहीं रहे। हम अश्रुपूरित इन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि देते हैं।

—

किताबों के आसपास

राजकुमार सैनी

पि

ता आर्यसमाजी थे। जैसे ही मैंने होश संभाला, कानों में ओंकार, गायत्री-मंत्र तथा संध्या व हवन संबंधी वैदिक मंत्रों और ऋचाओं से मेरा परिचय होने लगा। मां सनातन धर्म के संस्कारों में पली थीं। रामायण, महाभारत, गीता, रामचरित मानस भी विरासत में मिले। मेरे नाना सिख थे। अतः गुरवाणी के स्वर भी यदा-कदा हृदय-तंत्री के तारों को झंकृत कर देते थे। नाना सिख तो थे पर सनातनी भी।

अक्षर-ज्ञान का शुभारंभ उर्दू से हुआ। अलिफ़, बे, पे से तख्ती की शुरूआत हुई। चौथी कक्षा की किताब में इकबाल की नज़्म पढ़ी। शीर्षक था—‘एक परिंदे की फ़रियाद’। कुछ पंक्तियां आज भी याद हैं—

‘आता है याद मुझको/गुज़रा हुआ ज़माना
वो झाड़ियां चमन की/वो मेरा आशियाना’

ये प्रारंभिक पंक्तियां थीं। नज़्म की अंतिम पंक्तियां भी याद हैं—‘आज़ाद मुझको कर दे/ओ कैद करने वाले/मैं बेज़बां हूं कैदी/तू छोड़ कर दुआ ले’

कैद से देश मुक्त हुआ तो साल भर भी बीता न था कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की हत्या हो गई। गहरा सदमा लगा था। मैंने उस दिन उपवास किया।

पांचवीं कक्षा से हिंदी सीखनी शुरू की। देवनागरी पहले तख्ती पर, फिर कॉपी पर लिखने का अभ्यास किया। इंटर तक आते-आते अंग्रेज़ी भी सीख ली थी। उस समय अंग्रेज़ी की एक उल्लेखनीय पुस्तक पढ़ी तो मस्तिष्क की विभिन्न खिड़कियां खुलती चली गईं। होरेस शिप्प (HORACE SHIPP) की इस किताब का शीर्षक था—‘Ideas that moved the world+ इस पुस्तक में कोपरनिकस, ब्रूनो, गैलियो, न्यूटन, हार्वे, LAVOSIER, WESLEY, रूसो, वॉलस्टोनक्रैफ्ट, TOLPUDDLE MARTYRS, DARWIN, WALLACE,

LOUIS PASTEUR, KOCH, LISTER, SAMMEL WES, SAMUEL MORSE, HUXLEY, ELEXANDER BELL, MAXWELL, HERTZ, MARCONI, THE WRIGHT BROTHERS, HENRY DUNANT, GENERAL SMUTS, WODDROW WILSON, PLATO, KARL MARX, LENIN, FRANKLIN, PAINE, GEORGE WASHINGTON और THE MONTGOLFIERs आदि पर संक्षिप्त लेकिन स्वतः पूर्ण लेख थे। मुझे यह स्वीकार करने में कोई गुरेज़ नहीं है कि इस एक पुस्तक ने मुझे आधुनिक मनुष्य बनाने में सर्वाधिक भूमिका अदा की। इस पुस्तक से यह संदेश भी मिला कि दुनिया को बदलने में उपर्युक्त वैज्ञानिकों और विचारकों की भूमिका रही है। इनके संघर्ष, बलिदान और चिंतन के ही फलस्वरूप दुनिया में ज्ञान और विज्ञान का विकास हुआ। ब्रूनो को जीवित जला दिया गया किंतु वे आखिरी दम तक कहते रहे कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है।

भारतीय पुस्तकों में चारों वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, अभिज्ञान शकुंतलम्, उत्तररामचरितम्, स्वप्न वासवदत्ता, मृच्छकटिक, हर्षचरित, कादंबरी,



मुद्राराक्षस, धम्मपद, जातक कथाएं, जैन ग्रंथ, भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, आनंदवर्धन का ध्वन्यालोक, कथा सरित्सागर, ऋषि दयानंद का ‘सत्यार्थ प्रकाश’, स्वामी विवेकानंद के भाषण व लेख, ग़ालिब का दीवान और उनके पत्र, भारतेन्दु के नाटक, रवींद्रनाथ की ‘गीतांजलि’ और अन्य कविताएं, जयशंकर प्रसाद की ‘कामायनी’, उनके नाटक और निबंध, बंकिम के उपन्यास, शरत्चंद्र का ‘चरित्रहीन’, ‘पथ का दावेदार’, ‘देवदास’ और ‘श्रीकांत’ आदि उपन्यास, प्रेमचंद के (गोदान, रंगभूमि, कर्मभूमि, निर्मला आदि उपन्यास, कहानियां और लेख), आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ‘चिंतामणि’, ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेख और संपादकीय, राहुल सांकृत्यायन की कहानियां (‘वोल्गा से गंगा’), निबंध तथा ‘भागो नहीं दुनिया को बदलो’ शीर्षक किताब, हरिऔध का काव्य (‘प्रिय प्रवास’), मैथिलीशरण गुप्त का काव्य (‘साकेत’, ‘पंचवटी’ और ‘भारत भारती’), भगवतीचरण वर्मा का कथा साहित्य (‘टेढ़े मेढ़े रास्ते’, ‘चित्रलेखा’) यशपाल का कथा साहित्य (‘झूठा सच’, ‘दिव्या’ और ‘मनुष्य के रूप’ तथा अन्य विचारपरक पुस्तकें), जैनेन्द्र के उपन्यास (‘न्यागपत्र’, ‘सुनीता’, ‘परख’ तथा ‘जयवर्धन’), निराला रचनावली (संपादक : नंदकिशोर नवल), पंत का काव्य (‘रश्मि’, ‘ग्रंथि’ और ‘पल्लव’), महादेवी का काव्य (‘नीरजा’, ‘दीपशिखा’ और ‘यामा’ आदि), बच्चन का काव्य (‘मधुबाला’, ‘मधुशाला’, ‘निशा निमंत्रण’ और ‘प्रणय पत्रिका’ आदि), हरिशंकर परसाई की व्यंग्य कथाएं और लेख (‘परसाई रचनावली’), राजीव सक्सेना का उपन्यास (‘पणिपुत्री सोमा’), चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास (‘वैशाली की नगरवधु’), इलाचंद्र जोशी का उपन्यास (‘जहाज के पंछी’ और ‘संन्यासी’), उपेंद्रनाथ अशक के उपन्यास (‘गिरती दीवारें’, ‘सितारों के खेल’ आदि), मंटों की कहानियां और स्याह हाशिए, के.

एम. मुंशी के उपन्यास ('पाटन का प्रभुत्व', 'गुजरात के नाथ', दिनकर जोशी ('Gandhi vs mahatma+', अनुवाद : जयनी), रामधारी सिंह दिनकर का काव्य और 'संस्कृति के चार अध्याय', भगवत शरण उपाध्याय के लेख और पुस्तक 'खून के छींटे इतिहास के पृष्ठों पर'), आदि का अध्ययन करके ही मेरी साहित्यिक समझ और संवेदना विकसित और परिपक्व हुई।

नरेन्द्र शर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री के गीत, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद मिश्र, नीरज, नेपाली, धूमिल आदि कवियों की रचनाओं ने भी प्रभावित और अभिभूत किया।

तोलस्ताय की 'आन्ना कारेनिना' नारी के विश्रुंखल हो जाने की त्रासदी को उभारती है। फ्रेंच आलोचकों की दृष्टि में इस कृति पर फ्रांसीसी उपन्यासकार फ्लाबेयर की 'मैडम बावेरी' का प्रभाव है। 'मैडम बावेरी' का प्रभाव अत्युक्ति है। हिंदी फिल्म 'माया मेम साँब' इस उपन्यास की कथा पर आधारित है। एक अन्य फिल्म 'फिर सुबह होगी' पर दोस्तोएवस्की की कृति 'Crime and Punishment+' का प्रभाव था। दोस्तोएवस्की के 'ब्रदरज् कर्माजोव' तथा 'इन्सलटेड एंड ह्यूमिलिएटेड' अन्य दो उपन्यासों ने मेरी सामाजिक चेतना और संवेदना को विकसित और उदात्त किया। एफ स्काट के नॉवल 'द ग्रेट गेट्सबी' तथा हावर्ड फास्ट के उपन्यासों 'स्पार्टेकस', 'माइ ग्लोरियस ब्रदर्स' और 'प्रेजिडेंट' ने मेरी यथार्थवादी दृष्टि को गहन किया। बोरिस सचकोव की विवेचनात्मक कृति 'A History of Realism+', मनोवैज्ञानिक पावलोव की रचनाओं, 'मार्क्स ऑन आर्ट एंड लिटरेचर', 'लेनिन ऑन लिटरेचर एंड आर्ट' आदि कृतियों, प्लाखानोव, द्राट्स्की, स्टालिन, माओ, हावर्ड फास्ट, गोरकी, एजाज अहमद तथा देरिदा की कला और साहित्य संबंधी रचनाओं ने मेरे दिल और दिमाग को झकझोरा। फॉक्स की विवेचनात्मक तथा साहित्यालोचनात्मक कृति 'उपन्यास और लोकजीवन' तथा सार्त्र की 'Essays in Aesthetics+' नामक पुस्तक ने मेरे साहित्यिक मानस और क्षितिज का विस्तार और विकास किया।

उर्दू के लेखकों में मीर, गालिब, इकबाल, दाग, फिराक, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मजाज़, जिगर मुरादाबादी, साहिर लुधियानवी, नरेश कुमार

शाद आदि की शायरी ने मुझे ज़िंदादिली बख़्शी और महफ़िलों में बैठने लायक बनाया। पंजाबी लेखक शिवकुमार वटालवी ने क्रांतिकारी रोमांच से आंदोलित किया तो अमृता प्रीतम की रचनाओं ने रोमानी अंदाज़ से सराबोर किया। चेख़व, मंटो, अमरकांत, शेखर जोशी की कहानियों ने प्रभावित किया। लूनाचास्की की आलोचनाओं ने भी असर डाला।

शेक्सपीयर के नाटक (मर्चेंट आफ़ वीनस, ओथेलो, जूलियस सीज़र) और सानेट्स, मिल्टन, शैली, वर्ड्सवर्थ, बायरन, टेनीसन, कॉलरिज, कीट्स, ब्राउनिंग, लेडी ब्राउनिंग, मैथ्यू आर्नल्ड, फ्रांसीसी कवि रिम्बो, डिकेंस, थामस हार्डी, स्काट, इलियट आदि की रचनाओं ने साहित्यिक रुचि को परिमार्जित किया। हेमिंग्वे की उपन्यासिका अथवा लंबी कहानी 'The old man and the sea+', सेमुअल वेकेट की नाटिका 'Waiting for Godo+', मोपांसा की कहानी 'Necklace+' फ्लाबेयर के उपन्यास 'मैडम बावेरी' कामू के उपन्यासों 'द प्लेग', 'द स्ट्रेंजर' तथा 'द फ़ाल' और काफ़का के उपन्यास 'द कैसल' तथा कहानी 'मैटामारफ़ोसिस' आदि ने मेरे लिट्रेरी टेस्ट को विविधात्मक और बहु-आयामी बनाया। मार्ख़ेज़ के उपन्यास 'क्रानिकल्ज़ आफ़ ए डैथ फ़ोरटोल्ड' ने जादुई यथार्थवाद से परिचित कराया।

जेन आस्टिन के उपन्यासों 'Pride and Prejudice+' तथा 'Sense and Sensibility+' ने मेरी जीवन संबंधी समझ और संवेदना को और गहरा किया।

ग्रीक त्रासदियों और एपिक्स ने भी मेरी कलात्मक अभिरुचि को व्यापक बनाया। इनमें 'इडिपस द किंग', दांते की 'डिवाइन कामेडी', होमर की 'ओडेसी' और 'एलियड' उल्लेखनीय हैं।

भारतीय दर्शन ने मेरी चेतना को परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाया। डॉ. राधाकृष्णन की 'Indian Religions+', 'Our Heritage+', 'True Knowledge+', 'Towards a New World+', देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय की 'What is living and what is dead in Indian philosophy+', के. दामोदरन की 'भारतीय चिंताधारा' (श्री विष्णु प्रभाकर द्वारा हिंदी में रूपांतरित), एनी बेसेंट की 'Seven Great Religions+' जिसमें Hinduism, Zoroastrianism, Buddhism, Jainism, Christianity,

Islam, Sikhism पर संक्षिप्त किंतु स्वतः पूर्ण लेख संकलित हैं, आदि पुस्तकें विशेष रूप से पसंद आईं। Henrick Robert Zimmer की पुस्तक 'Philosophies of India+' (Edited by Joseph Cambell), प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, यू. एस. ए. द्वारा प्रकाशित भी बहुत अच्छी लगीं।

प्रगति प्रकाशन, मास्को द्वारा प्रकाशित मार्क्सवादी दर्शन, राजनीति, साहित्य और कला संबंधी पुस्तकों ने मार्क्सवाद संबंधी ज्ञान और संवेदना को परिपुष्ट किया। इनमें Boris Suchkov की पुस्तक 'A History of Realism+', 'Marx on Art and Literature+', Lenin on Literature and Art+', मार्क्स और एंगेल्स की जीवनियां तथा ऐतिहासिक और दंडात्मक भौतिकवाद पर प्रकाशित मार्क्स, एंगेल्ज़ और लेनिन की रचनाएं उल्लेखनीय हैं। 'Dialectic Logic+' शीर्षक से प्रकाशित E.V. Lyenkov की पुस्तक दंडात्मक तर्कपद्धति के इतिहास और विकास को विवेचित करने वाली एक महत्वपूर्ण पुस्तिका है। प्लेखानोव, माओ, द्राट्स्की तथा अन्य विचारकों की पुस्तकों ने भी इस दिशा में मेरे ज्ञान में अभिवृद्धि की। महात्मा गांधी की 'स्वराज्य', जवाहर लाल नेहरू की 'भारत की खोज', 'विश्व इतिहास की झलक', 'बेटी के नाम लिखे गए पत्र' (Letters to his daughter), मौलाना आज़ाद की 'India win a freedom+' ने बेहद प्रभावित किया। गोलवल्कर की 'Bunch of Thoughts+' पढ़ी। लाला हरदयाल की 'Hints of self culture+' तथा जे. कृष्णामूर्ति की 'Freedom from the Unkown+' भी पढ़ीं।

फ़्रैडरिक एंगेल्स की एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'Dialectics of Nature+' मार्क्स की 'पूजी' और ऐतिहासिक-दंडात्मक भौतिकवाद पर मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई रचनाएं, लेनिन की चुनी हुई रचनाएं—विशेष रूप से 'Volume 38+' (Philosophical Note-Books) और 'Volume 14+' तथा 'State and Revolution+', J. Bronowski की 'The common sense of Science+', आइंस्टीन के सापेक्षवाद पर 'What is relativity (G. Venketraman)', ए. पद्मनाभन की 'The Story of Eight Saints Reformers+' (संत चोरवामेलॉ, नारायण गुरु, रामानुज, नंदनार, रविदास, रामलिंग, तिरुप्पनलवर, कबीर), खलील जिब्रान की 'The prophet+

तथा Between Night and Morn+, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'चिंतामणि', 'हिंदी साहित्य का इतिहास', 'भ्रमरगीत सार' (सूरदास द्वारा रचित भ्रमर गीतों का संकलन और शुक्ल जी की भूमिका), हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की कृति 'कवीर' और उनके चारों उपन्यास तथा निबंध संग्रह, डॉ. रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य साधना' (तीनों खंड), 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद'।

अर्नेस्ट फिशर की 'The Necessity of Art+ साहित्यालोचन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। फिशर इस पुस्तक में क्रिस्टल थ्योरी 'Crystal Theory+ की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार कला की भूमिका उस पारदर्शी शीशे की तरह है जो तस्वीर (Contents) को चमकाए तथा अपनी उपस्थिति को न जताए। गोर्की, तॉलस्ताय, प्रेमचंद, यशपाल, लुशुन का कथा साहित्य इसी सिद्धांत पर खरा उतरता है। भारतीय उपन्यासकार बंकिम और रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव का भी याद आना स्वाभाविक है।

गोर्की की कृति 'Mother+ और लुशुन की 'Wild Grass+ और 'Old Tales Retold+ मुझे बेहद पसंद हैं।

लियो तॉलस्ताय विश्व के महानतम उपन्यासकार हैं। 'War and Peace+ उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है जो युद्ध की व्यर्थता को रेखांकित करता है और विश्वशांति का पक्षधर है। इसकी तुलना 'महाभारत' से की जा सकती है। यद्यपि 'महाभारत' के ही एक अंश 'भगवद्गीता' में योगीराज भगवान कृष्ण अर्जुन को धर्मयुद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं तथापि 'महाभारत' का मूल संदेश युद्ध की व्यर्थता को ध्वनित करता है। तभी तो हम देखते हैं कि 'महाभारत' के अंत में कौरवों के विनाश के साथ ही पांडवों के पुत्र भी मारे जाते हैं; परिणति के रूप में 'वैराज्य' अथवा वैराग्य के स्वर गूंजते हैं और पांडव संन्यास लेने के लिए अभिशप्त हैं। तॉलस्ताय का दूसरा महान उपन्यास 'आन्ना कारेनिना' है। फ्रांस के कुछ आलोचकों की धारणा है कि इस उपन्यास पर महान फ्रांसीसी उपन्यासकार फ्लाबेयर की श्रेष्ठ कृति 'मैडम बावेरी' का प्रभाव है। दोनों उपन्यासों का अध्ययन करने के बाद कोई चाहे तो इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है। दोनों उपन्यास नारी की उच्छृंखल और विश्रृंखल

हो जाने की त्रासदी को उभारते हैं। तॉलस्ताय का तीसरा महान उपन्यास 'Resurrection+ है जो एक खलकामी पुरुष के हृदय परिवर्तन तथा अंतःकरण के शुद्धिकरण की कथा को (मो सो कौन कुटिल खल कामी?) अत्यंत रोचक, मार्मिक और विडंबनात्मक ढंग से चित्रित करता है।

द्वंदात्मक तर्क (Dialectical Logic) के इतिहास और विकास का विवेचन करने की दृष्टि से E.V.Ilyenkov की पुस्तक 'Dialectical Logic+ का उल्लेख करना ज़रूरी समझता हूं। जैसे इस विषय पर अन्य पुस्तकें भी महत्वपूर्ण हैं। इनमें एंगेल्स की पुस्तक 'Dialectics of Nature+ का मैं उल्लेख कर चुका हूँ। इस पुस्तक के एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय 'The Part played by Labour in the Transition from Ape to Man+ का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूंगा। वानर से मानव सभ्यता के विकास की कथा कोई पढ़ना चाहे तो वह अध्याय उसे ज़रूर पढ़ना चाहिए। जैसे पुस्तक संपूर्ण रूप में पठनीय है, इसमें संदेह नहीं। द्वंदात्मक तर्क-पद्धति पर हेगल की रचनाओं के बाद इस पुस्तक का महत्त्व सर्वोपरि है, ऐसी मेरी धारणा रही है।

MICHAEL H. HART के एक ग्रंथ का उल्लेख करना चाहूंगा। इस पुस्तक में एक सौ पुरुषों (इतिहास-पुरुषों) पर लेख हैं जिन्होंने विश्व-इतिहास तथा किसी एक भू-खंड के इतिहास को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा की हैं। हैरानी की बात यह है कि पुस्तक में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को शामिल नहीं किया गया। यह पुस्तक 556 पृष्ठों में फैली है और डिमाई से भी बड़े आकार की है। [Citadel Press, Kensington corp. 850 Third Avenue, New York द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित हुई] पुस्तक में महात्मा गांधी को शामिल न करने का कारण यह बताया गया है कि गांधी जी न होते तो भी भारत स्वतंत्र होता। यानी, गांधी (बापू) जी के योगदान को कम करके आंका गया है। मुहम्मद, क्राइस्ट, न्यूटन, महावीर, बुद्ध, कन्फ्यूशिस, सेंट पॉल, कोलम्बस, अशोक, तसाइलुन, आइंस्टीन, अरस्तू, डार्विन, कापरनिकस, जेम्स वाट, माइकेल फैराडे, मार्क्स, एडम स्मिथ, नेपोलियन, लेनिन, स्टालिन, वाल्टेयर, पीटर दि ग्रेट, हिटलर आदि को शामिल किया गया है। पुस्तक का लेखक

पश्चिम (Western) नज़रिए से ग्रस्त है। फिर भी किताब दिलचस्प और रोचक भी है। कुल मिलाकर, यह पुस्तक विश्व के ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और वैज्ञानिक विकास की विस्तृत झलक दे देती है।

क्रिस्टॉफर काडवेल ने अपनी अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक 'Illusion and Reality+ में कविता के आदि स्रोतों के बारे में गंभीर यथार्थवादी विवेचन प्रस्तुत किया है। कविता के मूल और उसकी प्रकृति का ऐसा विलक्षण और विचक्षण चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी दो अन्य पुस्तकों ('Studies in a Dying Culture+ और 'Further Studies in a Dying Culture+') में मार्क्सवादी साहित्यालोचन के उत्कृष्ट प्रतिमान उपलब्ध हैं। ये दोनों पुस्तकें कॉडवेल की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। पहली पुस्तक में बर्नार्ड शॉ, टी. ई. लारेंस, डी. एच. लारेंस, एच. जी. वैल्ज़, सिगमंड फ्रायड पर समीक्षात्मक निबंध हैं तथा प्रेम, अहिंसा, स्वतंत्रता (Liberty) आदि विषयों पर कॉडवेल का मौलिक चिंतन मुखर हो उठा है। दूसरे खंड (पुस्तक) में बूर्जवा सौंदर्यशास्त्र, इतिहास, चेतना और मनोविज्ञान की आलोचना है। हिंदी में गजानन माधव मुक्तिबोध की 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' और 'नई कविता का सौंदर्यशास्त्र' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों पर कॉडवेल का प्रभाव प्रतीत होता है। मुक्तिबोध हिंदी के एक उत्कृष्ट कवि और आलोचक थे।

कॉडवेल ने बर्नार्ड शा पर अपनी उपर्युक्त पुस्तक ('Studies in a Dying Culture+') में एक सुंदर निबंध लिखा था। बर्नार्ड शॉ का एक नाटक 'Apple cart+ मुझे बेहद पसंद है जिसमें ब्रिटिश राजतंत्र और लोकतंत्र का मज़ाक उड़ाया गया है तथा ब्रिटेन को यू. एस. ए. का पिछलग्गू बताया गया है। इसी प्रसंग में अमरीकी नाटककार सेमुअल विल्केट की कृति 'Waiting for Godo+ की भी याद आ गई है। इस कृति का एक पात्र 'Pozo+ मुझे कभी नहीं भूलता। उसके सिर पर हेट रख दो तो वह संसार भर की सूचनाओं का अंबार उगलता है, और हेट हटा दो तो वह ऐसे हो जाता है मानो गूंगा और बहरा हो। पूंजीवादी उपभोक्तावाद की गंभीर-गहन आलोचना वाल्टर बेंजामिन ने अपनी अद्भुत और विलक्षण टिप्पणियों के महा संकलन 'पेरिस आर्केड' में की है। ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा। शायद

उसका शीर्षक 'शापिंग आर्केड' हो। यह ग्रंथ भी आधुनिक पाठकों के लिए पठनीय है। वाल्टर बैजॉमिन की धारणा थी कि मानव सभ्यता के प्रत्येक सोपान पर बर्बरता और क्रूरता का आख्यान लिखा है। यह सारगर्भित और बेबाक निष्कर्ष है।

नॉम चोम्स्की भाषा, भाषाशास्त्र, दर्शन और आधुनिक राजनीति आदि विषयों पर अपने मौलिक विचारों के लिए विश्व भर में विख्यात हैं। अमरीकी नागरिक होते हुए भी वे अमरीका की थानेदारी को चुनौती देते हैं और संकीर्ण तथा अंध देशभक्ति के दायरे से बाहर आकर यू. एस. ए. की विदेश नीतियों की (विश्व-जनता के हित में) तीखी आलोचना करते हैं। इस प्रसंग में उनकी पुस्तक 'Power and Prospects+' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह पुस्तक माध्यम बुक्स, दिल्ली द्वारा प्लूटो प्रेस, लंदन के सहयोग से विशेष प्रबंध-व्यवस्था के अधीन वर्ष 1996 में प्रकाशित हुई थी।

पेंग्विन (The Penguin) द्वारा कुछ विषयों पर संकल्पनात्मक कोशों (Conceptual Dictionaries) का उल्लेख करना भी जरूरी लग रहा है। इनमें Dictionary of Physics, Dictionary of Mathematics, Dictionary of Psychology तथा Dictionary of Literary Terms and Literary Theory आदि ऐसे कोष हैं जिन्हें संबंधित विषयों पर ज्ञानवर्धक जानकारी के लिए कभी-कभार उलट-पलट लेना लाभकारी रहता है। इसी संदर्भ में Progress publishers, Moscow द्वारा प्रकाशित 'A Dictionary of Scientific Communism+' तथा 'Dictionary of Philosophy+' की याद आना स्वाभाविक है।

ये सभी कोश अपने-अपने विषय के उपयोगी संदर्भ-ग्रंथ हैं। जिन्हें मैं समय-समय पर उलटता-पलटता रहा हूँ। मनोवैज्ञानिक पावलोव, मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन, माओ तथा हो-ची मिन्ह की चुनी हुई रचनाएं भी मेरे लिए संदर्भ-ग्रंथों का कार्य करती रही हैं।

जीवनी के रूप में इर्विन स्टोन की 'लस्ट फॉर लाइफ' दिमाग पर छाई रही है। प्रसिद्ध पेंटर वैन गॉग के जीवन पर आधारित यह पुस्तक उपन्यास की तरह लिखी गई है। इसी लेखक की कृति 'एगानी एंड एक्सटैसी' ('Agony and Ecstasy+') पेंटर माइकेल एंजेलो के जीवन पर आधारित है और उसी अंदाज़ में

लिखी गई है। हिंदी में अमृतराय की कृति 'कलम का सिपाही' (प्रेमचंद की जीवनी), विष्णु प्रभाकर की कृति 'आवारा मसीहा' (शरत् की जीवनी) तथा डॉ. रामविलास शर्मा की कृति 'निराला की साहित्य साधना-प्रथम खंड' (निराला की जीवनी) इसी तरह की किताबें हैं। 'निराला की साहित्य साधना' के तीनों खंड मिलकर एक ऐसे विस्तृत ग्रंथ का आकार-प्रकार ले लेते हैं जो विश्व में अपने ढंग के अद्वितीय प्रयास की मिसाल हैं। Little Brown, New York, Boston & London द्वारा हाल ही में 'LOVE & CAPITAL कार्ल मार्क्स और उनकी पत्नी की जीवनी तथा मार्क्स-एंगेल्स के कृतित्व पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण किताब है। इसकी लेखिका MARY GABRIEL है। इसने मार्क्स की समकालीन परिस्थितियों का सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक चित्रण किया है जो अत्यंत प्रामाणिक, शोधपूर्ण और सर्जनात्मक प्रयास का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। लेखिका साम्यवादी नहीं है लेकिन निष्पक्षता का निर्वाह करती है।

अमृत लाल नागर ने तुलसीदास और सूरदास के जीवन पर आधारित दो ऐसे उपन्यास लिखे जो शोधपूर्ण और प्रामाणिक जीवनीयों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। 'मानस का हंस' तुलसीदास की जीवनी है और 'खंजन नयन' सूरदास की। दोनों कृतियों में उपन्यास और जीवनी—दोनों का अद्भुत सामंजस्य है। अमृतराय की कृति 'कलम का सिपाही' भी ऐसी ही कृति है जिसमें जीवनी और उपन्यास का विलक्षण सामंजस्य है। अमृत राय के अनुवाद मूल कृतियों का मज़ा देते हैं। इन्होंने हावर्ड फास्ट के 'स्पार्टेकस' का 'आदि विद्रोही' और 'माई ग्लोरियस ब्रदर्स' का 'समर गाथा' शीर्षक से अनुवाद किया। अस्त्रावस्की के उपन्यास 'How the Steel was Tempered+' का 'अग्निदीक्षा' नामक अमृत राय का अनुवाद भी इसी कोटि का है। अमृत राय ने बर्तोल ब्रेख्त की नाटिकाओं के भी अनुवाद किए हैं। प्रेमचंद (इनके पिता) हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कथाकार थे तो अमृत राय एक कथाकार, जीवनीकार, निबंधकार होने के अतिरिक्त एक श्रेष्ठ अनुवादक थे। भीष्म साहनी भी एक श्रेष्ठ कथाकार होने के साथ-साथ एक श्रेष्ठ अनुवादक थे। बच्चन ने उमर खैयाम की रुबाइयों के उत्कृष्ट अनुवाद किए। इन्होंने शेक्सपियर के

नाटकों के भी अच्छे अनुवाद किए। शरत् की श्रेष्ठ जीवनी 'आवारा मसीहा' के प्रसिद्ध लेखक विष्णु प्रभाकर ने भी कई कृतियों के सहज-सरल तथा पठनीय अनुवाद किए हैं।

इस संक्षिप्त लेख में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों/ग्रंथों के उल्लेख छूट गए हैं। कोई भी मानवीय प्रयास संपूर्ण नहीं हो सकता। मेरा यह प्रयास भी आधा-अधूरा है। काफ़ी-कुछ स्मृतियों के आधार पर लिखा है अतः त्रुटियों और खामियों का रह जाना स्वाभाविक है। समापन करते-करते कुछ कृतियां याद आ रही हैं। उदाहरण के लिए ज़ोला के यथार्थवादी उपन्यास 'जर्मिनल' की चर्चा नहीं हो पाई जिसका समकालीन कथाकार और संपादक द्रोणवीर कोहली ने एक उत्कृष्ट अनुवाद प्रस्तुत किया। एलैक्जेंडर कुप्रिन का 'यामा द पिट' ('Yama the Pit+') एक प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यास है जो वेश्याओं के विवश जीवन की दारुण और करुण कथा कहता है। Vladimir Nobokov का उपन्यास 'LOLITA+' (लोलिता) एक अर्धे अंग्रेज़ और बारह वर्षीय बाल युवती के रोमांस व प्रेम की कहानी पर आधारित है।

पश्चिमी दुनिया की महत्त्वपूर्ण पांच पुस्तकों के उल्लेख के साथ इस लेख का समापन करना उपयुक्त होगा। ये पुस्तकें आने वाली शताब्दियों में भी वाद-विवाद का विषय बनी रहेंगी। विवादास्पद होते हुए भी प्रासंगिक रहेंगी। इनका नाम लेकर ही लेख का समापन कर रहा हूँ।

PLATO (प्लेटो) की 'Republic+' (रिपब्लिक), Rousseau (रूसो) की 'The Social Contract+' (द सोशल कंट्रैक्ट), MARX (मार्क्स) की 'Capital+' (कैपिटल), DARWIN (डार्विन) की 'The Origin of Species+' (ओरिजिन आफ् स्पीशज) और FREUD (फ्रायड) की 'Psychoanalysis+' (साइकोएनेलिसिस)। ज़रा सोचें और कल्पना करें कि ये किताबें अगर आज न होतीं तो दुनिया कैसी होती? व्यक्ति और समाज को सच्चे अर्थों में इन्होंने आधुनिक बनाया, आमूल-चूल बदला; इन किताबों ने पुरानी दुनिया को नई दुनिया में रूपांतरित और गुणांतरित कर दिया।

122, दिन अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4, प्लाट नं. 7, नई दिल्ली-110075

बिंब-प्रतिबिंब : विवेकानंद पर एक जीवंत उपन्यास

सुभाष शर्मा

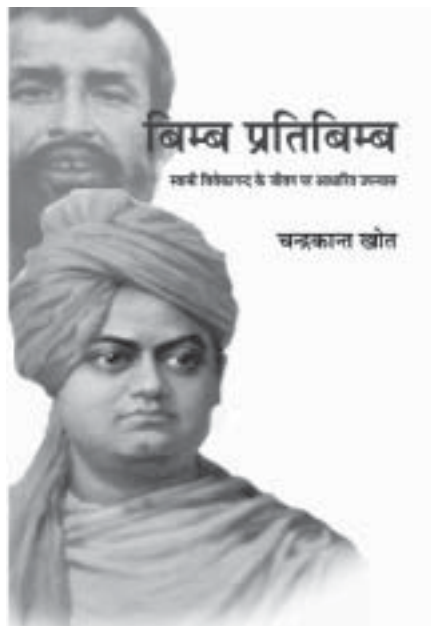
वि

विवेकानंद पर भारतीय ज्ञानपीठ से एक नया उपन्यास प्रकाशित हुआ है 'बिंब : प्रतिबिंब' जिसके लेखक हैं मराठी के

उपन्यासकार चंद्रकांत खोत और हिंदी अनुवादक हैं रमेश यादव। यह आत्मकथात्मक ('मैं') शैली में लिखा गया है। यहां बिंब उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस हैं और प्रतिबिंब स्वयं विवेकानंद। बिंब और प्रतिबिंब स्वच्छ पानी या आईने में ही दिखता है। विवेकानंद एक ऐसे महापुरुष थे जो कम आयु (39 वर्ष 5 माह 22 दिन) में ही चल बसे मगर दुनिया को, हिंदू धर्म को और भारतीय राष्ट्र को, ऐसा बहुत कुछ दे गए, जो अनमोल है। इस उपन्यास की शुरुआत विवेकानंद के माध्यम से इस प्रकार होती है : "मैं हूँ एक बंगाली बाबू। हम बंगालियों की एक खास विशेषता है—आलसी स्वभाव। मैं भी आलसी हूँ। यह आलस आड़े आता है और काम बिगाड़ देता है।" यदि कोई दूसरा बंगालियों के बारे में ऐसा कहे, तो वे नाराज हो जाएंगे क्योंकि उनमें स्वाभिमान, मातृभाषा प्रेम और रवींद्र संगीत प्रेम काफी है। वे मानते हैं कि जो बंगाल आज सोचता है, उसे भारत कल सोचता है। खैर...जब उनके स्कॉटिश चर्च कॉलेज के एक शिक्षक सह प्राचार्य (विलियम हेस्टी) वर्ड्सवर्थ की कविता 'एक्सकर्सन' पढ़ा रहे थे, तो उन्होंने उस विरल अनुभूति के बारे में रामकृष्ण परमहंस की चर्चा की और कहा कि यदि तुम दक्षिणेश्वर (रामकृष्ण का मठ) जाओ, तो इसे महसूस कर सकते हो। और विवेकानंद अपने मित्र सुरेंद्र नाथ मित्र के साथ दक्षिणेश्वर चले गए। उन्होंने एक भजन गाया जो रामकृष्ण परमहंस को बहुत पसंद आया। ('मन चलो निज निकेतने')। रामकृष्ण जी भाव-विभोर हो गए और विवेकानंद को दुबारा आने के लिए कहा। जब वह 19 वर्ष के थे, तो उनके पिता

ने पूछा कि बड़े होकर क्या बनोगे? उन्होंने जवाब दिया था—बग्गी चलाने वाला कोचमैन बनूंगा। उनके पिताजी कुछ नाराज हुए थे क्योंकि वह एक नामी वकील थे।

विवेकानंद ने कई धर्मगुरुओं, पुजारियों, साधु-संतों से पूछा था कि क्या उन्हें ईश्वर का दर्शन हुआ मगर कोई सीधा उत्तर नहीं दे सका, अस्तु वह नास्तिक बनने लगे। एक दिन रामकृष्ण ने ऐसे सवाल पर कहा था—'साला! तुम मेरी काली माता को नहीं मानते हो तो फिर यहां क्यों आते हो?' विवेकानंद ने जवाब दिया था—'मैं काली के लिए, आपके लिए आता हूँ।' (पृ. 31) बाद में वह एक कीर्तन कार्यक्रम में शामिल हुए जहां स्वामी हरदास जी ने बताया कि हनुमान को केले पसंद थे और वह केले के बगीचे में रहते हैं। अस्तु कार्यक्रम के बाद विवेकानंद केले के बगीचे में गए और देर रात तक हनुमान की प्रतीक्षा करने लगे। घर पर सब परेशान थे। पूरी बात जानकर उनकी मां ने कहा—'बेटे, तुम बुरा मत मानो...बिले, आज हनुमान जी



श्रीरामचंद्र जी के किसी कार्यवश दूसरी ओर चले गए होंगे, पर एक न एक दिन वे तुझे अवश्य मिलेंगे।" (पृ. 33) मगर 25 फरवरी 1881 को उनके पिता विश्वनाथ दत्त का निधन हो जाने से घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई।

बचपन से ही विवेकानंद व्यायाम के शौकीन थे और कहते थे—'व्यायाम की तुलना में भगवद्गीता को रटना क्षुद्रता है।' (पृ. 35) रामकृष्ण जी को एक साधना के दौरान भैरवीजी ने युवा स्त्री को नग्न करके उसके पैरों पर बैठकर जप करने का आदेश दिया। क्षण भर में वह समाधिस्थ हो गए। उस पर भैरवीजी ने उन्हें सिद्ध मान लिया। कालांतर में रामकृष्णजी को कैंसर हो गया। चिकित्सक ने उनके जख्मों को धोया और उसमें से निकला रक्त और मवाद एक कांच के बर्तन में रख दिया। अचानक विवेकानंद उठे और जुनून में उसे पी गए! एक बार लेखक बंकिम चंद्र ने स्वामी रामकृष्ण से खोद-खोदकर कई प्रश्न किए और उन्होंने जवाब भी दिए और कहा—'तुम्हारा केवल नाम ही बंकिम नहीं है, स्वभाव से भी तुम बंकिम हो।' (पृ. 13) एक बार अलवर में विवेकानंद से किसी ने पूछा कि भगवा वस्त्र क्यों धारण करते हैं। उन्होंने सटीक जवाब दिया—'मैं स्वयं भिक्षा मांगकर जीवन-यापन करता हूँ। यदि किसी ने कुछ मांग लिया तो देना मैं अपना फर्ज मानता हूँ। भगवा वस्त्र पहन लेने से भिक्षुक भी मुझसे नहीं मांगता, फिर अन्य लोगों की बात ही छोड़ दो।' (पृ. 133)

फिर 11 सितंबर 1893 को शिकागो के धर्म परिषद् में जब विवेकानंद ने संबोधित किया—'अमेरिका के मेरे भाइयो और बहनो,' तो तालियों की गड़गड़ाहट से पूरे विश्व ने उन्हें समर्थन दिया। उन्हें अपने गुरु रामकृष्ण की दो बातें सदा याद रहती थीं—'धर्म खाली पेट के लोगों के लिए नहीं है।'; 'पंचाग में

लिखा होता है कि बीस इंच तक बरसात होगी, किंतु इसी पंचांग को निचोड़ने पर एक बूंद भी पानी नहीं टपकता।' विवेकानंद ने कहा है कि उन्हें हिंदू धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाला पहला अहिंदू मिला था, हैदराबाद के निजाम खुर्शीद जंग बहादुर के रूप में। उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सीलोन के सभी बौद्ध मांसाहारी हैं, पुजारी मात्र शाकाहारी हैं। जब वह जापान के नागासाकी शहर में एक बौद्ध मंदिर में गए, तो उन्हें बंगाली लिपि में लिखे संस्कृत वचन पढ़ने को मिले। वह उससे खुश हुए और 10 जुलाई 1893 को उन्होंने अपने अनुयायी आलसिंगा पेरुमल (मद्रास) को पत्र लिखा—“...अपने देश के तमाम युवाओं को एक बार जापान अवश्य आना चाहिए...लगभग सारा जीवन हम बड़बड़ाने और बोलने में व्यर्थ कर देते हैं। यहां आएँ और लोगों को देखें, फिर शर्म से सिर झुक जाएगा।” (पृ. 178) ज्ञातव्य है कि सर्व-धर्म-परिषद् में भाग लेने के लिए विवेकानंद के पास कोई परिचय पत्र नहीं था मगर हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रो. जान हेनरी राइट ने अनौपचारिक मुलाकात में उनसे प्रभावित होकर कहा—“स्वामीजी! आपसे परिचय-पत्र पूछने का अर्थ है उस दैदीप्यमान सूरज को पूछना कि तुम्हें प्रकाशमान होने का क्या अधिकार है?” (पृ. 181) दूसरी ओर जब वह शिकागो रेलवे स्टेशन पर किसी होटल का पता पूछ रहे थे, तो एक श्वेत पुरुष ने उन्हें नीग्रो समझकर उनके ऊपर थूक दिया।

खैर...विवेकानंद ने ‘कठोपनिषद्’ के आप्त वचन ‘उत्तिष्ठ, जाग्रह, वरान्निबोधत’ को तन-मन से अपनाया था (उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्त होने तक कर्म करते रहो) उन्होंने सर्वधर्म परिषद् में कहा था जैसे नाना प्रकार के सोते, विभिन्न स्रोतों के बावजूद, समुद्र में मिलते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों द्वारा चुने विभिन्न रास्ते अलग दिखकर भी अंततः ईश्वर तक ले जाते हैं। 17 दिन तक चले सत्र (सर्वधर्म परिषद्) में निष्कर्ष निकला—“गैर-ईसाई धर्मों को हीन करार देना यही सर्वधर्म परिषद् का मुख्य उद्देश्य था, किंतु हुआ ठीक इसके विपरीत। गैर-ईसाई धर्म ही श्रेष्ठ साबित हुए। ईसाई धर्म हीन सिद्ध हुआ। अब यही देख लें, जब पेरिस में दूसरी धर्म परिषद् की बात चली, तो रोमन कैथोलिकों ने इसका विरोध किया। शिकागो

की धर्म परिषद् ने वेदांत के प्रचार-प्रसार में सहायता की और अब वेदांत की बाढ़ के प्रभाव से सारा जग घिर गया...” (पृ. 210) उन्होंने इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि बताई थी—मिस मागरेट नोबल। जो बाद में सिस्टर निवेदिता हुई, से मुलाकात : “...यूरोप की बेशुमार दौलत से एक अनमोल नगीना सिस्टर निवेदिता के रूप में हिंदुस्तान को मिला जिसने आजीवन यहाँ दीन-दुखियों की सेवा की, असहाय महिलाओं के आंसू पोंछे और स्त्री शिक्षा का अलख जगाया।” (पृ. 211)

एक दिन विवेकानंद अपने अध्ययनकक्ष में बैठे हुए पढ़ रहे थे। पीछे से कोई आकर खड़ा हो गया। उन्होंने बिना पीछे मुड़कर देखे कहा—“आपने जो बेशुमार धन कमाया है, वह आपका कभी नहीं था। ईश्वर ने आपको सिर्फ माध्यम बनाया है, ताकि अच्छा कार्य करने का सुनहरा अवसर आपको प्राप्त हो। इस कार्य के लिए ईश्वर ने आपको चुना है।” (पृ. 211) वह अमीर जॉन डी. रॉकफेलर थे और नाराज होकर कमरे से बाहर निकल गए। मगर एक सप्ताह के बाद वह पुनः उस कमरे में गए और विवेकानंद को कुछ कागजात दिखाए जिसमें उनके जीवन का पहला बड़ा दान था। आज उनके नाम पर छात्रवृत्ति काफी प्रसिद्ध है। विवेकानंद ने कहा कि “भारतवर्ष मृत्युंजय है, इसका विनाश संभव नहीं है। जब तक राष्ट्रीय जीवन का मूलाधार ‘धर्मभाव’ रहेगा, तब तक भारतवर्ष इसी तरह विराजित रहेगा।” (पृ. 255) मगर वह यह भी कहते थे कि पहले इंग्लैंड भ्रमण के दौरान उन्हें तीन रत्न मिले : मागरेट नोबल (निवेदिता), मिस्टर स्टर्डी और मिस मूलर। दूसरे भ्रमण में सेवियर दम्पति मिले। इसके अलावा वह प्रो. मैक्समूलर से अत्यंत प्रभावित थे। उन्हें ऋग्वेद को हस्तलिखित बनाने में 25 वर्ष लगे और छपाई में बीस वर्ष लगे। इसकी छपाई के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने नौ लाख नगद दिए थे। तब भी कपड़े कम पड़े गए थे।

विवेकानंद मानते थे कि प्रत्येक धर्म के तीन भाग होते हैं : तत्त्वज्ञानात्मक (सार) पौराणिक कथानक (विवरण) तथा अनुष्ठानात्मक (कर्मकांड)। जाहिर है, वह पहले भाग को सबसे महत्वपूर्ण मानते थे। विवेकानंद स्वच्छंद प्रवृत्ति के थे। तभी तो एक बार जब उनका जहाज एडन में रुका, तो वह शहर घूमने गए

और एक हिंदुस्तानी पान विक्रेता को देखा जो हुक्का पी रहा था। उन्होंने उससे हुक्का मांगा और भकाभक कश खींचने लगे। उन्होंने महज तेईस साल की उम्र में ‘संगी कल्पतरु’ नामक पुस्तक लिखी जिससे प्रकाशक (बसाक बंधु) को व्यावसायिक फायदा हुआ। इसमें प्राचीन बांग्ला गीत के अलावा बंकिम, गिरीश घोष और रवींद्रनाथ ठाकुर के भी गीत हैं और विवेकानंद ने 90 पृष्ठों की प्रस्तावना लिखी। वह मानते थे कि आध्यात्मिक विकास के लिए पुस्तकीय अध्ययन उपयोगी सिद्ध नहीं होते। इसके लिए आत्मजागृति जरूरी है। उनके अनुसार “बीज का सजीव होना जरूरी है और जमीन भी उपजाऊ होनी चाहिए।” (पृ. 327) उसके आगे वह स्पष्ट करते हैं : “धर्म का अस्तित्व अनुराग में होता है, अनुष्ठान में नहीं। हृदय के पवित्र और निष्कपट प्रेम में ही धर्म का अनुष्ठान मौजूद होता है। यदि देह और मन शुद्ध नहीं होगा, तो मंदिर में जाकर शिवपूजा करना व्यर्थ है।” (पृ. 337)

अपने अमेरिका प्रवास के बारे में विवेकानंद का विचार था कि ‘मिशनरी’ और ‘चर्च वीमेन’ को छोड़कर शेष अमेरिकावासी मिलनसार, आतिथ्यशील, दयालु, उदार और अच्छे स्वभाव के हैं। जब कोई अमेरिकी स्त्री समुद्र किनारे हवा खाने के स्थान पर पुरुषों को फांसने की कोशिश करती है मगर असफल हो जाती है, तब वह किसी चर्च की सदस्य बन जाती है जहां उन्हें ‘ओल्ड मेड’ कहा जाता है। इनमें से कुछ चर्च की कट्टर समर्थक बन जाती हैं, उन्हें ‘चर्च वीमेन’ कहते हैं। वे पादरियों की मुट्ठी में होती हैं : “ये पादरी और चर्च वीमेन दोनों मिलकर पृथ्वी को नरक बनाते हैं और धर्म का सूफड़ा साफ करते हैं।” (पृ. 343)

वह विभिन्न धर्मों की तुलना करते हैं : “ईसाई धर्म के बारे में विचार करते समय ईसा मसीह को अलग नहीं किया जा सकता। इस्लाम के बारे में चर्चा करते समय मोहम्मद पैगम्बर को हम अलग नहीं कर पाते हैं। इसी तरह बौद्ध धर्म भी बुद्ध के बिना समझ में नहीं आता है। किंतु हिंदू धर्म एकमात्र ऐसा धर्म है जिसकी चर्चा करते समय कोई एक विशेष व्यक्ति आंखों के सामने नहीं आता है। यहां पर लोगों की मान्यताएं अलग-अलग हैं।” (पृ. 343) वह जोर देकर कहते थे कि

सर्वसाधारण लोगों ने ही महान कार्य किए हैं। इसलिए इतिहास की पुनरावृत्ति हमें करनी चाहिए। वह मानते थे कि हर व्यक्ति की तरह हर राष्ट्र का भी एक विशिष्ट भाव होता है, विशिष्ट संस्कृति होती है और उसी के अनुरूप वहां के लोग अपने आपको ढालते हैं। अंग्रेजों के चरित्र में वाणिज्यवृत्ति और लेन-देन की भावना होती है जबकि हिंदुओं में पारमार्थिक स्वाधीनता बड़ी बात है : “हिंदू धर्मावलंबी चिथड़ों में हीरा छिपाकर रखते हैं। पश्चिम के लोग सोने की डिबिया में मिट्टी रखते हैं। हिंदू आंतरिक सफाई कर रहे हैं तो पश्चिम वाले बाहरी सफाई में लगे हैं।” (पृ. 452) उन्होंने स्पष्ट किया है कि वेदों में यह कहीं नहीं लिखा गया है कि वेद अध्ययन का अधिकार सभी को नहीं है। भागवत के अनुसार अवधूत ने चौबीस गुरु किए जिनमें से एक चील पक्षी भी है जिससे सीख मिलती है कि जब तक भोगवासना है, तब तक कर्म के साथ चिंता और माया भी रहेगी। वासना के त्याग से शांति प्राप्त होती है। इस उपन्यास का अंत इस प्रकार होता है :

‘मैं बनता हूँ राम,...तुम बनो हनुमान।
मैं बनता हूँ कृष्ण,...तुम बनो पार्थ।
मैं बनता हूँ छाया,...तुम बनो चित्र।
... ..
मैं बनता हूँ बिंदु,...तुम बनो सिंधु।
मैं बनता हूँ बिंब,...तुम बनो प्रतिबिंब।।’
(पृ. 544)

यह उपन्यास (मूल तथा अनुवाद दोनों) सहज भाषा में लिखे जाने के कारण पठनीय हैं और विवेकानंद जैसे महापुरुष पर शोधपरक ढंग से लिखा गया है। अस्तु, यह संग्रहणीय भी है। मगर प्रूफ की कई अशुद्धियाँ (ध्यानस्त, अंजानी, अनेकों, अमेरिकनवासियों, अगाढ़, शुभकमना, अट्टाहास) भारतीय ज्ञानपीठ जैसे बड़े प्रकाशक के लिए क्षम्य नहीं हैं। मगर पुस्तक का आवरण, छपाई, कागज आदि उत्तम कोटि का है। आशा है, इस उपन्यास का मराठी साहित्य की तरह हिंदी जगत में भी स्वागत होगा।

बिंब-प्रतिबिंब/ चंद्रकांत खोत/ अनु. : रमेश यादव, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ` 550

प्रिंसिपल सचिव, श्रमविभाग, बिहार सरकार, पटना-800001

उपन्यास

हाशिए से संवाद की एक बेचैन

प्रेमकथा

सुंदरम् शांडिल्य

हिं

दी उपन्यास के जनतंत्र में देश के पूर्वोत्तर की उपस्थिति कोई नई परिघटना नहीं है। आजादी के बाद देश के सुदूर पिछड़े अंचलों के जीवन को उपन्यास का विषय बनाने का जो चलन हुआ, उसमें पूर्वोत्तर राज्य असम को पहली बार देवेन्द्र सत्यार्थी के ‘ब्रह्मपुत्र’ (1956) में स्थान मिला, वहीं बाद में अस्तित्व में आए अन्य पूर्वोत्तर राज्य लंबे समय तक हिंदी कथाकारों के लिए अपरिचित एवं अलक्षित रहे। यह कोई संयोग नहीं, केंद्र की उन गलत व उपेक्षापूर्ण नीतियों का प्रभाव-परिणाम था जिसके कारण अपनी निजता, संप्रभुता एवं विविधता के लिए समूची भारतीय संस्कृति में विशिष्ट, सेवेन सिस्टर्स के नाम से मशहूर देश के पूर्वोत्तर राज्य सदैव भारतीय राष्ट्र-राज्य के हाशिए पर रहे। जिस तरह मनमाने ढंग से पूर्वोत्तर राज्यों को भारतीय संघ में शामिल कर चप्पे-चप्पे पर फौज तैनात की गई, उसने न केवल इस क्षेत्र के जीवन को असामान्य व तनावग्रस्त बनाया वरन् केंद्र के प्रति अविश्वास, असंतोष एवं नफरत की गहरी खाई पैदा की, आगे चलकर जिसने सशस्त्र विद्रोह का रूप धारण कर लिया। देश की मुख्यधारा से बहिष्कृत तथा अपने अस्तित्व, अस्मिता एवं अधिकारों के लिए संघर्षरत पूर्वोत्तर की आवाज को विगत डेढ़ दशक में आए हिंदी उपन्यासों में पूरी शिद्दत से सुना जा सकता है। अलग-अलग दृष्टिकोण से लिखे इन उपन्यासों में पूर्वोत्तर भारत का इतिहास, भूगोल, समाज, संस्कृति, राजनीति, जातीय जीवन तथा स्थानीय राग-रंग जितने प्रामाणिक एवं यथार्थपरक ढंग से दर्ज हुआ है, वह इन्हें यथार्थवादी आख्यान के रूप में

समादृत करता है। इनमें त्रिपुरा एवं अरुणाचल प्रदेश के अलावा प्रायः सभी पूर्वोत्तर राज्यों को उचित प्रतिनिधित्व मिला है—श्रीप्रकाश मिश्र के ‘जहां बांस फूलते हैं’ (1997) में मिजोरम, ‘रूपतिल्ली की कथा’ (2005) में मेघालय, लाल बहादुर वर्मा के ‘उत्तर पूर्व’ (2002) और श्रीधर पांडेय के ‘आहुति’ (2008) में मणिपुर, महेंद्रनाथ दुबे के ‘मुक्ति’ (1999) और प्रमोद कुमार तिवारी के ‘उपफ’ (2009) में असम। इस कड़ी में प्रदीप सौरभ का तीसरा उपन्यास ‘देश भीतर देश’ (2012) असम को आधार बनाकर समूचे पूर्वोत्तर की आवाज को व्यापक फलक पर उठाता है। उपन्यासों की यह फेहरिस्त, जिसमें नागालैंड पर केंद्रित श्रीप्रकाश मिश्र का ‘सूरज का आखेट’ (2013) नया शामिल हुआ है,



देखने के बाद वरिष्ठ आलोचक सुधीश पचौरी के बयान पर ताज्जुब होता है कि 'पूर्वोत्तर हिंदी में विषय कभी नहीं बना।'

'देश भीतर देश' में पूर्वोत्तर का संपूर्ण परिदृश्य उत्तर भारतीय युवा विनय की उतार-चढ़ाव भरी जिंदगी के मार्फत सामने आता है। कस्बाई शहर इलाहाबाद से इंजीनियरिंग की पढ़ाई के बाद विनय दिल्ली में एक बड़ी इंपोर्ट-एक्सपोर्ट व कंस्ट्रक्शन कंपनी की ओर से तीन साल की ट्रेनिंग पर असम की राजधानी गुवाहाटी जा रहा है। असम के बारे में अजूबों से भरा उसका कुल अर्जित ज्ञान दिल्ली के प्रगति मैदान में लगने वाली प्रदर्शनियों, पर्यटन की किताबों एवं अखबारों के जरिए हासिल अधकचरी जानकारियों तक ही सीमित है। नगा, कुकी, खासी, मिजो जैसे भूमिगत विद्रोहियों की उसे न कोई जानकारी है, न बोडो आंदोलन से वह वाकिफ है। असम के जनजीवन एवं वातावरण को लेकर उसके मन में अपने रोमांटिक कवि स्वभाव के अनुरूप सपने और आशंकाएं दोनों हैं। उसे लगता है कि वह एक ऐसी दुनिया में जा रहा है जो दिल्ली और देश के अन्य हिस्सों से एकदम जुदा है लेकिन गुवाहाटी पहुंचकर उसका भ्रम टूटता है। यह हाल अकेले विनय का नहीं है, चिकेन नेक के इस पार के सभी लोग पूर्वोत्तर के बारे में दूर की कौड़ी जैसा ही सोचते हैं। पूर्वोत्तरवासियों को उनकी शकल-सूरत, बोली-भाषा, वेशभूषा के चलते चिंकी (चीनी) समझा जाता है। कुछ की नजर में वे नेपाली हैं तो अन्य की दृष्टि में बर्मी या मंगोलियन। सवाल है कि जब बुनियाद में ही विदेशी होने की गंध है तो वहां के बारे में जानने की, उन्हें अपना बनाने की दिलचस्पी या कोशिश कैसे होगी?

गुवाहाटी ऑफिस में विनय की मुलाकात असमिया बाला मिल्की डेका से होती है। सुंदर, शांत, सौम्य, मेहनती और महत्वाकांक्षी मिल्की का अंतर्मुखी होने के कारण शुरू में विनय से कोई संवाद नहीं होता पर 'लाहे लाहे' (धीमी गति से) काम करने वाले असमिया लोगों के बीच उसे हर वक्त काम में जुटा देख प्रभावित होती है। किराये पर घर दिलाने से लेकर ऑफिस तक वह विनय की हर संभव मदद करती

है। मिल्की के संसर्ग में विनय असमिया बोलना सीखता है, असमिया गीत-संगीत व कला में उसकी दिलचस्पी बढ़ती है और दोनों एक-दूसरे के निकट आते हैं। इसी बीच विनय की दोस्ती मिल्की के चचेरे भाई बुलबुल हजारीका से होती है, जो असम ट्रिब्यून में पत्रकार है और उल्फा की समर्थक ओवरग्राउंड संस्था मानव संघर्ष समिति का सदस्य है। उसके सम्पर्क में आने के बाद विनय 'सादिन असम' की मांग में निहित तर्कों से सहमत होकर उल्फा के लिए कोरियर का काम करता है। इलाहाबाद के दिनों में नक्सल समर्थक का बैकग्राउंड होने की वजह से वह उल्फा की लड़ाई को गलत नहीं मानता। असम में रहते हुए वह देखता है कि बाहर से आने वाला हर शख्स यहां से कमाता है और लगाता कुछ नहीं। असम के विकास के लिए केंद्र सरकार प्रतिवर्ष अरबों रुपये देती है लेकिन सारे पैसे सुरक्षा बलों पर खर्च होते हैं जिन्होंने उल्टे असमवासियों की सुख-शांति छीन ली है; और जो बचता है उसे असम में रहने वाले सरकारी एजेंट एवं सुरक्षा एजेंसियां लूट लेती हैं। ब्रह्मपुत्र नदी की बाढ़ से सैंकड़ों बेगुनाह लोग हर साल मरते हैं लेकिन बाढ़ प्रबंधन के लिए बने ब्रह्मपुत्र बोर्ड को केंद्र से फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती है। यहां के लोग विकास के लाभों से ही नहीं, शिक्षा से भी वंचित हैं। युवा बेरोजगार हैं और लड़कियां गरीबी व भुखमरी के कारण जिस्मफरोशी के धंधे में धकेल दी गई हैं। केंद्र की भेदभावपूर्ण नीतियों एवं व्यवहार से उपजे ये भीषण हालात विनय को भीतर तक विचलित करते हैं और वह असम के लोगों की हर लड़ाई में शामिल हो जाता है। असमिया आचार-विचार, साहित्य-संस्कृति और जीवन-शैली को अपनाकर वह असमिया भूमिपुत्र बनता है, तब जाकर मिल्की उसे जीवनसाथी के रूप में अपनाती है। ट्रेनिंग खत्म होते ही विनय दिल्ली वापस जाने का फैसला करता है पर मिल्की साथ जाने से इंकार कर देती है, क्योंकि दिल्ली उसकी नजर में दूसरा देश (परदेस) है जिसने उसके देश असम पर जबरन कब्जा कर लिया है। ब्रह्मपुत्र पार के लोगों के लिए उसके दिल में नफरत है, इसलिए कि उन्होंने 'हमें बर्बाद किया है।

हमारी झोपड़ियों को तोड़कर उन पर अपने लिए पक्की इमारतें बनाई हैं। हमारे वक्षों को तुम्हारे कमांडों ने मसला है। हमारी लड़कियों के साथ बलात्कार किए हैं। उन्हें जिस्म की मंडी में बेचा है। असम के लिए लड़ने वाले बेगुनाहों को गोलियां मारी हैं। हमारे जर, जमीन और जंगलों को लूटा है। यही नहीं हमारी पहचान को नष्ट करने की कोशिश की है।...' (पृ. 139) पूर्वोत्तर और भारतीय राष्ट्र-राज्य की टकराहट के इन सार्वजनिक कारणों में मिल्की के बुरे निजी अनुभव (पंजाब कमांडों की बदसलूकी, दिल्ली गई बहन की हत्या, आदि) भी शामिल है। बहरहाल विनय परिवार की गरीबी, अपने कैरियर व इस अंधविश्वास—जो एक बार ब्रह्मपुत्र नदी पार करता है, उसे सात बार इसे पार करना ही पड़ता है—की आड़ में दिल्ली लौट आता है कि अगली यात्रा में मिल्की उसके साथ अवश्य आएगी।

दिल्ली आने पर विनय को 'देश भीतर देश' की बीमारी लग जाती है। सोते-जागते उसे देश के भीतर दिल्ली और असम दो भिन्न देश दिखते हैं। अकेलापन और पीछे छूट गई मिल्की की यादें उसे बुरी तरह सताने लगती हैं जिससे बचने के लिए यह फेसबुक पर लड़कियों व अधेड़ औरतों से (सामने मिल्की होने के भ्रम में या उन्हें मिल्की का अवतार समझकर) बेहद संजीदा और प्यार भरी बातें करता है। असली दुनिया उसके लिए बेमानी सी हो गई है। नकली दुनिया (साइबर वर्ल्ड) में सच्चे प्रेम (मिल्की व उसके देश) की खोज में निराश भटकते हुए वह धीरे-धीरे अजनबी भय के दुर्ग में कैद होकर गहरे अवसाद में चला जाता है। अजीबोगरीब हरकतों, चिड़चिड़ेपन व कमजोर याददाश्त के चलते अर्धविक्षिप्त विनय की बढ़ती हुई बीमारी के साथ पंद्रह-बीस बरस बीत जाते हैं। इस दौरान मिल्की को दिल्ली लाने गए विनय को हर बार अकेले ही लौटना पड़ता है। असम में बसने के इरादे से जब वह अंतिम सातवीं बार गुवाहाटी पहुंचता है तो मिल्की मौत के आगोश में हमेशा के लिए उससे दूर जा चुकी होती है...और विनय गुमनामी के अंधेरे में नामालूम कहीं खो जाता है। कह सकते हैं कि विनय की लगभग तीन दशक लंबी जीवन यात्रा के बरक्स केंद्र

और हाशिए के बीच संवाद के लिए प्रयासरत समकालीन भारतीय युवा की बेचैनियों, अंतर्द्वंद्व, विवशता, विचलन एवं त्रासदी को प्रतिनिधि तौर पर देखा गया है। संवाद की इस प्रक्रिया में प्रेम की केंद्रीय भूमिका रही है, अतः उसका न मिल पाना अपनी परिणति में बड़ी त्रासदी है। सुधीश पचौरी ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि 'जहां दिल मुश्किल से मिलते हों वहां मानवीय संवाद नहीं होता। बंदूक, संदेह और कानून से जो संवाद होते हैं उनसे दिल नहीं जुड़ते।



स्थानीय अकेलापन बढ़ता है।' (पल्लेप से) विनय और मिल्की दोनों ही इस अकेलेपन का शिकार होते हैं।

विकास की विकलांगता और प्रकृति की मार झेल रहे पूर्वोत्तर की बदहाली के लिए राजनीति, मीडिया और बाजार का कुटिल आपसी गठबंधन कम जिम्मेदार नहीं है। देश की आवाज कहलाने वाली मीडिया में पूर्वोत्तर के प्रति घोर उपेक्षा व उदासीनता है। दिल्ली के राष्ट्रीय अखबारों में पूर्वोत्तर की खबरें गाहे-बगाहे छपती हैं जिनमें मानसून, ब्रह्मपुत्र की बाढ़ व मलेरिया के प्रकोप की केवल मात्र सूचनाएं ही होती हैं। पूर्वोत्तर की आबोहवा, वहां के आम जनजीवन तथा सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में किसी सकारात्मक परिवर्तन की कोई कवरेज नहीं होती। इसके विपरीत केंद्र के शांति प्रयासों तथा उग्रवादी संगठनों द्वारा अंजाम दी गई हिंसक वारदातों की खबरें भले सिंगल कॉलम से बड़ी नहीं होतीं, उनसे पूर्वोत्तर राज्यों की नकारात्मक छवि बनती है। दूसरी ओर केंद्रीय अर्धसैनिक बलों के नृशंस आचरण, बर्बर अभियानों एवं मानवाधिकार उल्लंघन के समाचार गलती से भी नहीं छपते। केंद्र द्वारा प्रायोजित शांति और हिंसा की दोमुंही राजनीति को बेनकाब करने में मीडिया पूरी तरह निष्क्रिय है। गुवाहाटी के पत्रकार बुलबुल हजारीका की गिरफ्तारी पर दिल्ली के पत्रकार संघ की चुप्पी सत्ता के दबाव से ज्यादा मीडिया की मूल्यहीनता की गवाह है। बाजार की ताल पर नाच रही मीडिया के पास नंगी फोटो और पेज श्री पार्टियों की

तस्वीरें छापने के लिए स्पेस है लेकिन पूर्वोत्तर राज्यों की समस्याओं के लिए बिल्कुल स्पेस नहीं है। इस स्थिति में इंटरनेट जैसा वैश्विक सूचना मंच ठोस व ईमानदार विकल्प बनकर सामने आता है जहां पूर्वोत्तर की खबरें आसानी से देखी-पढ़ी जाती हैं। 'देश भीतर देश' का सवाल विनय फेसबुक पर ही शेयर करता है।

यह उपन्यास पूर्वोत्तर राज्यों में सादिन असम, इंडिपेंडेंट बोडोलैंड, आजाद कार्बीलांग की मांग को लेकर आरंभ हुए जनांदोलनों के क्रमशः उल्फा, बोडो आदि प्रतिबंधित उग्रवादी संगठनों में बदलने की प्रक्रिया व इतिहास, उनकी जायज-नाजायज मांगों, हिंसक गतिविधियों, भटकनों एवं उनके विडंबनापूर्ण अंत पर तीखी रोशनी डालता है और प्रकारांतर से केंद्र और हाशिए के अंतःसंवाद की कमजोर कड़ियों को नापते हुए देश में तेजी से फैल रहे नक्सलवाद को समझने में कारगर है। असम में उल्फा की स्थापना, उद्देश्य, गतिविधियों एवं बुनियादी लक्ष्य से भटकावों का प्रामाणिक ब्यौरा इसकी तसदीक करता है। मसलन, असम के तमाम बेरोजगार युवा उल्फा में महज इसलिए शामिल हो गए थे क्योंकि उल्फा अपने कैडरों को परिवार पालने के लिए निश्चित मासिक वेतन देता था और असमिया लड़कियां अंडरग्राउंड उल्फाइयों पर जान छिड़कती थीं। लड़कियों से दोस्ती व प्यार पाने की चाहत में आए युवाओं को उल्फा के कमांडर संगठन की मजबूती या असम की आजादी के बारे में बिना कुछ

सोचे शामिल कर लेते थे। कठिन ट्रेनिंग और भूमिगत जीवन से कई युवा डर कर वापस गांव भाग आते थे और कितने चाहते हुए भी वापस नहीं हो पाते थे।

केंद्र और उल्फा के बीच जारी संघर्ष के नेपथ्य में पूर्वोत्तर भारत की आंतरिक सुरक्षा पर मंडराते खतरे की निशानदेही करता यह उपन्यास दिखाता है कि कैसे पड़ोसी देशों की खुफिया एजेंसी आई.एस.आई. (पाकिस्तान) और डी.जी.एफ.आई. (बांग्लादेश) उल्फा की खुली मदद करके पूर्वोत्तर के

माहौल को अस्थिर बना रही थीं और सीमा पार आतंकवाद को बढ़ावा दे रही थीं। उल्फा कैडरों को बांग्लादेश और पाकिस्तान के अतिरिक्त नागालैंड का उग्रवादी संगठन एन.एस.सी.एन. एवं म्यांमार में सक्रिय कछिन रिबेल्स भी प्रशिक्षण दे रहे थे। एक समय उल्फा के सारे नेता बांग्लादेश में भूमिगत होकर पूरा युद्ध लड़ रहे थे तो उसके कैडर भूटान की धरती से छापामार गुरिल्ला युद्ध को अंजाम दे रहे थे। बांग्लादेशियों की घुसपैठ इस क्षेत्र के लिए बड़ा संकट बन गया था। केंद्र के दुलमुल रवैये के चलते असम में इन्होंने खासी पैठ बना ली थी। सरकार बनाने से लेकर गिराने में इनकी भूमिका अहम हो गई थी। उपन्यास में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि असम की आजादी के अलावा जिस दूसरे बड़े लक्ष्य के लिए उल्फा की स्थापना हुई थी 'जिन बांग्लादेशियों को खदेड़ने के लिए हजारों असमियों ने कुर्बानी दी थी, आंदोलन किया था, उनकी संख्या राज्य में दोगुनी हो गई थी।' (पृ. 159) उपन्यास में उल्फा को सबक सिखाने के लिए केंद्र के आदेश पर चलाए गए सैन्य अभियानों, असम की राजनीतिक सरगर्मियों, कानून व्यवस्था के बिगड़ने हालातों, उल्फा छोड़कर आए सुल्फाइयों की गुंडागर्दी व दलाली, असम गण परिषद की प्रफुल्ल महंत सरकार की नाकामियों, चाय बागानों की अंदरूनी कलह तथा इन सबसे त्रस्त असम की दहशतजदा आवाम के दुख-दर्द का करीबी जायजा लिया गया है।

'देश भीतर देश' पूर्वोत्तर भारत के

अशांत, आतंकग्रस्त एवं कलहपूर्ण माहौल के लिए, जिम्मेदार कारक-तत्त्वों की पहचान के क्रम में क्षेत्रीयतावादी मानसिकता एवं उसके दुष्परिणामों को भी इंगित करता है। भौगोलिक, सांस्कृतिक और मानसिक रूप में दो हिस्सों (ब्रह्मपुत्र घाटी और बराक घाटी) में विभाजित असम की बराक घाटी के सिलचर जिले में ठेठ असमिया जीवन के रंग नहीं दिखते। यहां की सरकारी भाषा असमिया नहीं, सिलहटी बांग्ला है। असमिया समाज में भी यहां के सिलहटी बांगालियों को लेकर अच्छी राय नहीं थी, क्योंकि पढ़ा-लिखा और होशियार होने के नाते असम की पूरी नौकरशाही में इनका दबदबा था। 'यदि चिकेन नेक के उस पार के लोग उनके दुश्मन नंबर एक थे तो दूसरे नंबर के दुश्मन थे सिलहटी बांगाली।' (पृ. 63) इसी कारण विनय के ऑफिस का मैनेजर आशीष विश्वास लंबे समय से गुवाहाटी छोड़ना चाहता था। यहां भारत जैसे बहुसांस्कृतिक देश की जटिल सामाजिक संरचना के मद्देनजर जातीय विभाजन की संभावनाओं से परिचित उपन्यासकार की चिंता है कि यदि त्रिपुरा में रहने वाले सिलहटी बांगाली कोलकाता को माई-बाप की तरह मानते हैं या असम में रहने वाले मारवाड़ी राजस्थान को अपना देश तो क्या उनके साथ वही हैवानियत भरा सलूक होगा जैसा कुछ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र में रहने वाले निर्दोष उत्तर भारतीयों के साथ हुआ था। अलग बोडोलैंड की मांग को लेकर पूर्वोत्तर में बसे नेपालियों और हिंदीभाषियों की बस्तियां क्या इसी तरह जलाई जाएंगी? अपने ही देश में विदेशी (बाहरी) होने की यह पीड़ादायक अनुभूति यकीनन त्रासदीपूर्ण है।

विनय की 'देश भीतर देश' बीमारी के बहाने यह उपन्यास देश के राष्ट्रवादी स्वरूप एवं व्यवहार को एक बहसतलब मुद्दे के रूप में बेहद सतर्क एवं सार्थक ढंग से उठाता है। दरअसल यह असम (पूर्वोत्तर) की समस्या को प्रतिनिधि मानकर देश के भीतर धीरे-धीरे उग आने वाले देशों की स्थानीयतावादी अस्मिताओं के संघर्ष को वृहत्तर आयाम में देखने की कोशिश है। इस अर्थ में यह देश के भीतर मौजूद देशों की कथा है। दो देशों के सवाल को विनय फेसबुक

पर अपने अंदाज में अपने दोस्तों से बार-बार पूछता है पर उसे माकूल जवाब नहीं मिलता। यही सवाल वह अपनी जवान और अधेड़ गर्लफ्रेंड्स से करता है तो वे हंसी में उड़ा देती हैं और उसे साइबर प्रेम-मोहब्बत में फंसा लेती हैं। देश के दूर-दराज की इन प्रबुद्ध एवं आत्मनिर्भर महिलाओं से बातचीत के सिलसिले में देश में औरतों के शोषण की स्थितियां ही नहीं सामने आतीं, क्षेत्रीय राजनीतिक दांवपेंच एवं समसामयिक सामाजिक यथार्थ की नग्नता खुलकर उजागर होती है। रासमणि और आरती अधिकारी का जीवन संघर्ष एवं करुण अंत भारतीय स्त्री का दारुण सच है। रोहतक की सोनिया दहिया जिस ऑनर किलिंग से बचकर भागी थी, अंत में उसी की चपेट में आ जाती है। इंदौर की गार्गी बधवार जिस मुंबई फिल्म इंडस्ट्री में बतौर फैशन डिजाइनर कैरियर बनाने जाती है, वहां अपनी इज्जत गंवाने के अलावा उसे कुछ हासिल नहीं होता। पंजाब की रितु कौर मलेशिया का नारकीय जीवन छोड़कर देश लौटने में ही अपनी भलाई समझती है। अहमदाबाद की मिष्ठी बनर्जी बताती है कि गुजरात में गोधरा दंगों के बाद अल्पसंख्यकों के भय की इंतेहा क्या है और मोदी के विकास मॉडल के मुखौटे के पीछे का सच क्या है? कोकिला पात्रा बांगाल में वामपंथी शासन के खाल्मे के बाद सत्तारूढ़ ममता बनर्जी की अनुभवहीनता एवं अदूरदर्शी फैसलों की तह में जाती है तो मिली गुप्ता बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार के सुशासन की पोल खोलती है। 'देश भीतर देश' के सवाल पर वस्तुतः देश की नब्ज टटोलने के लिए या आम जनता का फीडबैक जानने की दिशा में एक युक्ति के तौर पर डाले गए ये प्रसंग भले ही देश की मौजूदा तस्वीर पेश करते हों किंतु यहीं असल मुद्दे से भटकाव साफ नजर आने लगता है। उपन्यास में अनेक अर्थव्याप्तियों के बावजूद कथावस्तु की संरचना में संश्लिष्टता का अभाव इसीलिए खटकता है।

असम की यह विषम कथा विनय के दिल्ली से गुवाहाटी जाने और वहां से वापसी की रेल यात्रा के समानांतर वर्णन के बीच इतनी सूझबूझ एवं खूबसूरती से बुनी गई है कि पढ़ते समय घटनाओं के पूर्वापर क्रम

में न कहीं भ्रम की स्थिति आती है और न ही कथा प्रवाह अवरुद्ध होता है। कथा का देशकाल 1970 से 2010 तक विस्तीर्ण है जिसमें आजादी के बाद असम के इतिहास, विनय के असम प्रवास व उसके दो दशक बाद की सभी महत्वपूर्ण घटनाएं अनिवार्यतः शामिल हैं। उपन्यास की गुंफित संरचना में आवाजाही करता विनय का अतीत एवं वर्तमान एक आईना बनकर उभरता है जिसमें असम के तत्कालीन इतिहास एवं समकालीन जीवन का ठोस प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 'देश भीतर देश' नामक मनोवैज्ञानिक बीमारी से ग्रस्त विनय के अवचेतन और अर्धचेतन अवस्था के तारतम्य में उपन्यास का कथ्य टुकड़ों में सामने आता है। कथाकार चूंक पेशेवर पत्रकार है, वह इतिहास के डीटेल्स की बजाय घटनाओं की ब्रीफ हिस्ट्री प्रस्तुत करता है और छोटे अखबारी कतरन के आकार की सूचनाओं एवं तथ्यों को कथावस्तु में बड़े कौशल एवं संयम से टांकता है कि नैरेशन में कोई फांक नजर नहीं आती। पूरा सच कहने के फेर में उपन्यास की भाषा कहीं स्थूल जरूर लगती है लेकिन उसमें गल्प की भाषायी खूबियों के साथ पत्रकारिता की भाषिक उत्तेजना, विचारोन्मुखता, व्यंग्यपरकता एवं प्रतिरोधी चेतना भरपूर है। उपन्यास का नैरेशन पूर्वोत्तर में प्रथम आगत उत्तर भारतीय, कवि मिजाज विनय के अवलोकन बिंदु से हुआ है, अतः पूर्वोत्तर के हाफलांग, डिब्रूगढ़, सिलचर, शिलांग आदि रमणीय स्थलों के प्राकृतिक वर्णन में एक सैलानी एवं भावप्रवण कवि की पर्यवेक्षण क्षमता नमूदार होती है। शिल्प का यह सुंदर निर्वाह इन्हीं मायनों में उपन्यास की उपलब्धि है। निस्संदेह 'फैक्ट' को 'फिक्शन' में रूपायित करने की कला में सिद्ध प्रदीप सौरभ अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों की भांति 'देश भीतर देश' में भी सफल हुए हैं।

देश भीतर देश/प्रदीप सौरभ/वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 250

कथायन, पटेल का बगीचा, यादव कॉलोनी, सागर-470001, (स.प्र.) दूरभाष-07582-228410

नित नई लीलाओं का 'तलघर'

वंदना मिश्रा

कु

छ कहानियां सिर्फ कहानियां नहीं होतीं। आप पढ़ते-पढ़ते उनके किरदारों में शामिल हो जाते हैं। उनके पात्रों के संवादों में हिस्सा लेने लगते हैं और कभी मुस्कराने कभी नाराज होने लगते हैं। कब वह आपकी कथा बन जाता है पता नहीं चलता।

ज्ञान प्रकाश विवेक का उपन्यास 'तलघर' एक ऐसा ही जीवंत उपन्यास है। जिसका कथानक यूं तो चेतन के इंश्योरेंस ऑफिस के इर्द-गिर्द घूमता है। उस एक दफ्तर में भ्रष्टाचार, शोषण एवं साजिश के इतने चक्र कि लगता है कि पूरे भारत का परिदृश्य हो।

चेतन का एक शाखा से दूसरी शाखा में ट्रांसफर होता है। अंबाला छावनी से दिल्ली जाते समय चेतन को स्टेशन पर पापड़ वाला लड़का मिलता है। जो उस पापड़ के पैसे किसी भी हालत में नहीं लेना चाहता जो चेतन के हाथ में आने से पहले गिर गया। चेतन उसे पैसे देना चाहता है पर पापड़ वाला अंत तक लेता नहीं है। 'रघु और कौत्स' के संवाद की याद दिलाता है, यह सतयुगी संवाद। एक तरफ ऐसा दृश्य दूसरी तरफ 'लुक बिजी डू नथिंग' वाले फार्मूले का पालन करते दफ्तर के कर्मचारी।

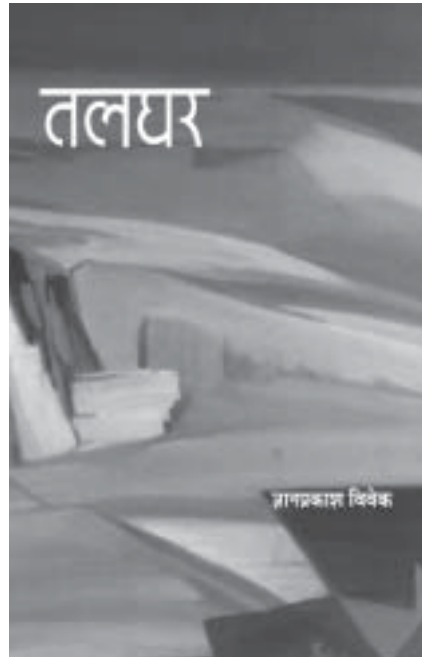
लेखक सूक्तियों का बहुतायत से प्रयोग करता है जो उसकी भाषा को जीवंत बना देता है। 'ताज्जुब है गरीब लोग होते हैं, लेकिन होने के बावजूद कहीं नहीं होते।' (पृ. 10)

चेतन जैसे लोग भी कम होते हैं पर जहां होते हैं वहां रिश्तों की बुनियाद मज़बूत करते रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें लोगों का विश्वास हासिल होता है। खास कर स्त्रियों का, चाहे कम ज़िक्र की गई विद्या टंडन हो या दफ्तर की सहकर्मी देवयानी चावला, शुभ अग्निहोत्री या सांवली लड़की।

अंबाला में सब्जी वाला रंजीत, उसकी पत्नी और उसकी गूंगी लड़की चेतन के परिवार जैसे हो गए हैं। संसार शायद रिश्तों के बनने और फिर टूट जाने का नाम है।...मनुष्य का हमसफ़र अंततः अकेलापन ही होता है। (पृ. 13)

दिल्ली जैसे शहर में चेतन की कोई पहचान नहीं क्योंकि दिल्ली "आमंत्रित करता और आने वाले की वो सबसे पहले पहचान गुम करता।" (पृ. 14) ऐस्टेबलिश्मेंट विभाग में नियुक्त चेतन इस बात पर हैरान होता कि खाली रहने वाले कर्मचारी अपने आपको बहुत ज्यादा सुखी समझते। "पहले इंश्योरेंस कंपनियों प्राइवेट थीं। असुरक्षा का भाव था और नौकरी छूट जाने का डर।....अब वो डर खत्म हो गया था। (पृ. 17)

दफ्तर की कमियां, राजनीति जिसमें ट्रांसफर भी शामिल था, उसके शिकार ईमानदार लोग बनते थे जो कोई जुगाड़ नहीं लगाते थे



या खुददार लोग। चेतन में दोनों अवगुण थे.. .उसकी ट्रांसफर गोल मार्केट के दफ्तर में कर दी गई। (पृ. 24)

दफ्तरों में स्त्री चाहे ऑफिसर हो या क्लर्क उसके साथ छूट लेने की कोशिश की जाती है। उसके मन को समझा नहीं जाता यह बात और है कि पुरुष उसके मन को हासिल नहीं कर पाता भले ही उसकी मजबूरी वश शरीर पा ले—“दो जिस्म इतने करीब कि सांस की आवाज भी सुनाई दे जाए। दो जिस्म इतनी दूर कि न कोई भावना का आवेग, न प्रेम का जज्बा।” (पृ. 56)

पात्रों की मानसिक दशा एवं मनोविज्ञान का बहुत सूक्ष्मता से वर्णन किया है लेखक ने। शर्मा जी का मेंटली रिटार्टेड बेटा जिसे पत्नी की मृत्यु के बाद शर्मा जी ताले में बंद करके ऑफिस आते थे, वे रिटायर होने से दुखी हैं पर बेटे के साथ वक्त बिताने की बात सोचकर प्रसन्न भी। वे चेतन को सूत्र देते हैं “हाथ खुले हों तो आसमान की तरह लगते हैं।” (पृ. 35)

चेतन ऑफिस के माहौल से नफरत करता है—“कुदरत की दुनिया सच्ची, पवित्र और चालाकीरहित थी। लेकिन ज्योंही आप तीस सीढ़ियां चढ़कर दूसरी मंजिल पर प्रामिनेंट इंश्योरेंस कंपनी के बड़े हॉल में प्रविष्ट होते एक चालाक-सा सन्नाटा आपको शांति अंदाज से देखता।” (पृ. 36)

पात्रों की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया है लेखक ने। चेतन कम बोलता था, ज्यादा महसूस करता था लेकिन तारिक अनवर जब परेशान होता खूबसूरत शेर सुनाता। हंदा साहब, खटर साहब, अनिरुद्ध सभी पात्र लगता है सामने बैठे हैं। शानी साहब का वर्णन देखिए—“जैसे कोई छिला हुआ चिकना-सा बड़ा अंडा हो...शानी साहब का



चेहरा ऐसा लगता था। वो मुस्कराते तो ऐसा लगता जैसे ज़्यादा उबलने पर अंडा फट गया हो और उसकी ज़र्दी नज़र आने लगी हो।” (पृ. 39) जैकब जैसे चपरासी ने शानी साहब को पीट दिया, कमरा बंद करके। शानी साहब चालाकी और शर्म से मुंह नहीं खोल पाए। बस जैकब का ट्रांसफर दूसरी ब्रांच में करवा दिया।

अपने मनपसंद पात्रों का चित्रण करने में लेखक दार्शनिकों की-सी भाषा का इस्तेमाल करता है—“अनिरुद्ध जैसे लोग हमेशा गलत समय पर इस संसार में प्रविष्ट होते हैं...वो सौ साल पहले इस संसार में आया होता तो बेहतर था। सौ साल पहले की इंसानी कर्दे उससे मेल खाती थीं।” (पृ. 41)

चेतन अत्यंत खूबसूरत और सलीके वाली देवयानी को भी अधूरी और अपूर्ण कह देता है वह केवल मृत्यु को पूर्ण मानता है। “हम अधूरे हैं। इसलिए अंधी महत्वाकांक्षाओं के मारे हैं। इसलिए हमने अहंकार का कवच ईजाद किया है। (पृ. 43)

ऑफिस में बैरियल जैसे पात्र भी हैं जिनके होने को भी लेखक अश्लीलता मानता है—“बैरियल का होना किसी अश्लीलता के होने जैसा था, वो निर्लज्ज था। बेशक वो कपड़े पहनकर आता था लेकिन बातें करते वक्त वो निर्वस्त्र होने लगता। वो किसी भी स्तर पर नीचे उतर जाता और उस पतन को वो अपनी बोल्डनेस समझता।” (पृ. 45)

अनिरुद्ध बैरियल को इतना पीटता है

कि वो अस्पताल पहुंच जाता है परंतु भयवश अनिरुद्ध का नाम नहीं बताता है। “बैरियल..प्रत्येक स्त्री को सिर्फ मादा समझता था।” (पृ. 46) “इन दिनों वह देवयानी को हासिल करने की जुगत में था।”

देवयानी बैरियल की शिकायत करे या न करे इस द्वंद्व में थी—“यह विचलन या द्वंद्व भी एक स्त्री का द्वंद्व, पुरुष समाज में अकेली स्त्री का द्वंद्व।” (पृ. 49) अनिरुद्ध तो अनामिका के शब्दों में—“सारी बाजियां हारकर भी अलमस्त” बाजीगर है। प्रश्न पूछने की गलती पर सस्पेंड कर दिया जाता है। यूनिशन वाले भी उसकी मदद नहीं करते। कुछ दिन वह सब्जी बेचता है, पल्लेदारी करता है फिर वह पट्टी बाज़ार लगाता है पर ज़िंदादिली से रहता है। बाद में जब इक्वायरी कमेटी के ए.जी.एम. ‘शाहीद रहीम साहब’ बनते हैं तो अनिरुद्ध बाइज्जत बहाल हो जाता है। उसका शाहीद साहब से संवाद बेहद दिलचस्प है। वैसे भी उपन्यास की भाषा बेहद संयत और मज़बूत है। अत्यंत गंभीर किस्म के चिंतन को सामने रखता है पर उबाऊ नहीं लगता बल्कि पाठक आनंद लेता है। चेतन के सभी स्त्री पात्रों से संवाद बेहद आत्मीय और शालीन हैं। ऐसे समय जहां— “स्त्री दुःख का एक तिनका किसी पुरुष के सामने रखे तो पुरुष और कुछ नहीं करता, सहानुभूति की सीढ़ी उसकी देह पर टिका देता है।” (पृ. 67) ऐसे संयत और शालीन संवाद संतोष देते हैं।

देवयानी के दुःखी वैवाहिक जीवन और

पति की मौत की बात सुन चेतन सोचता है—“स्त्री के दुःख कितने अलग तरह के होते हैं। स्त्री अगर खिलखिला कर हंसे तो समझो वो कोई शोकगीत भी गा रही है।” (पृ. 75) परवीन शाकिर लिखती हैं—“स्त्री के दुःख अजीब होते हैं, सुख उससे अजीब। हंसती है और काजल भीगता है साथ ही।”

चेतन कथा का पात्र भी है नैरेटर भी। ऑफिस दर ऑफिस ट्रांसफर होते चेतन रिटायर हो जाते हैं। रिटायरमेंट के वक्त व्यक्ति कितना अकेला हो जाता है। चेतन पुराने दोस्तों को पार्टी देते हैं और कोशिश करते हैं कि जीवन उदासी नहीं बल्कि उल्लास से जिया जाए। “भाषा बेशक बूढ़ी न होती हो लेकिन बहुत सारे शब्द जरूर बूढ़े हो जाते हैं। जैसे कि रिटायरमेंट। ऐसा लगता है जैसे इस शब्द के अंदर समय का बूढ़ा यक्ष बैठा कराह रहा है।” (पृ. 168)

अनिरुद्ध के सस्पेंशन के बाद कोई उसे नहीं कहता कि हम तुम्हारे साथ हैं। सब उससे कतराकर, उसे और डराकर निकल जाते हैं। जैसे दिखा रहे हों कि हम इसके साथ नहीं—दुष्यंत कुमार के शब्दों में—‘लहुलुहान नज़ारों का जिक्र आया तो/शरीफ़ लोग उठे उठ के दूर जा बैठे।’ वाला दृश्य था।

उपन्यास चेतन के पैंतीस साल के सफ़र को सामने रखता है। इंश्योरेंस कंपनी का ऑफिस ही नहीं समूचा समाज सामने आता है। ईमानदार आदमी अकेला है पर जीतता है यदि उसे रहीम साहब जैसा व्यक्ति मिल जाए। एक सिद्धांतवादी व्यक्ति के मुश्किलों की कहानी है, पर उसकी हंसी सच्ची है। अनिरुद्ध की तरह—मैं हंसा क्योंकि मेरे पास हंसी है। तुम इसलिए चुप हो क्योंकि तुम्हारे पास हिप्पोक्रेसी है जो न तुम्हें हंसने देती है न रोने।” (पृ. 54) चेतन सोचते हैं— “चीजें बड़ी होती गईं, मनुष्य छोटा।”

कुल मिलाकर अत्यंत रोचक और पठनीय है यह उपन्यास।

तलघर/ ज्ञान प्रकाश विवेक/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 180

वरिष्ठ प्रवक्ता (हिंदी), जी.डी. विनानी पी.जी. कॉलेज, मिर्जापुर-231001 (उत्तर प्रदेश), मो. 09415876779

पत्थर पर दूब : एक कमांडो की प्रेमकथा

राजा खुगशाल

‘प

त्थर पर दूब’ युवा कवि सुंदर चंद ठाकुर का पहला उपन्यास है। इससे पहले सुंदर चंद ठाकुर के दो कविता-संग्रह, ‘किसी रंग की छाया’ (2001) और

‘एक दुनिया है असंख्य’ (2009) प्रकाशित हो चुके हैं। अपनी कविताओं से उन्होंने एक समर्थ कवि के रूप में पहचान बनाई है।

‘पत्थर पर दूब’ एक वृहद उपन्यास है, जिसका कथानक एक कमांडो की प्रेमकथा के इर्द-गिर्द बुना गया है। इस कथा में एक युवक का जीवन-संघर्ष है और प्रेम का कोमल पक्ष भी। उपन्यास में लेखक ने बताया है कि फौजी जीवन से इतर भौतिक दूरियां कैसे प्रेम की कड़ियों को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। उपन्यास के कथ्य और शिल्प के बारे में अग्रज कवि-आलोचक मंगलेश डबराल का कहना है, “ऊपरी तौर पर ‘पत्थर पर दूब’ उपन्यास पहाड़ की सुंदरता और निश्चलता से निकल कर मैदानी कठोरताओं और संघर्षों की ओर ले जाने वाला कथानक लग सकता है लेकिन अपनी गहराई में उसका ताना-बाना तीन स्तरों पर बुना गया है। इन स्तरों पर तीन समय, तीन पृष्ठभूमियां और तीन घटना क्रम परस्पर आवाजाही करते हैं।” (ब्लर्ब) उपन्यास में लेखक के फौजी जीवन के कठोर अनुभव हैं। लेखक 1992 से 1997 तक भारतीय सेना की अल्पकालीन सेवा में रहा है। पहले सेना में यह अल्पकाल पांच साल का होता था लेकिन अब यह चौदह साल कर दिया गया है।

उपन्यास की रचना प्रक्रिया के संबंध में लेखक का कहना है, “पिता फौज में थे इसलिए मैं बचपन से ही फौज और फौजी जीवन के करीब रहा। भारतीय सेना में पांच साल की नौकरी के दौरान तो मैं इस फौजी जीवन का हिस्सा ही बन गया। फौज छोड़ने के बाद भी अपने कोर्समेट्स के जरिए मैं उससे जुड़ा रहा। कारगिल की लड़ाई के दौरान मेरे इन्हीं साथियों ने जब अपने अनुभव साझा

किए, मैंने तभी से उन अनुभवों को आपके साथ शेयर करने का मन बना लिया था।” (लेखक की ओर से, पृ. 107) 26/11 के मुंबई हमले के बाद हुए कमांडो ऑपरेशन ने भी लेखक को उपन्यास लिखने के लिए प्रेरित किया। मुंबई पर आतंकी हमले के बाद सुरक्षा बलों द्वारा किया गया कमांडो ऑपरेशन इस उपन्यास की कथा का एक हिस्सा है। मुंबई के होटल ताज और नरीमन हाउस में, जहां आतंकी घुसे थे, यह कमांडो ऑपरेशन लगभग 56 घंटे तक चला था। इस कार्यवाही के दौरान आतंकवादियों की गोलियों से 166 बेकसूर लोग मारे गए थे। उपन्यास में इस ऑपरेशन का विवरण तिरछे अक्षरों (इटैलिक्स) में दिया गया है।

उपन्यास में बहुत-सी घटनाएं सच्ची और ब्यौरे वास्तविक हैं। लेखक का कहना है—उपन्यास को विस्तार देने के लिए कल्पना का भी सहारा लेना पड़ा है। उपन्यास कितना काल्पनिक और कितना वास्तविक है, यह लेखक ही बता सकता है किंतु लेखक ने कल्पना को यथार्थ में रूपांतरित करने का



काम बखूबी किया है। इससे लेखक के रचना कौशल का पता चलता है। इस उपन्यास का घटना-क्रम नैनीताल, रानी खेत, हल्द्वानी, खटीमा, दिल्ली, मद्रास (चेन्नई), रुड़की, पुणे, बेलगांव, मुंबई, वीनागुड़ी, मानेसर और पारो (भूटान) आदि शहरों में घटित हुआ है। उपन्यास में दिए गए कारगिल युद्ध के विवरण लेखक को उनके किसी कोर्समेट ने लिख कर दिए, जबकि मुंबई हमले के बाद कमांडो ऑपरेशन के ब्यौरे ऑपरेशन में भाग लेने वाले कमांडोज से बातचीत के आधार पर लिखे गए हैं। ‘पत्थर पर दूब’ उपन्यास की कथा तीन स्तरों पर आगे बढ़ती है। इसमें तीन समय, तीन घटनाएं और तीन पृष्ठभूमियां हैं। उपन्यास की कहानी में पत्तेश बैक की प्रविधि अपनाई गई है। इसलिए उपन्यास का कथा-विन्यास सपाट नहीं बल्कि संश्लिष्ट एवं जटिल है। कथा का पहला स्तर कथानायक विक्रम का घर-परिवार, ओ.टी.ए. (मद्रास) में कठिन सैन्य प्रशिक्षण, प्रशिक्षण के बाद जगह-जगह नियुक्तियां, कमांडो कोर्स, मिलिट्री इंजीनियरिंग कोर्स आदि हैं। दूसरा और तीसरा स्तर मुंबई में 26/11 का आतंकी हमला। हमले के बाद कमांडो ऑपरेशन और 1999 में लड़ा गया कारगिल युद्ध है। कारगिल युद्ध और 26/11 का आतंकी हमला देश के सैन्य इतिहास की सबसे बड़ी चुनौतियां थीं। भारतीय सेना ने इन चुनौतियों का सामना किस साहस और शौर्य के साथ किया है, यह इस उपन्यास को पढ़ कर पता चलता है। कारगिल युद्ध में भारतीय सेना के कई नौजवान अफसर और सैंकड़ों जवान शहीद हुए थे। कारगिल युद्ध का विवरण विक्रम को उसके एक दोस्त ने पत्र में लिख भेजा था। यह विवरण इतना रोमांचक था कि वह रात को सोते हुए युद्ध के सपने देखता और खुद युद्ध में शरीक हो जाता था। सत्रह हजार फुट की ऊंचाई पर लड़े गए इस युद्ध का उल्लेख प्रतिष्ठित कथाकार कमलेश्वर ने भी अपने उपन्यास ‘कितने

पाकिस्तान' में किया है लेकिन उन्होंने युद्ध में हुए नुकसान के लिए देश के तत्कालीन राजनीतिक नेतृत्व को जिम्मेदार ठहराया है।

आज से पंद्रह-बीस साल पहले तक पहाड़ों में आर्मी अफसर बनना आई.ए.एस. बनने से कम नहीं समझा जाता था। पहाड़ से बहुत कम लड़के अफसर बन पाते थे। किंतु इक्कीसवीं सदी की शुरुआत से बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने रोजगार के हालात बदल दिए। बड़े शहरों से फौज में अफसरों का आना बंद हो गया। नेशनल डिफेंस अकेडमी, खड़गवासला, इंडियन मिलिट्री अकेडमी, देहरादून और ऑफीसर्स ट्रेनिंग अकेडमी, मद्रास में छोटे कस्बों से आने वाले युवकों की तादाद अधिक थी। कुमाऊँ के सीमांत जनपद का युवक विक्रम नैनीताल से बी.एस-सी. पास कर ऑफीसर्स ट्रेनिंग अकेडमी में ट्रेनिंग ज्वॉइन करता है। ओ.टी.ए. मद्रास इन्स्रायल की सैन्य अकेडमी के बाद दुनिया की दूसरी सबसे सख्त ट्रेनिंग देने वाली अकेडमी मानी जाती है। 1962 में भारत-चीन युद्ध के दौरान आनन-फानन में इस अकेडमी की स्थापना की गई थी। विक्रम के अन्य कोर्समेंट मनोज चौहान, मंजीत त्यागी, हरमिंदर और दीपक ध्यानी आदि युवक भी छोटे कस्बों से आए थे। “अकेडमी में पहले कई दिनों तक लड़के अपनी दिनचर्या के अभ्यस्त नहीं हो सके थे। पहले दिन बाल कटाने और मूँछ उड़ाने से जन्मा हास्य अगले कुछ दिनों के कठिन शारीरिक श्रम से जन्मी पीड़ा के सम्मुख दम तोड़ चुका था। ये पैरों के फूलने, पिंडलियों में सघन पीड़ा, जांघों की मांसपेशियों के भारी पड़ जाने और जिस्म के वजूद की दर्दनाक अनुभूति के दिन थे।” (पृ. 18)

अकेडमी में ट्रेनिंग बेहद सख्त थी लेकिन सीनियर्स का आतंक भी उससे कम नहीं था। सीनियर्स भी जूनियर्स को दिए जाने वाले रगड़े को अपने कर्तव्य का हिस्सा मानते थे। वह ऑफीशियल नियमों के विरुद्ध था लेकिन अकेडमी के संचालक मन-ही-मन सीनियर्स के रगड़े को भी ट्रेनिंग का अनिवार्य हिस्सा मानते थे। दिन भर थका देने वाली ट्रेनिंग के बाद विक्रम रात सोने से पहले डायरी लिखता था। अपने पिता और भाई के अलावा वह शिवानी को भी खत लिखता था। शिवानी कॉलेज के दिनों में विक्रम की दोस्त और सहपाठी थी। विक्रम को लगता था कि शिवानी का प्यार उसे ऊर्जा देगा, जिसके बूते पर वह ट्रेनिंग पूरी कर लेगा। ट्रेनिंग के दौरान, कुछ

दिनों के अवकाश पर विक्रम नैनीताल जाता है। वह शिवानी से मिलता है और शिवानी से पत्र व्यवहार को लेकर अपनी नाराजगी जाहिर करता है। विक्रम के एक सवाल के जवाब में शिवानी कहती है, “तुम्हीं कितनी बार अपनी चिट्ठियों में कह चुके हो, मेरा दिल पत्थर का है, पत्थर पर दूब कैसे उग सकती है?” (पृ. 62) विक्रम और शिवानी के इस प्रेमपूर्ण वार्तालाप के आधार पर इस उपन्यास का शीर्षक ‘पत्थर पर दूब’ रखा गया है। फौज का कठोर जीवन और प्रेम जैसे कोमल तत्त्व का प्रतीकार्थ है—पत्थर पर दूब।

वर्ष 2012 में प्रकाशित उपन्यासों के बारे में ‘पुस्तक वार्ता’ के संपादक भारत भारद्वाज लिखते हैं, “साहित्यिक विधाओं में उपन्यास की दुनिया बड़ी है, क्योंकि इसमें व्यक्ति, परिवार और समाज के जीवन-संघर्ष की लंबी गाथा होती है। लेकिन कविता से उपन्यास की तुलना करें तो बिल्कुल उलट स्थिति सामने आती है। कविता का असली घर संवेदना है और उपन्यास का केंद्रीय विषय है जीवन-संघर्ष। संवेदना दोनों छोरों पर है।” (पाखी : जनवरी, 2013) इस नजरिए से भी अगर देखें तो इस उपन्यास में जीवन-संघर्ष, मानवीय संवेदना और प्रेम का लौकिक पक्ष शिद्दत से व्यक्त हुए हैं।

विक्रम और शिवानी का तल्ली ताल, मल्ली ताल, माल रोड से टिफिन टॉप तक घूमना, बचपन की यादें, स्कूल-कॉलेज और विक्रम की ट्रेनिंग की बातें, विक्रम का अपने दोस्तों से मिलना, नैनीताल से हल्द्वानी और हल्द्वानी से अपने घर खटीमा पहुंचना, कुछ समय माता-पिता के साथ रहना, पुत्र के अफसर बनने पर पिता की प्रसन्नता और मां का वात्सल्य इस उपन्यास के मार्मिक हिस्से हैं। “अगले दिन विक्रम को सुबह-सुबह ही वहां से निकल जाना था। मां ने सुबह कब उसके लिए पूड़ियां तलीं, कब वह खेतों से राई के पत्ते तोड़ लाई, कब उसने दही से मट्ठा बनाया, विक्रम को पता न लगा। उसकी जब तक नौद खुली तब तक मां गाय के गोठ की सफाई कर आंगन को मिट्टी-गोबर से लीप चुकी थी।” (पृ. 83)

ओ.टी.ए. पहुंच कर विक्रम अपने सैन्य प्रशिक्षण का दूसरा दौरा पूरा कर भारतीय सेना में कमीशंड अफसर (सेकिंड लेफ्टीनेंट) बन जाता है। उसकी पोस्टिंग बी.ई.जी. सेंटर रुड़की में होती है। वह दिल्ली होता हुआ पहले नैनीताल जाता है। लेकिन इस बार उसे

नैनीताल में शिवानी नहीं मिलती। वह उन दिनों इलाहाबाद गई हुई थी। खटीमा से रुड़की आते हुए बस में विक्रम की मुलाकात डॉ. रूपाली से होती है। रूपाली का रुड़की में अपना क्लिनिक था। उसका एक चार साल का बेटा था और वह अपने डॉक्टर पति से अलग रह रही थी। एक-दो मुलाकातों के बाद वे अच्छे दोस्त बन गए थे। रुड़की में चार महीने गुजारने के बाद विक्रम ने पुणे में कॉलेज ऑफ मिलिट्री इंजीनियरिंग में छः महीने का यंग ऑफीसर्स कोर्स पूरा किया। उसकी पोस्टिंग इंजीनियरिंग रेजीमेंट वीनागुड़ी में हो गई। जहां उसे पहले ही दिन फील्ड पोस्टिंग के विकट अनुभव से गुजरना पड़ा। वीनागुड़ी में विक्रम को टेलीग्राम से पिता की मृत्यु की सूचना मिली। वह फिर कुछ दिनों के अवकाश पर अपने घर खटीमा पहुंचता है। खटीमा से वीनागुड़ी पहुंचते ही उसे पारो (भूटान) भेज दिया गया, जहां भारतीय सेना भूटान के अफसरों और जवानों को ट्रेनिंग देती है। पारो में रहते हुए विक्रम को शिवानी के खतों की सबसे ज्यादा जरूरत महसूस हो रही थी, लेकिन उसे शिवानी के खत मिलने बंद हो गए। पारो में शिवानी के प्रेम को लेकर विक्रम की उम्मीद खत्म हो गई थी। एक दिन कई खतों के साथ उसे शिवानी की शादी का कार्ड मिला—Mohan Weds Shivani “विक्रम का दिल धक् से रह गया। उसने इस स्थिति की कल्पना नहीं की थी।...विक्रम ने सारे लिफाफे मेज पर रख दिए और बिस्तर पर पसर गया। उसने एक और सिगरेट सुलगा ली। उसके दिमाग में सवाल का बवंडर उठ रहा था।” (पृ. 246)

विक्रम को सी.ओ. ने रेजीमेंट के काम से कुछ दिनों के लिए रुड़की भेजा। विक्रम दिल्ली से बाइक पर रुड़की गया। वह डॉ. रूपाली से मिला। अब तक रूपाली का अपने पति से तलाक हो चुका था। रूपाली अपने क्लिनिक से विक्रम को अपने घर ले गई। डॉ. रूपाली ने विक्रम को अपने असफल विवाह की कहानी सुनाई। विक्रम ने भी रूपाली को शिवानी से अपने असफल प्रेम के बारे में बताया। उस रात पीते-पिलाते हुए डॉ. रूपाली विक्रम को अपने शयन कक्ष में ले गई, जहां दोनों के शारीरिक संबंध बन जाते हैं। ‘पत्थर पर दूब’ उपन्यास पढ़ते हुए मुझे युद्ध की विषम परिस्थिति में प्रेम संबंधों पर लिखा गया शरत कुमार का उपन्यास ‘शिखर और सीमाएं’ याद हो आया। यह 1962 में पूर्वोत्तर सीमाओं

पर चीनी आक्रमण के समय की प्रेम कथा है जो कथा मासिक 'हंस' में धारावाहिक छपी थी। यह उपन्यास 1992 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। एक फौजी अफसर के प्रेम संबंधों पर लिखे गए इस उपन्यास ने उस समय पश्चिमी सभ्यता बनाम भारतीयता, विवाह बनाम प्रेम और सेक्स, नैतिकता-अनैतिकता जैसे कई सवाल उठाए थे। 'शिखर और सीमाएं' उपन्यास से इस उपन्यास की तुलना करना मेरा मकसद नहीं है। लेकिन एक बिखरे हुए कथानक को प्रेम की उम्मीद किस तरह जोड़कर रखती है, इसमें 'पत्थर पर दूब' उपन्यास अनन्य है।

विक्रम को पुणे के इंजीनियरिंग कोर्स से लौटे हुए तीन महीने हुए थे कि उसे कमांडो कोर्स के लिए बेलगांव भेज दिया गया। गोवा से 80 किलोमीटर दूर बेलगांव आर्मी का कमांडो ट्रेनिंग सेंटर है। यहां कमांडो ट्रेनिंग ओ.टी.ए. से ज्यादा सख्त थी। एक महीने का कठिन कमांडो कोर्स पूरा कर विक्रम एक हफ्ते के लिए नैनीताल जाता है। वह दिल्ली

से अपनी कार खुद ड्राइव कर नैनीताल पहुंचता है। उसके दिल में शिवानी से मिलने की हलचल शुरू होती है। लेकिन उसे इस बार नैनीताल में शिवानी नहीं मिलती। बल्कि एन.एस.जी. हेडक्वार्टर मानसर ज्वाइन करने की चिट्ठी मिलती है। लौटते हुए उसे खटीमा में शिवानी का खत मिलता है। उसने पिता के किसी पुराने खत के साथ शिवानी का खत भी रख दिया।

उपन्यास का नायक विक्रम जितना प्रेम शिवानी से करता है, उतना ही प्रेम अपने कर्तव्य से भी करता है। एक ओर यह प्रेम कोमल है तो दूसरी ओर कठोर। अंत में वह अपने पिता और प्रेमिका को खो देता है। चाहे कारगिल युद्ध हो या 26/11 का आतंकी हमला, यह नौजवान कमांडो जिस बहादुरी से अपना कर्तव्य निभाता है, उसे उसका फल नहीं मिलता। बकौल लेखक—अब सेना में वीरता के पुरस्कारों को लेकर राजनीति होने लगी है। सेना में अफसरों और सिपाहियों में अत्यधिक असमानता है। भारतीय सेना आज

भी अंग्रेजों के समय की परंपराओं को ढो रही है। लेखक ने देश के सैन्य-तंत्र में व्याप्त इन विसंगतियों को सामने लाने का प्रयास किया है।

इस उपन्यास का घटना-क्रम तेजी से बदलता रहता है। किंतु सेना के विभिन्न संस्थानों का परिवेश एक जैसा है। फौजी अफसरों की ड्रिंक पार्टियां और गप्प-गोष्ठियों से यह उपन्यास मनोरंजक बन पड़ा है। फौजी जीवन की विस्तृत और प्रामाणिक जानकारी हमें इस उपन्यास से मिलती है। उपन्यास की भाषा सहज-सरल और प्रवाहपूर्ण है। इधर प्रकाशित उपन्यासों में 'पत्थर पर दूब' एक उल्लेखनीय उपन्यास है।

पत्थर पर दूब/सुंदर चंद ठाकुर/राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 395

एन-390, जलवायु विहार, सेक्टर-25, नोएडा (उत्तर प्रदेश)-201301, मो. 9910148737

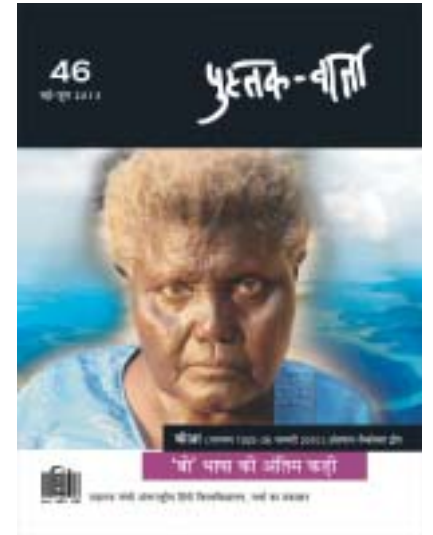
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक



अप्रैल-जून 2013, मूल्य : ` 100



अप्रैल-जून 2013 37, मूल्य : ` 50



मई-जून 2013, मूल्य : ` 20

पत्रिकाओं की सदस्यता के लिए संपर्क करें :



ज्ञान शांति मैत्री

प्रकाशन विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,

पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), फोन : 07152-232943

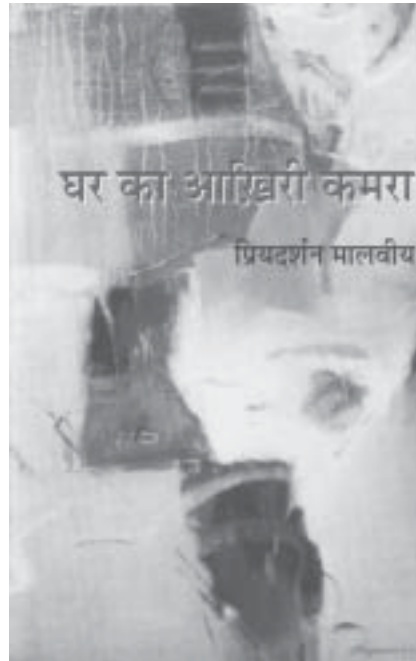
सांप्रदायिक नफरत का प्रतिवाद करता एक सार्थक उपन्यास

वेदप्रकाश अमिताभ

‘घर का आखिरी कमरा’ के फ्लैप पर उपन्यास के कथ्य के संदर्भ में दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है : “आजादी के बाद मुसलमानों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में लगातार गिरावट आई है। दूसरे बाबरी मस्जिद विध्वंस ने मुस्लिम मनोविज्ञान को बहुत गहरे तक प्रभावित किया है।” इसे पढ़ते हुए सवाल उठता है कि क्या आजादी के बाद सिर्फ मुसलमानों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति बदतर हुई है? क्या देश की अधिसंख्यक आबादी (जिसमें अन्य संप्रदाय भी सम्मिलित हैं) गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन बिताने के लिए अभिशप्त नहीं हैं? मुसहर जैसे जनसमुदाय जिस विपन्नता और असहायता में जी रहे हैं, मुस्लिम समाज का शायद ही कोई तबका इतना बेबस और दयनीय है। बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद लताफत चाचा फरमाते हैं : “हमारी कौम जो इस देश में विजेता के रूप में आई थी, आज खुद को हारा हुआ महसूस कर रही है” अपने को अलग कौम का समझने और इस मुल्क को जीतकर इस पर हुक्मत करने का मुस्लिम मनोविज्ञान नया नहीं है। देश के विभाजन के पीछे इस मानसिकता का बहुत बड़ा योगदान रहा है। अच्छा होता कि इशारे से ही सही उपन्यासकार ने किसी मुसलमान पात्र से यह कहलवाया होता कि किसी अन्य के धर्मस्थान को ध्वस्त करने की तकलीफ को वे आज महसूस कर पा रहे हैं।

प्रियदर्शन मालवीय का यह संभवतः पहला उपन्यास है। इसमें एक संवेदनशील, प्रबुद्ध सेक्यूलर युवक को केंद्र में रख कर ‘पढ़े-लिखे मुस्लिम बेरोजगार’ के दर्द को

उद्घाटित किया गया है। अमजद साहित्य का विद्यार्थी रहा है। गालिब से लेकर मदन कश्यप तक उसकी स्मृति में जीवंत हैं। देश के प्रति लगाव उसे अपने अब्बा से विरासत में मिला है। वह सरलता से समझौते नहीं कर पाता, इसलिए घर और बाहर—सर्वत्र उसे कई विसंगतियों और अवमूल्यों से टकराना होता है। अब्बा और छोटे भाई से अपमानित होकर वह घर छोड़ देता है, लेकिन प्रवास के अनुभव भी बहुत सुखद नहीं सिद्ध होते। जीवन-यापन का सहारा वर्कशॉप अवैध निर्माण होने से ढहा दिया जाता है। वह बड़े भाई और भाभी की अपमानजनक शर्तों को स्वीकार कर ‘दोहा’ जाने का विकल्प मजबूरी में स्वीकारता है लेकिन यहां भी असफलता ही हाथ आती है। बार-बार असफल और अपमानित होते रहने से किसी भी युवा का हताश और कमजोर होना



स्वाभाविक है। अमजद आत्मालोचन के उपरांत जिस कटु सत्य से अवगत होता है, वह इस व्यवस्था में जूझ रहे हर युवा की नियति है। : ‘जिस प्रकार घिसते-घिसते तार की प्रतिरोधक क्षमता कम होने लगती है, उसी प्रकार मेरी भी प्रतिरोधक क्षमता कम होती जा रही है क्योंकि बेरोजगारी ने मेरे व्यक्तित्व को घिस डाला है।’ लेकिन ऐसी स्थिति में भी उसका विवेक जाग्रत है और वह निर्भ्रांत है कि व्यवस्था की कुरूपताओं और क्रूरताओं से जनांदोलनों द्वारा ही संघर्ष संभव है। वह उन युवकों में से नहीं है जो शराबखोरी और सेक्स को प्रगतिशीलता या स्टेट्स की पहचान मानते हैं। चाहे ‘भीड़’ हो या ‘प्रेम’ या ‘सांप्रदायिकता’—सबके संबंध में उनका अपना सोच है और वह प्रायः सुलझा हुआ दृष्टिकोण है। उसकी तर्क-शक्ति परिपक्व है। जब आशीष आश्चर्य व्यक्त करता है कि रसलीन ने मुसलमान होकर हिंदी में इतनी अच्छी कविता लिखी है तब अमजद का प्रतिप्रश्न है : “‘मुसलमान होकर भी’ जैसे वाक्य का प्रयोग तुम लोग क्यों करते हो। क्या मुसलमान हिंदुस्तानी नहीं हैं? क्या हिंदुस्तान की संस्कृति उनकी अपनी संस्कृति नहीं है?” किंतु हिंदी साहित्य की अच्छी जानकारी के बावजूद अमजद का यह आरोप तर्कसंगत नहीं है कि ‘एक भी ऐसा हिंदू कवि नहीं है, जिसने कुरान पर इस्लाम पर या पैगंबर पर लिखा हो।’ आधुनिक हिंदी साहित्य के पहले बड़े कवि भारतेन्दु ने सन् 1875 ई. में ‘हिंदी कुरान शरीफ’ का लेखन प्रारंभ किया था। और 1884 ई. में प्रकाशित ‘पंच पवित्रात्मा’ में उन्होंने मुहम्मद साहब, अली, फातिमा, इमाम हसन और इमाम हुसैन की जीवनी लिखी थी।

यहां 'फ्लैप' पर उल्लिखित गुलशेर खां शानी की शिकायत—'हिंदी में मुंशी प्रेमचंद के बाद हिंदू लेखकों के पास मुस्लिम पात्र नहीं हैं'—पर विचार अनुचित न होगा। जिन पाठकों ने राजा राधिकारमण सिंह, वृंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, यशपाल आदि की कथाकृतियां पढ़ी हैं, वे इस शिकायत की व्यर्थता को समझ सकते हैं। जहां तक प्रियदर्शन मालवीय के शानी की शिकायत दूर करने के 'विनम्र प्रयास' का प्रश्न है, इस उपन्यास के कुछ पहले छपे 'रुहेलखंड का गांधी' (योगेंद्र शर्मा) और 'लेडीज क्लब' (नमिता सिंह) जैसे उपन्यास जीवंत और यथार्थपरक मुस्लिम चरित्रों से समृद्ध हैं। यह अवश्य है कि मुस्लिम साइकी के विश्लेषण में मालवीय को अच्छी सफलता मिली है। परिवेश की प्रामाणिक अभिव्यक्ति इस उपन्यास का वैशिष्ट्य है।

यह उपन्यास मुस्लिम साइकी के अवलोकन बिंदु से लिखा गया है, अतः यह स्वाभाविक है कि हिंदू सांप्रदायिकता पर तीखे प्रहार मिलते हैं, वर्तमान व्यवस्था को मुसलमानों के लिए 'एक बेहतरीन पुलिस स्टेट' करार दिया गया है, कथित इस्लामी आतंकवाद को फिलीस्तीनी समस्या में निहित बताया गया है, लादेन आदि के आतंकवाद को खुदरा आतंकवाद और अमेरिका के आतंकवाद को थोक आतंकवाद की संज्ञा दी गई है। उपन्यासकार प्रियदर्शन मालवीय ने दिल्ली विश्वविद्यालय में संपन्न 'आतंकवाद' पर केंद्रित विचारगोष्ठी का विस्तार से वर्णन किया है, कहीं वहां व्यक्त विचारों से असहमति के संकेत नहीं दिए हैं, इससे लगता है कि मुहम्मद इरशाद, अलाउद्दीन साहब, एस.आर. गिलानी आदि के विचारों की उपन्यास के विजन में महत्त्वपूर्ण हैसियत और अहमियत है। बेदखल फिलीस्तीनियों के साथ सहानुभूति और उनकी पक्षधरता ठीक है, लेकिन कश्मीर के लाखों विस्थापितों को भी थोड़ी बहुत हमदर्दी वांछित थी और बमियान के बुद्ध मूर्तियों के ध्वंस के लिए तालिबान पर कठोर टिप्पणी इस समूचे विमर्श को और वस्तुनिष्ठ और बहस तलब बना सकती थी। जहां उपन्यासकार ने विसंगतियों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिया है, वहां उपन्यास का विजन अधिक व्यंजक और वेधक हुआ



है। अंजुम के आत्मघात के संदर्भ में कथित उदारवादी अर्थनीति के चलते कल-कारखानों के बंद होते जाने, बेरोजगारी बढ़ने, युवा वर्ग में डिप्रेशन की बीमारी के घर करने आदि अनिष्टों के संदर्भ भयावह हैं और व्यवस्था के मनुष्य-विरोधी चरित्र को पुष्ट करने वाले हैं। 'चाइना भारतीय बाजार पर चीते की तरह झपट रहा है'—यह सामान्य सी सूचना भी बेहद अर्थपूर्ण है। अपने कथ्य को भली-भांति संप्रेषण करने योग्य भाषा उपन्यासकार के पास है। जरूरी और मार्मिक प्रसंगों की पूरी पहचान उसे है। इशरत भाई की प्रेमकहानी हृदयद्रावक त्रासदी है और अमजद को इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है कि 'हमारे समाज में सब रह सकते हैं, मगर सच्चे प्रेमी नहीं रह सकते।' पूरे उपन्यास में इर्द-गिर्द मंडराते डर, नफरत और विद्वेष की प्रतीति कराने में 'जैसे स्विच दबा देने मात्र से सारे तार में बिजली फैल जाती है', 'जैसे जिबह किए जाने वाला बकरा' जैसे अवतरण सक्षम हैं। उपन्यास में जहां-तहां उद्धृत मजाज, फहमीदा रियाज, दुष्यंत कुमार के उद्गार प्रायः स्थिति, चरित्र और विजन के अनुरूप हैं। और उन्होंने इसे पठनीय और विचारणीय बनाने में पूरा सहयोग दिया है।

घर का आखिरी कमरा/प्रियदर्शन मालवीय/भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल परिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 150

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़-202001,
मो. 09837004113

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ 'हिंदीसमयडॉटकॉम' नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत 'हिंदीसमयडॉटकॉम' पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। 'हिंदीसमयडॉटकॉम' में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक रीडरडॉटकॉम (www.classicreader.com) और गुटेनबर्गडॉटऑर्ग (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

एक कस्बे के नोट्स : भीगे पंखों की उड़ान

संजीव

भा

रत पहले गांवों में धड़कता था, अब छोटे-बड़े कस्बों में। ये कस्बे एक ओर तो महानगरों से जुड़े होते हैं,

दूसरी ओर गांवों से। उनमें हजारों कहानियां बन-बिगड़ रही होती हैं, हजारों रंग होते हैं, कस्बे के! नई कहानी के दौर से ही कस्बे उपजीव्य होने लगे थे कथा-साहित्य के। चर्चित कवयित्री और कथाकार नीलेश रघुवंशी ने भी अपने उपन्यास 'एक कस्बे के नोट्स' में कस्बे को ही अपना उपजीव्य बनाया है। 'बरहमेश गंज' संभवतः उनके अपने कस्बे बौसूदागंज का ही रचनात्मक अवतार है।

प्रथमतः कस्बा, फिर धंधा क्या तो ढाबे का! माता-पिता, आठ लड़कियों तथा एक लड़के, कुल ग्यारह सदस्यों का एक निम्न मध्यम वर्गीय परिवार और आधार सिर्फ एक, मामूली ढाबा और खेवनहार मात्र पिता। कुठित सामंती और नव औपनिवेशिक मिजाज के लिहाज से पहली नजर में कोई चमक नहीं बनती पर इस धूसर परिवेश में ही जीने की जद्दोजहद करते हुए जीना है। कस्बों के करोड़ों लोगों की कहानी है।

पिता और नायिका (मैं) कोई लाउड पात्र नहीं, न ही उनका व्यक्तित्व ऊपर से फौलादी जैसा झलकता है, मगर जैसे-जैसे उपन्यास आगे बढ़ता है, हम पाते हैं कि अंदर-ही-अंदर वे अद्भुत संजीवनी से सम्पृक्त हैं। जैसा कि उपन्यास के नाम से स्पष्ट है, पूरा उपन्यास कोई एक 'चंक्र' नहीं बल्कि छोटे-बड़े नोट्स से गठित है, इस संजीवनी की तलाश के लिए हमें जहां-तहां बिखरे कथा-सूत्रों और संवादों में जाना पड़ेगा।

'अकेला आदमी हूं ग्यारह लोगों का परिवार चलाता हूं। किसी चीज की कमी

नहीं है मेरे बच्चों को। जान लगा दूंगा इनका जीवन बनाने में। बस एक बात है साब! रोज कुआं खोदते हैं और रोज पानी पीते हैं...।'

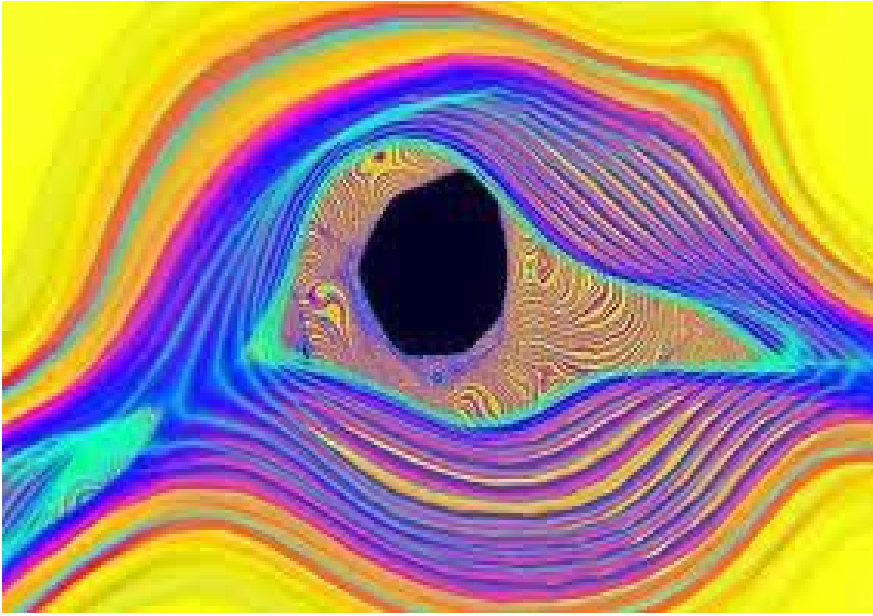
यह दिन-रात ढाबे चलाने वाले लुंगी में ही जीवन काट देने वाले पिता की अकड़ है—किसी भी आत्मदया की लिबलिबाहट से मुक्त। 'जो है सो है।' ट्रक के पीछे का आप्त संतोषी वाक्य उनका जीवन दर्शन है। हर रचनाकार का पहला एंकाउंटर अक्सर 'पिता' से होता है। ज्ञान रंजन के 'पिता' से लेकर शिवमूर्ति के 'पिता' तक...मगर नीलेश के पिता के जुझारूपन के अपने ही रंग हैं, जो भी है, जैसे भी है, अपने प्रच्छन्न अभिभावकत्व से ओत-प्रोत! ढाबे पर लड़कियां खा रही हैं—बेटी की जवान सहेलियां। कई ग्राहक अपनी बारी की प्रतीक्षा करते हुए उन्हें घूर रहे हैं। पिता उन्हें हड़काते हैं, 'देख नहीं रहा, बच्चियां हैं अभी। यहां

मत खड़े रहो। चले जाओ यहां से।'

पिता भट्टी धधकाने से लेकर भोजन तैयार करने, बर्तन मलने और ढाबे के अल्लम-गल्लम काम करते, अपने कपड़ों-लत्तों से लापरवाह, मगर आधुनिकता और प्रगतिशीलता से काफी कुछ लैस। पिता चाहते हैं कि उनकी संतानों पर कोई बंदिश न लगे, लड़कियां जब तक चाहें पढ़ें, शादी से भी जरूरी है पढ़ाई। लेकिन... 'पर अंत में अपन कुछ भी सोचते, करते वे अपने मन की हैं' इधर शेष परिवार और रिश्तेदार (मां भी) बेटियों की शादी को जैसे-तैसे सलटाने में पड़े हुए हैं। बेटियों के अपने-अपने सपने हैं। पिता कमजोर पड़ते जा रहे हैं। नौ-नौ संतानें कैसे हो गईं, बेटियां सामान्य स्कूल में और बेटे का कॉन्वेंट में क्यों दाखिला दिलाया गया—ऐसे कई सवाल पिता को कठघरे में खड़ा कर सकते हैं, जवाब उस कस्बाई सोच या पिता की सीमा में है—लड़कियों ने भी इस बात को लेकर कभी पिता को जवाबदेह नहीं माना, मुँहफट बेटे ने या मां ने भी नहीं, 'कस्बे के नोट्स' ऐसे कई स्थलों को सरपास कर जाते हैं, वैसे सरपास तो और भी कई चीजों को करते हैं लेकिन जिन्हें अपनी जद में लेते हैं, उनमें बेटे के चरित्र का विकास गौरतलब है।

आठ बेटियों के बीच पैदा हुए इकलौते बेटे को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने उसे कॉन्वेंट में एडमिशन दिलवाया (संभवतः पिता के बाद बेटा ही कर्णधार होता है परिवार का, बेटियां नहीं—इस कस्बाई मानसिकता के तहत) पर यह दुर्विनीत, बिगड़ा शाहजादा उनके सपनों पर पांव रखकर खड़ा हो गया। पढ़ाई-लिखाई में माशा अल्लाह लेकिन उसके अरमान आकाश छूते हुए। ढाबे से उसकी





हेठी होती है, ढाबे को आधुनिक बनाते हुए उसे मधुशाला से भी जोड़ता है, नेता बनने की असफल कोशिश करता है, अंततः साईकिल की दुकान! ढाबा उजड़ता गया और पिता...? कोयले की तरह सुलगाते, धधकते फिर राख में तब्दील होते रहे पिता। जो ढाबा उस बड़े परिवार का इकलौता आधार हो, उसके हीनता बोध से मुक्त होती रहीं बेटियां और भाई उसे अपनाता गया। संघर्षशील बेटियों और संघर्ष-विहीन बेटे के चरित्रों के फर्क को लेखिका ने धैर्य से निरूपित किया है।

यूं तो कस्बे से जुड़े लोक विश्वास, ग्रहण, देव उठानी, सोमवारी और अन्य व्रत, नदी, बस स्टैंड, मेले भोज-भात, रिश्तेदारियों, मंडी और शिक्षण संस्थानों के कुछ अंडर कटेंट्स—सब पर विहंगम दृष्टि है लेखिका की; मां, हिंदी प्राध्यापिका प्रेरणास्रोत विनीता मैडम, बड़ारी आचार्य जी, चीलगाड़ी, खटिक चाचा जैसे अनेक चरित्रों पर भी, कस्बे की बढ़ती भीड़-भाड़, बैलगाड़ियों का ट्रकों, मिनी ट्रकों द्वारा क्रमशः विस्थापन, बड़े किसानों के बड़े होते जाने, छोटे किसानों के मिटते जाने की बातें भी, ढाबे के अलावा भी परिवार-समाज के कुछ-एक प्रसंगों का चित्रण, मगर नीलेश का यह उपन्यास मुख्यतः ढाबा, पिता और नायिका पर ही केंद्रित है। कुछ एक दृश्य, मसलन एक श्राद्ध भोज में कंडे-भूसे के घर में भोज के दौरान तेज हवा द्वारा पत्तलों को उड़ा ले

जाने और अंत में खाने के लिए संजोकर रखी पत्तल की मिठाई से वंचित होने तथा बस स्टैंड के यात्रियों द्वारा ढाबे के पास पेशाब करने वालों का लड़कियों द्वारा टोके जाने के दृश्य बहुत ही जीवंत हैं। इन्हीं सधे हाथों से कस्बे के बस स्टैंड से सटे ढाबे के गिर्द घूमती, गली-कूचों की तंगी में मंडराती कई तरह की रूप-कुरूप दुनियाएं होती हैं। लेखिका उसे केंद्र बनाकर एक लघु परिक्रमा कर सकती थीं, मगर पता नहीं, उन्होंने क्यों नहीं किया। फिर पिता जैसे पॉजिटिव पात्रों के चलते उनकी कुछ मुश्किलें आसान भी हो गई हैं। कुछ भी हो, उन्होंने जिस ढाबे और उससे जुड़े लंबे परिवार का जैसा लघु इतिवृत्त रचा है, वह उनकी क्षमता के प्रति आश्चर्य करता है। आखिर यह कोई 'युद्ध और शांति' (तॉल्सताय), 'झूठा सच' (यशपाल), 'खरीदी कौड़ियों के मोल' (विमल मित्र), या काल कथा (कामता नाथ) जैसा वृहदारण्यक नहीं, 'एक कस्बे के नोट्स' हैं।

पचासों पग बाधाएँ हैं, परिवार की भी, समाज की भी, निजी भी, जिन्हें धत्ता बताते हुए चौथी बेटी (नायिका) आगे बढ़ती रही। पहले उसने गरीबी और ढाबे से जुड़े झेंप को झाड़ा, फिर कॉलेज का चुनाव जीता, मोटर साईकिल चलाना सीखा, भोपाल जाकर परिवार से अलग रहकर एम. ए. किया, शादी कर लेने के तमाम दबावों के आगे समर्पण नहीं किया। पर इतनी आसानी से

नहीं हो गया यह सब; खासकर शादी से इनकार। यह दुस्साहस कल्पनातीत था कस्बाई परिवार के लिए। रिश्तेदारियों तक पर आफत आ गई, प्रगतिशील पिता भी विरुद्ध हो गए, मगर वह अपने संकल्प पर अडिग रहीं। अपने लिथड़े पंखों को झाड़कर उड़ान भरता परिंदा, कहीं अंधेरे में टकराता, कहीं राह भूलता, भटकता आखिर अपनी मंजिल पा ही लेता है। न सिर्फ खुद की बल्कि पिता के संघर्ष की आबरू रख लेती है नायिका। इस धनात्मकता पर उपन्यास का समापन उसका एक विशिष्ट पक्ष है।

'एक कस्बे के नोट्स' को स्त्रीवादी, आंचलिक, पिता-पुत्री संबंधों जैसे प्रचलित खान्चों में डालना जल्दबाजी होगी।

बुंदेली में पगी हिंदी मोहक है, सौंधी भी और जहां-जहां नीलेश की अपनी कवयित्री का संस्पर्श है, वहां एक दूसरे किस्म की सुगंधि—

'कभी न पूरे होने वाले स्वप्न हमेशा सबसे ज्यादा मोहक होते हैं। खोई हुई चीजों की तरह। कुछ चीजें और कुछ जगहें छूटने के लिए अभिशप्त होती हैं। वे कभी भरी नहीं जातीं...।'

उपन्यास की बेहतरीन भूमिका प्रसिद्ध कवि विष्णु खरे ने लिखी है, भले ही हम उनकी इस राय से पूरी तरह इत्तेफाक नहीं रख सकते कि भारत धीरे-धीरे अब कस्बों/छोटे शहरों में बस चुका है। गांव देहात को वह कभी का छोड़कर निकल आया है...। अलबत्ता विष्णु जी की इस बात में दम है, 'हिंदी लेखन से एक झटके से कस्बा काट दो, वह हलाल हो जाएगा।'

चलते-चलते एक दुर्वासावत टिप्पणी उन्होंने लोकवादी कथाकारों के (कोष्टक में शब्दार्थ देने) पर जड़ ही दी जो उलटकर उनके ज्ञान और संज्ञान को भी घेरती है। इस पर फिर कभी...अभी तो नीलेश रघुवंशी को एक अच्छे उपन्यास के लिए साधुवाद।

एक कस्बे के नोट्स/नीलेश रघुवंशी/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ` 350

अक्षर प्रकाशन, 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

सैनिक के बहाने कठोर जीवन के यथार्थ की ऐंठन

अमिय बिंदु

लि

यो टालस्टॉय की अमर कृति 'वार एंड पीस' और निकोलो मैकियावेली के 'प्रिंस' से लेकर रामधारी सिंह दिनकर

की अमर रचना 'कुरुक्षेत्र' तक युद्ध की समस्या साहित्य में अनेक कोणों से आती रही है। कवि-कथाकार हीरालाल नागर के उपन्यास 'डेक पर अंधेरा' में नई बात यह है कि यह एक सैनिक के बहाने युद्ध के दौरान जिए जाने वाले कठोर जीवन के यथार्थ की समस्त ऐंठनों का मर्मस्पर्शी आख्यान प्रस्तुत करता है। वैसे भी आधुनिक काल के युद्ध को नायक बनाकर हिंदी में शायद ही उपन्यास लिखे गए हों, दूसरे किसी सैनिक की दृष्टि से तो ऐसे आख्यान हैं ही नहीं। पत्रकारों, राजनयिकों या सैन्य अधिकारियों के संस्मरण या कहानियां जरूर मिलती हैं लेकिन एक हवलदार स्तर के सैनिक की दृष्टि से यह उपन्यास हिंदी साहित्य के लिए सर्वथा नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। वैसे तो साहित्य की किसी भी विधा में एक साधारण सैनिक की दृष्टि सुलभता से नहीं मिलती, न सैनिक को पढ़ने-लिखने वाला ही समझा जाता है और न तो उसे इतना संवेदनशील 'छोड़ा' जाता है कि वह युद्ध को किसी और नजरिए से देख सके। देवानंद की फिल्मों में सैनिक बने देवानंद की मानवीय दृष्टि अक्सर जग जाती है और वे युद्ध को मानवता के लिए अवांछनीय मानने लगते हैं लेकिन इस उपन्यास में गहरी संवेदनशीलता के बावजूद ऐसा कोई अति-आदर्शवादी धरातल नहीं मिलता।

उपन्यास का नायक संजय चौगलिया भारतीय सेना में हवलदार है जो तकनीकी विंग में है और रेडियो कम्प्यूनिवेशन का कार्य देखता है। युद्ध के सैन्य अभियान वाले

स्थानों पर रेडियो सिस्टम स्थापित कर नियंत्रण कक्षों के बीच आपसी तालमेल रखने और सूचनाओं के आदान-प्रदान की जिम्मेदारी उसे मिली है, जिसे वह बखूबी निभाता है। सेना में है, तो लड़ने का भी प्रशिक्षण प्राप्त किया है और आस-पास गिरने वालों बमों और गोलियों के बीच रहने की आदत भी है। वह किसी वृद्ध को जासूसी के संदेह में मारने पर विचलित होता है, उसका अंतर्मन कांप जाता है, उसे घिन आती है लेकिन उसका मन युद्ध या सेना की आवश्यकता पर कहीं सवाल नहीं करता।

आज राजनीतिक व्यवस्था बहुत जटिल हो चुकी है जिसका स्पष्ट संकेत इसी बात में देखा जा सकता है कि 'शांति रक्षक सेना' जैसी संस्थाएं-संरचनाएं भी अस्तित्व में आ चुकी हैं। पश्चिमी देश और मुख्यतः अमरीका तो इसका प्रयोग बहुतायत से करता है।



शांति बहाली के लिए किसी भी देश की सेना का मजबूत होना जरूरी होता है लेकिन जब अपने ही देश में, अपने ही लोगों के किसी लड़ाकू समूह के खिलाफ सेना का इस्तेमाल किया जाता है तो स्थिति एकतरफा नहीं रह जाती। इस कठिन परिस्थिति में हर कदम के लिए तैयार रहना पड़ता है। साथ ही अपनी जरूरत और उसके औचित्य को सिद्ध भी करना पड़ता है। सामने वाला गोलीबारी करे तो आप यह कहकर निष्क्रिय नहीं रह सकते कि आप शांति रक्षक सेना के सैनिक हैं।

हीरालाल नागर का यह उपन्यास हिंदी साहित्य के लिए एक अनदेखी दुनिया को उजागर करता है। जहां श्रीलंका के जाफना, वावूनिया, किलोनोची व मन्नार के जंगल हैं तो वन्ननकुलम, इलुथुमड्डुवल, तम्पाकामम्, इटाविल, मल्लीकुलम और तरमापुरम के गांव हैं। लेकिन इनका सौंदर्य वह साहित्यिक सौंदर्य नहीं है जिससे हिंदी जगत् परिचित है बल्कि यहां पर कदम-कदम पर बीहड़ हैं, खतरे हैं, जोखिम हैं और आशंकाएं हैं। सुनसान जंगल में सैनिक चारों ओर 'दुश्मनों' से इस तरह घिरे रहते हैं कि उन्हें कुछ पता ही नहीं चल पाता। ए. के. सैतालिस और ए. के. छप्पन की गोलियां सामने आकर इस तरह से गिरती हैं जैसे रबर की गोलियां हों, जो घायल भी नहीं कर पातीं। मुश्किल यह कि दुश्मन की स्थिति का पता नहीं चलता लेकिन दुश्मन को आपकी हर गतिविधि की सूचना रहती है। दूसरी विडंबना यह कि दुश्मन वास्तव में दुश्मन नहीं बल्कि अपने ही बिगड़े हुए लोग हैं जिनका सफाया नहीं करना है बल्कि उनसे हथियार छीनकर उन्हें निहत्था करना है। खुद को भले ही यह युद्ध न लगे लेकिन जिनको

हथियार छीनकर निहत्था किया जाना है, वे तो इसे अपने अस्तित्व के लिए संकट की तरह मानते हैं।

हम अपने घरों में इतने महफूज कितने सैनिकों की कीमत पर बैठे हैं, इसका थोड़ा-थोड़ा अंदाजा यह उपन्यास देता है। कोई सैनिक बीमार मां को छोड़कर गया है, किसी सैनिक की बहन की शादी है और वह घर नहीं आ पाता, किसी सैनिक का परिवार उसकी पूर्व पोस्टिंग वाली जगह पर है और वहां उसकी सुरक्षा के लिए कोई नहीं है, किसी की सगाई हुई है और श्रीलंका पोस्टिंग जाने पर लड़की वाले कहते हैं कि शादी श्रीलंका से लौटने पर ही होगी, बीच की छुट्टियों में नहीं। निश्चित रूप से जोर यहां सही सलामत लौटने पर है। यहां हिंदी फिल्मों वाली वह बात नहीं है कि नायिका ने एक बार जिसको चुन लिया है तो वह आधा-अधूरा-अपाहिज या सही सलामत, चाहे जैसा भी आए उसी से विवाह करेगी।

यह मान्यता तो जैसे स्थायी हो चुकी है कि सैनिक असंवेदनशील होते हैं बल्कि उन्हें संवेदनशील होना ही नहीं चाहिए। उपन्यास का नायक सैनिक होते हुए भी कविताएं और कहानियां वगैरह लिखता है, यह बात जब अफसरों को पता चलती है तो उस पर एंक्वायरी बैठती है, जांच होती है। सैनिकों के इस हद तक मशीनीकरण के बाद उनसे यह भी अपेक्षा रखी जाती है कि वे नागरिकों के प्रति अतिशय संवेदनशील रहें, महिलाओं का सम्मान करें, खेती की रक्षा करें, व्यापार को क्षति न पहुंचाएं। दूसरी ओर युद्ध में किसी प्रकार की ढील देने की मनाही भी है। सैनिक इस तरह से आदेशों को मानने के लिए प्रशिक्षित हैं कि एक बूढ़े को जासूसी के शक में मार देना न तो जवानों को गलत लगता है और न अफसरों को। जासूसी के शक में जब महिलाओं को गिरफ्तार किया जाता है तो उनसे किस तरह व्यवहार किया जाता है इसकी दिशा तय की जाती है लेकिन जब एक साधारण सैनिक पन्सिल्वन को जाफना की एक लड़की से प्यार हो जाता है तो उसका कोर्टमार्शल कर दिया जाता है।

युद्ध या युद्ध जैसी परिस्थिति भी बहुत खतरनाक होती है। अपने साथियों को मरते हुए देखना, उनके शवों को पड़ा हुआ देखते हुए आगे बढ़ना और फिर पूरा आक्रमण भी

न करना क्योंकि आप शांति सैनिक हैं, कितना पीड़ादायक और दारुण दृश्य होता होगा। ऐसे समय में भी अफसर और जवान का भेद बचा रहे तो वह सैनिकों के लिए और भी घातक हो जाता है। कभी-कभी जब अफसरों को अपनी मौत सामने दिखती है तो भले ही थोड़ी देर के लिए वे 'बड़ा खाना' व 'छोटा खाना' का भेद भुला देते हैं लेकिन अक्सर जवानों को उंगलियों पर नचाते हैं, छुट्टियां नहीं देते, गलतियों का ठीकरा उनके सिर फोड़ते हैं। कोर्टमार्शल करते हैं। और तो और, ट्रांजिट कैंपों में भी उनको लटकाकर रखते हैं। ऐसी स्थिति में भी जीवन के प्रति उत्साह बनाए रखना और जूझते रहना कितना दुष्कर होता होगा। कोई सैनिक राम-राम लिखकर ऐसी स्थिति का सामना करता है, कोई किताबें पढ़कर, कोई खुद को व्यस्त रखकर तो कोई खुद को अपने कर्तव्यों के प्रति इस कदर दृढ़ रखते हैं कि खुद को ही भुलाने में कामयाब हो सकें।

लेखक ने एक सैनिक के बरअक्स इस बात की गहराई को समझा है कि जवान का सबसे खुशनसीब दिन वह होता है, जिस दिन वह छुट्टी पर जाता है और सबसे बुरा दिन वह, जब वह छुट्टी से वापस आता है। केवल इतना ही युद्धरत सैनिकों का पक्ष नहीं है बल्कि इस छुट्टी के लिए भी किस-किस तरह के कार्य किए जाते हैं इसकी भी झलक उपन्यास में मिलती है। कुछ जवान जो सामने आ जाए उसे ही अवसर मानकर चलते हैं और युद्ध जैसे माहौल के लिए तरसते भी हैं। युद्ध के समय लूट, जबरदस्ती, सामानों की बिक्री, शराब की उपलब्धता आदि ऐसे तत्त्व हैं जिन पर उनकी नजर रहती है। लेखक ने हालांकि एक नाटकीय घटना से ऐसे दुष्कर्मों की सजा के रूप में अपने मित्र एन. के. सिंह को घायल होते हुए दिखलाया है लेकिन सच्चाई इतनी सतही नहीं है। अराजकता और भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे ऐसे बहुत से लोग हैं जिनका बाल भी बांका नहीं हो पाता और यही बातें अधिकांश कमजोर और सत्यनिष्ठ लोगों के ईमान को डगमगाने के लिए काफी होती हैं।

उपन्यास का पूरा कथानक लिट्टे के विरुद्ध भारतीय शांति सेना द्वारा चलाए गए 'ऑपरेशन पवन' की पृष्ठभूमि में है और यह

अभियान पूरे उपन्यास में विन्ध्यस्त है। इसमें प्यार है, दर्द है, परिवार के कष्ट हैं लेकिन किसी की व्यक्तिगत कहानी नहीं है, किसी का रुदन नहीं है। उपन्यास दिखलाता है कि युद्ध के लिए सीमा पर या दूसरे देशों में जाने वाले सैनिकों के परिवार उनके बेस स्टेशन या फिर गांवों में छूट जाते हैं। यह छूटना हर तरह से छूटना होता है। मेडिकल सुविधा का अभाव, सामान्य स्कूली शिक्षा में व्यवधान या फिर रोज-रोज के खर्चों के लिए दूसरों का मुंह जोहना उनकी सामान्य नियति होती है। पूरे उपन्यास में कथानक विस्तार के लिए एक सैनिक की दृष्टि ही जिम्मेदार है। भले ही इसमें जंगल हैं, नदियां हैं, पहाड़ हैं, शहर हैं और बाजार हैं लेकिन इन सबकी मौजूदगी महज़ उतनी ही है, जितने का इस्तेमाल सेना करती है। जैसे किस पहाड़ी के नीचे, पीछे या ऊपर ठिकाना बनाया जा सकता है? जंगल में छिपकर कहां रहा जा सकता है? नदी को पार कैसे किया जाना है? शहर में कितनी देर तक ठहरना है? स्थानीय लोगों से कितना मेलजोल रखना है? या फिर कितना चौकन्ना रहना है? इन सभी प्रश्नों से उपन्यास की घटनाओं का सामना होता है। लेकिन इसमें नायक के रूप में ऑपरेशन पवन ही उभरकर सामने आता है।

उपन्यास का मुख्य पात्र संजय चौगलिया केवल सेना को बढ़ते हुए चित्रित नहीं करता, बल्कि बातों का, घटनाओं का विश्लेषण भी करता चलता है। कहने का सलीका ऐसा है कि किसी को भी आकर्षित करता है और पढ़ने वाले को लगेगा कि वह भी शांति सैनिकों की तरह छुपकर आगे बढ़ रहा है। 'कहना' की यही स्वाभाविकता लेखक की भी सफलता है। संजय चौगलिया बहुत ही सहजता से इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता है कि भाषा ही वह सेतु है जो हमें अपना या एक बनाती है और वही भाषा फिर हममें अलगाव पैदा करने के लिए भी जिम्मेदार है। इस निष्कर्ष तक पहुंचना कहीं से भी थोपा हुआ नहीं लगता। क्योंकि भारतीय सैनिक सभी राज्यों के सैनिकों के साथ उठते-बैठते हैं और सभी भाषा-भाषियों से उनका सामना होता है। इसी तरह एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी वह सहजता से सामने रखता है कि 'तुम डरे हुए हो इसलिए

राम नाम लिखते हो। जब तुम्हारा डर खत्म हो जाएगा, राम नाम लिखना बंद कर दोगे।' मुख्य पात्र संजय चौगलिया भी उसी अभियान का अंग है लेकिन वह उतने ही साक्षी भाव से घटनाओं का वर्णन करता है जितनी दूरी भोगने वाली और रचना करने वाली मनीषा में होनी चाहिए।

उपन्यास की एक बड़ी सफलता यह भी है कि वह व्यक्तिगत दस्तावेज नहीं बनने पाया है। पूरे उपन्यास में किसी को नायक और किसी को खलनायक साबित करना मूर्खता होगी। यहां तक कि परिस्थिति भी अगर नाटकीयता उत्पन्न करती है, तो उपन्यास के असर को आगे बढ़ाते हुए ही। इस स्तर पर यह नाटकीयता कथानक के लिए एक नई लीक खींचती है। उसी तरह जैसे असली जीवन में सब कुछ सहजता से होता जाता है। उसी प्रकार इसमें शांति सेना अपने सभी पक्षों के साथ सहज ही उपस्थित है। घटनाओं का सिलसिलेवार प्रस्तुतीकरण भी अभियान के आगे बढ़ने से जुड़ा हुआ है और भारत वापसी के साथ ही उसका अंत होता है। लगभग अंत में जाकर ही हम नायक की व्यक्तिगत जिंदगी के बारे में थोड़ा जान पाते हैं लेकिन फिर वही बात कि यहां भी दृष्टि सैनिक की है कि भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में मेडिकल सुविधा अच्छी नहीं मिल पाती जिससे उसकी जली हुई पत्नी की असमय मृत्यु हो जाती है।

सेना कोई मशीनी समूह नहीं बल्कि मानवीय समूह ही है। क्लाज़विट्ज़ जैसे सैन्यशास्त्र के कितने ही विद्वानों ने मनोबल पर जोर देकर आखिर यही तो साबित किया है। उसमें भर्ती हुए सारे लोग आजन्म कुंवारे रहकर देश-सेवा के लिए नहीं आते बल्कि अधिकांश मामलों में तो जीविका का दबाव होता है। एक परीक्षा पास कर कोई भी स्वस्थ व्यक्ति सेना में भर्ती हो सकता है। उसे अपने मनोभावों, स्वाभाविक इच्छाओं पर काबू करना या उसे बहलाना सिखाया भी नहीं जाता। इसलिए जहां भी सेना जाती है वहां सामूहिक कामुकता, सामूहिक जुगुप्सा, सामूहिक लोभ और सामूहिक हिंसा चलती है। ऐसा विश्व के हर कोने में होता है चाहे वह कोई शांति सेना हो या लड़ाकू सेना। इन दुर्भावों का प्रकटीकरण किस प्रकार होगा यह

तो परिस्थितियों पर निर्भर करता है। गोवा की अपनी पोस्टिंग के दौरान नायक देह की मंडियों का जिक्क करता है तो वतन की बेकारी, गरीबी और नैतिकता के पतन का घोर उदाहरण उपस्थित होता है। कैंपों में सामूहिक रूप से छिपकर ब्लू फिल्में देखना भी इसी प्रकार की कुंठा का एक पक्ष है। कुछ जवान गोवा या ऐसे ही दूरस्थ इलाकों में पोस्टिंग को एक अवसर की तरह देखते हैं जहां जीवित मांस की मंडियों का 'लुत्फ' लिया जा सकता है।

उपन्यास का नामकरण इसके कथानक के अनुरूप और सर्वथा उपयुक्त है। श्रीलंका जाने वाले सैनिकों को जहाजों के डेक पर जो अंधेरा मिलता है, उससे डरकर वे भीड़ में सबके साथ सो जाने पर बाध्य होते हैं। यही अंधेरा उन्हें पूरे श्रीलंका में दिखता है। श्रीलंका ही नहीं बल्कि लेखक की सफलता इस बात में भी है कि वह इस अंधेरे की व्याप्ति को सैनिकों के व्यक्तिगत जीवन और आचरणों तक खींच लाता है। यह अंधेरा दिनों-दिन और गहराता तथा व्यापक भी होता जाता है। युद्ध को कहीं-कहीं नवजीवन के लिए अच्छा माना जाता है लेकिन ऐसी कोई आशा की किरण कम-से-कम इस उपन्यास के आखिर तक तो नहीं ही दिखती। नायक कहता है 'युद्ध में पहले साहित्य और संस्कृति पर हमला किया जाता है, फिर स्थापत्य को उजाड़ा जाता है। फिर उसकी भाषा-बोली पर आक्रमण किया जाता है...'। उपन्यास का नायक कविमन है अतः वह विभिन्न परिस्थितियों में कविताएं भी लिखता है। वह लिट्टे के लड़ाकों पर भी कविता लिखता है। लेकिन इस बढ़ते अंधेरे की परिणति राजीव गांधी की हत्या में होती है। जहां हतप्रभ नायक इसको सपनों की हत्या कहता है। इस अंधेरे की गहराई को इस बात से महसूस किया जा सकता है कि हर परिस्थिति में खुद को रोशनी दिखलाने वाली 'रचना' को भी नायक अपने सभी संग्रहों से ही नहीं बल्कि अपने जीवन से भी बेदखल कर देना चाहता है। लेकिन हम मानव मन की सीमा भी जानते हैं कि छोटी-सी घटना को भी जीवन से बेदखल करना कितना कठिन होता है। फिर किसी राष्ट्र के लिए ऐसी किसी घटना को अपने जीवन से बेदखल करना कितना मुश्किल हुआ होगा?

डेक का गंभीर शुरूआती अंधेरा धीरे-धीरे गहराते हुए पूरे ऑपरेशन पवन को अपनी जद में ले लेता है। श्रीलंका की सेना और सरकार दोनों को ही भारतीय शांति सैनिकों की उपस्थिति अवांछनीय लगने लगती है। बिना कप्तान के जहाज के डेक का अंधेरा और भी डराता है। इसी तरह बिना किसी भरोसेमंद मार्गदर्शक के जीवन का अंधेरा भी डराता है। अघोषित युद्ध की नियति तो इससे भी बुरी होती है। "यह सैनिक कार्रवाई एल. टी.टी.ई. के खिलाफ नहीं, 'जंगल के खिलाफ' है" जैसे निष्कर्षात्मक वाक्य पूरी कायनात पर सवालिया निशान लगाते हैं। लेकिन जहां तक रचनाशीलता का सवाल है, युद्ध की पृष्ठभूमि में पनपी किसी कहानी की बजाय संपूर्ण अभियान को ही नायक बना देना और फिर उपन्यास को पठनीय बनाए रखना लेखक की अप्रतिम सफलता है। शास्त्रीय तुलना, लोकप्रियता और बिक्री को मापदंड बनाकर रचना की सफलता को मापने की जिद को इस उपन्यास के लिए स्थगित रखा जा सकता है। अपने समकालीन यथार्थ के एक अंधेरे कोने से रू-ब-रू होने के लिए, सीमा पर कर्त्तव्यरत अपने जवानों के जीवन में झांकने के लिए, साहित्य में प्रयोगों की झलक पाने के लिए या फिर कथानक के नए अभिन्यास को महसूस करने के लिए यह उपन्यास जरूर पढ़ा जाना चाहिए। इसमें एक ऐसे प्रयोग की झांकी मिलती है, जो उपन्यास लेखन को एक नया विस्तार देती है। शिल्प के स्तर पर देखें तो 'वार एंड पीस' के बारे में कही गई लियो टालस्टाय की बात यहां भी लागू होती है कि यह हो सकता है कि उपन्यास हो, हो सकता है कि किसी हद तक इसमें कविताई भी हो और यह भी संभव है कि इसे एक ऐतिहासिक वृत्तांत मान लिया जाए। विधाओं के आपस में घुल-मिल जाने ने 'डेक पर अंधेरा' को और ज़्यादा खूबसूरत बनाया है। कुल मिलाकर न सिर्फ पठनीय, बल्कि एक संग्रहणीय उपन्यास है यह।

डेक पर अंधेरा/हीरालाल नागर/किताबघर, 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 400

8वीं/2, एन.पी.एल. कॉलोनी, न्यू राजेंद्र नगर, नई दिल्ली-110060, मो. 09311841337

हमारे विपर्ययस्त समय की उतनी ही विपर्ययस्त दास्तान

सत्यप्रकाश पाल

आ

ज के इस कशमकश समय में जीवन कहां से शुरू हो जाए और कहां खत्म हो जाए यह कहना बड़ा ही मुश्किल है क्योंकि जीवन एक यात्रा है, जीवन को अपने ढंग से जीना चाहिए लेकिन इसे लोग कहते भर हैं क्योंकि जिंदगी उनके बस में नहीं है। जिंदगी तो कभी समान चल नहीं सकती। जिंदगी के अपने भी कायदे कानून हैं। कभी वह राजा के रूप में तो कभी फकीर के रूप में नजर आती है। कथाकार श्रीराम दूबे का यह उपन्यास 'उम्र भर लंबी सड़क' कुछ ऐसी ही परतों को खोलता है कि एक व्यक्ति कहां-से-कहां पहुंच जाता है। और राजनीति की उठापटक में सत्ता का केंद्र बिंदु बन जाता है। परिधि पर रहने वाला व्यक्ति जब सत्ता के केंद्र में चला जाता है तो वह परिधि के लोगों का ख्याल छोड़ देता है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास के माध्यम से एक जन जागरण का अभियान भी छेड़ा है जो कि आज के समय की महत्वपूर्ण मांग है। हमारे देश में एड्स की समस्या धीरे-धीरे गंभीर रूप लेती जा रही है और इससे बचाने के लिए जागरूक होना पड़ेगा क्योंकि एड्स लाईलाज बीमारी है। इसका बचाव ही सुरक्षा है।

समीक्ष्य उपन्यास की दुनिया बड़ी ही रंगीली है। शुरूआत में ही खुशबू सिंह के ढाबे का नौकर छोटू कैसेट लगाता है— 'आवड-आवड देखाई लहरदार दुनिया उज्जर रसगुल्ला, लाले लाल बुनिया।' उस ढाबे पर कोई शिक्षित जनमानस नहीं बैठता था जी. टी. रोड पर चलने वाले सभी ट्रक के ड्राइवर खलासी रुकते थे और ऐसे ही गानों को पसंद करते थे। चैंपियन ढाबे के मालिक खुशबू सिंह जिंदगी के फ्लैश बैंक में जाकर सोचते हुए कहता है कि—“मैं भी किसी

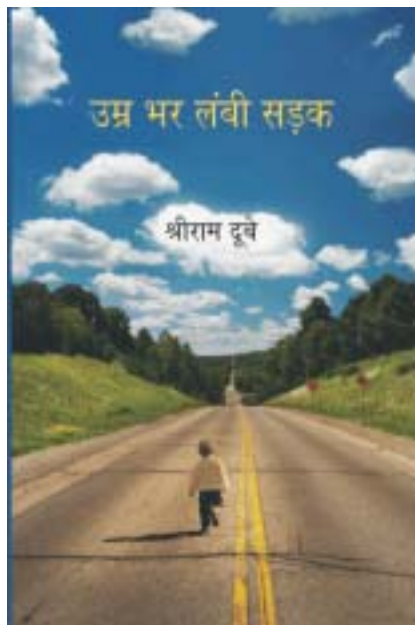
समय ट्रक ड्राइवर हुआ करता था और किस प्रकार परिवार और मालिक को खुश रखा जाता है यह मैं जानता हूं।” खुशबू सिंह पुलिस के पुलिसिया व्यवहार को बताते हुए यह कहना चाहते हैं कि ऊंचे ओहदे पर बैठे हुए अफसर या शासन के नुमाइंदे किस प्रकार इस भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। वेतन से पेट नहीं भरता तो ट्रकों की वसूली से उनका घर-परिवार चलता है। समीक्ष्य उपन्यास समाज में व्याप्त अंधविश्वास की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। ओझा-गुनियों ने किस प्रकार अभी भी लोगों को अपने तंत्र-मंत्र साधना में बांध रखा है। इस उपन्यास में बित्तू की बहू इमरती भी ननद फुलवा को लेकर ओझा के सामने जाती है। फुलवा को कोई संतान पैदा नहीं हो रही थी तो फुलवा ने ब्रहाबाबा के पास जाने का निर्णय लिया। ब्रहाबाबा कहते हैं कि—“बहुत कठिन है तुम्हारा गोद भरना। तुम पर तो तुम्हारे गांव

की एक बुढ़िया चुड़ैल बनकर सवार है। उसके रहते नहीं हरी हो सकती तुम्हारी गोद, बड़ा विकट मामला है तुम्हारा” इमरती की ननद के आगे बैठी हुई सुंदर-सी युवती को खा जाने वाली आंखों से निहारते हुए ओझा ने कहा।

इमरती की ननद को बाबा ने यही कहा। इमरती जब तक सब समझ पाती तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इमरती सोचने लगती है कि—“इ कबन पूजा है, अरहर के खेत में अकेले कौन अनुष्ठान होता है जो करना है सबके सामने करो। चुड़ैल सबके सामने उतरने में शरमाएगी का काहे अरहर खेत में उतारे ले जा रहे हैं। ये लोग राम जाने कौन-सा कर्मकांड करेंगे वहां मैं तो कभी नहीं जाती” अशिक्षा और अंधविश्वास ने अभी भी किस प्रकार समाज में अपना वर्चस्व स्थापित कर रखा है इसका यह सबूत है।

होली के त्यौहार पर किस प्रकार से परिवार वाले बाहर के परदेसियों को याद करते हैं कि घर में परदेसी के बिना सब कुछ अधूरा लगता है। बित्तू ट्रक ड्राइवर था और इमरती का पति बित्तू इस होली पर घर नहीं आ सका था और इमरती परेशान थी। बित्तू ने एक ट्रक पर लिखा देखा कि— “लिखा परदेस किस्मत में वतन को याद क्या करना जहां बेदर्द हाकिम हो वहां फरियाद क्या करना।” बित्तू यह सोचकर अपनी जिंदगी को लानत देता है।

उपन्यासकार ने बेड़ियों के चरित्र पर भी प्रकाश डाला है कि वह किस प्रकार अपनी जिंदगी जीती हैं और लोगों को अपने वश में करके उन्हें मौत के घर में डाल देती हैं। एड्स जैसी महामारी को वे रात के अंधेरे में ट्रक ड्राइवरों को इस बीमारी को सौंप देती हैं। इस बीमारी को जन जागरूकता



के माध्यम से ही दूर किया जा सकता है क्योंकि यह बीमारी अभी लाईलाज है। बिचू की पत्नी इमरती ने इस बीड़ा को उठाया और गांव-गांव जाकर वह इस बीमारी के बारे में प्रचार करने लगी। और जगह-जगह कैंप लगवाकर जांच करवाने लगी। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने कुछ अलग ढंग से कथा में रोमांच, सत्तावर्ग पर व्यंग्य और नेताओं की करतूतों पर समाज का ध्यान आकृष्ट कराया है।

ढाबे का मालिक खुशबू सिंह देखते-ही-देखते अपनी खुशबू (महक) चारों तरफ बिखेरने लगा। वह फर्श से अर्श पर जा पहुंचा। निर्दलीय प्रत्याशी बनकर विधानसभा का चुनाव जीत जाता है। बुनिया और छोटू की शादी करवाके खुशबू सिंह ने क्षेत्र के सभी लोगों का दिल जीत लिया। बुनिया को वह अपनी पुत्री मानने लगता है। और छोटू को ढाबे का कार्य सौंप कर वह सक्रिय राजनीति में हिस्सा ले लेता है। बुनिया को भी वह राजनीति की तिकड़मबाजी के द्वारा विधायक बनवा देता है। राजनीति में कोई किसी का सगा नहीं होता है। जहां पर किसी को कोई फायदा मिलता है वह उसी ओर भागता है क्योंकि आजकल अपना स्वार्थ लोग पहले देखते हैं। इस बाजारवादी समय में बिकने के लिए सभी लोग तैयार हैं। बस खरीददार चाहिए जैसा कि खुशबू सिंह जैसे कि ट्रक ड्राइवर विधायक बनने पर सरकार का भविष्य तय करने लगा क्योंकि दो विधायकों की कमी से सत्ता पक्ष की सरकार गिर रही थी तब खुशबू सिंह ने बुनिया को लेकर नई चाल चल दी और सूबे के उपमुख्यमंत्री बन गए और बुनिया को गृहमंत्री बनवा देता है।

आज के समय में राजनीति का स्वरूप बहुत ही घिनौना हो गया है। अवसरवादी राजनीति के माध्यम से आज के नेताओं की रोजी-रोटी चल रही है। अपना कोई सिद्धांत नहीं रह गया है। नेताओं के सिद्धांत मैले हो गए हैं। इसी की कड़ी इस उपन्यास में देखने को मिल जाती है। बलिया का ऐतिहासिक 'ददरी का मेला' जो कि बड़ा ही प्रसिद्ध एवं प्राचीनतम मेला था। उपन्यासकार का पैतृक जनपद भी है तो स्वाभाविक है कि उपन्यासकार अपने पैतृक जनपद की यादों को विस्मृत नहीं कर पाया है जो कि अपनी लोक और मिट्टी से जुड़ने का प्रमाण देती हैं। कोई व्यक्ति कितना भी

बड़ा हो जाए उसे अपनी जमीन नहीं भूलनी चाहिए लेकिन आज के समय में बहुत विरले ही मिलते हैं जो कि इन सब बातों का ध्यान रखें। धन दौलत मिला तो ठेंगे पर गया जमीर। खुशबू सिंह ऐसा ही रूपया पाकर वह अपने जमीर को बेच देता है और धीरे-धीरे रुतबा पाकर अपने चरित्र को भी भूल जाता है और ददरी के मेले में वह बुनिया से जलने लगता है क्योंकि बुनिया धीरे-धीरे मालिक के व्यवहार को जानने लगी थी कि मालिक उसके अब वो मालिक नहीं रह गए जो कि उसे बेटी कहकर उसकी शादी में 'कन्यादान' दिया था। खुशबू सिंह अब शराब-कबाब और शबाब का आनंद लेना शुरू कर देता है। इन्हीं गंदी हरकतों में संलिप्त होते हुए खुशबू सिंह अब अपने पुराने दिनों को भूल गया और मेले में वह अपनी बेटी (बुनिया) जिसे उन्होंने कन्यादान दिया था उसी से वह बलात्कार करने के लिए उसके बेड पर पहुंच जाता है। बुनिया भी खुशबू के इस रवैये से स्तब्ध रह जाती है। राजनीति में क्या-क्या हो सकता है इसका पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। बुनिया खुशबू सिंह के सभी घिनौने कार्यों को संजोकर एक सीडी बनाकर दूसरी पार्टी की दीदी जी के पास पहुंच गई। बुरे कर्मों का बुरा नतीजा इसी का परिणाम खुशबू सिंह को मिला और राजनीति के गलियारों में सदा से होने वाला परिवर्तन अपना रूप लेने लगा और बुनिया ने पार्टी बदलकर मुख्यमंत्री का पद लेकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया जो कि आज के समय में देखने को मिलता है। पार्टी कोई भी हो अपना भला जग माहीं क्योंकि अपना भला करने से ही नेताओं को फुर्सत नहीं है। और जनता को वोट के समय याद करते हैं।

निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह समीक्ष्य उपन्यास आज के संदर्भों को जिस रूप से विवेच्य करता है वह सराहनीय है। आज का समय भ्रष्टाचारियों, दुराचारियों, भ्रष्ट राजनीति करने वाले लोगों के मकड़जालों से उलझा हुआ समय है।

आज के इस भीषण समय में कौन किसकी पीठ में छुरा भोंक दे यह कोई नहीं जानता। इस उपन्यास में वही विशेषता है कि मनुष्य और उसकी नियति परिवर्तनशील होती है यह महत्त्वपूर्ण है। एड्स बीमारी को जनजागरूकता के माध्यम से प्रदर्शित करना एक सराहनीय पहल है। भाषा के

स्तर पर भी यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है उपन्यासकार के जिले के मिट्टी की खुशबू भी ददरी के मेले में बिकने वाली जलेबियाँ की तरह पाठक के मन मस्तिष्क में कौंध जाती है। उपन्यास की पठनीयता अंत तक बरकरार रहती है। कहना न होगा उम्र भर लंबी सड़क में जीवन के बहुविधरूप हैं पाप-पुण्य, सच-झूठ उन्मुक्त और बद्धता के साथ जिंदगी चलती चली जाती है। मालव क्षेत्र की सुसंस्कृति के बहाने उपन्यासकार भारतीय लोक जन-जीवन के अनेक रंगों को संश्लिष्ट कथा रस के साथ उतने ही समर्थ शिल्प में प्रस्तुत करते हैं।

उम्र भर लंबी सड़क/ श्री राम दूबे/ सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ` 495

शोध छात्र, हिंदी, बी.एच.यू., वाराणसी, मो. 09415410810, 09415314063

निवेदन

'पुस्तक-वार्ता' के समीक्षकों से मेरा निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें यथा—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का पूरा पता, पुस्तक का मूल्य, सजिल्द/ अजिल्द संस्करण का ब्यौरा। मुझे प्राप्त समीक्षाओं को संपादित करने में कठिनाई होती है क्योंकि समीक्षक सावधानी नहीं बरतते। यदि भविष्य में समीक्षक मेरे इस विश्वास की रक्षा करेंगे तो मुझे सचमुच सहूलियत होगी।

—संपादक

मंटो की सदी : लुप्त होती मानवता की तलाश

तरसेम गुजराल

इं

सानियत, मनुष्यता, मनुष्य का मनुष्य के प्रति मानवीय व्यवहार। यही तलाश रही सआदत हसन मंटो की उम्र भर। मज़हब, रंग, नस्ल,

जाति इस सबसे परे इंसान की इंसानियत। भविष्य दृष्टा मंटों के लिए साहित्य की कसौटी मानवीय संवेदनशीलता की कसौटी है। निज़ाम कोई भी हो, इंसानियत को कुचल डालता है। 'एक खत' कहानी में कहा गया—“तुमने बिल्कुल सही कहा है, तुम दर्द-भरा दिल रखते हो, हालांकि इसको अच्छा नहीं समझते।” मैं सबको अच्छा क्यों नहीं समझता? इस सवाल का जवाब इंसानियत को कुचलने वाले हिंदुस्तान का निज़ाम है, जिसमें लोगों की जवानी पर बुढ़ापे की मोहर लगा दी जाती है। (पृ. 144)

मंटो की कहानियां मनुष्य, समाज, मज़हब, नैतिकता निज़ाम के लिए विशेष संदेश देती हैं। वह बड़े स्वाभाविक कथाकार हैं। इसलिए सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण उनकी कहानियों का एक हिस्सा होकर मनुष्य की रूह की खुराक बन जाता है। निम्नवर्गीय मेहनतकश और हाशिए पर फेंके हुए मेहनतकश लोग, वेश्याएं, दलाल-भड़ुए, तांगा चलाने वाले, पाखंडों की रेत के नीचे से स्त्री-पुरुष सभी के मनोविज्ञान, सभी की सामाजिक स्थिति, सभी का एक्सरे मंटों की कलम से जिंदा हुआ है। मंटों ने साहित्य संबंधी धारणा अपने ढंग से व्यक्त की है— “अदब या तो अदब है, वरना एक बहुत बड़ी बेअदबी। जेवर या तो जेवर है, वरना बहुत ही बदनुमा शै है। अदब और गैर-अदब, जेवर और गैर-जेवर में कोई दरम्यानी इलाका नहीं है। यह जमाना नए

दर्दों और नई टीसों का जमाना है। लिखने वाले लिख रहे हैं—नया अदब! ज़बान वही है। सिर्फ लहजा बदल गया है।” मंटो का लहजा मनुष्य की विद्रोह भरी आत्मा को लफज देने का था।

रवींद्र कालिया ने इस किताब को सही नाम दिया है 'मंटो की सदी' उन्होंने मंटो को इस उप-महाद्वीप का निराला कथाकार कहा। वैसे तो मंटो उर्दू के अफसानानिगार थे, मगर हिंदी में भी कम लोकप्रिय नहीं हैं। आने वाली नस्लों ने मंटों को खूब पढ़ा। मंटो विश्व के उन चंद अफसानानिगारों में शुमार किए जाते हैं जिन्होंने केवल कहानी विधा के बल पर अदब में इतना बड़ा मुकाम हासिल किया। इस दृष्टि से वह चेखव, मोपांसा, ओ हेनरी की कतार में शामिल किए जा सकते हैं। (भूमिका, छह)

मंटो अपने जमाने की कथित नैतिकता को खंड-खंड करने के लिए यथार्थ का सहारा



लेते हैं। उन्हें नैतिकता भ्रष्ट और अश्लील लेखक कहा गया। उनकी छह कहानियों पर मुकदमे चले (ठंडा गोश्त, 'बू', 'धुआं', 'खोल दो', 'काली सलवार', 'ऊपर, नीचे, दरम्यान') सम्मन जारी किए गए, अर्दली की बुलाहट का इंतजार करने को कहा गया। जिल्लत, शंका, इलजामतराशी, क्या नहीं हुआ। मंटो तो कथित नैतिकता के बखिए उधेड़ रहे थे। उनके पास वेश्यावृत्ति, दौलत और मज़हब की सांठ-गांठ, गैर इंसानी सलूक इस सबके प्रति तीखा प्रतिरोध था। यही प्रतिरोध उनके अफसानों की जान है। वह साफ कहते हैं— “अगर आप इन अफसानों को बर्दाश्त नहीं कर सकते तो इसका मतलब ये है कि जमाना नाकाबिले बर्दाश्त है। जिस खराबी को मेरे नाम से संबद्ध किया जाता है वह दरअसल वर्तमान व्यवस्था की खराबी है।” उनके मुताबिक एक कलाकार को कटघरों में खड़ा कर जलील करने की जगह वे हालात क्यों नहीं खत्म किए जाते जो ऐसे साहित्य को जन्म देते हैं, जिन हालात से लेखक भावात्मक दंश झेलता रहता है—“जो लोग अश्लील साहित्य का या जो कुछ भी ये है, खात्मा कर देना चाहते हैं तो सही रास्ता यह है कि उन हालात का खात्मा कर दिया जाए जो इस साहित्य के प्रेरक हैं।”

कहानी 'खोल दो' की बेहोश सकीना को अस्पताल ले जाया जाता है। डॉक्टर कहता है 'कमरे की खिड़की खोल दो'। सकीना सलवार का कमरबंद खोल देती है, यह अश्लीलता का चित्रांकन है या सामाजिक त्रासदी की विभीषिका का जिसने चीजों के अर्थ बदल कर रख दिए हैं। मज़हब के आधार पर जातीय नफरत के तहत बर्बरता का यह प्रारूप जो बलात्कार करवा स्त्री की

अस्मिता, मानवीयता को कुचल डालता है, का स्पष्ट चित्रांकन यदि अश्लीलता है तो वह बर्बरता जो कोमल हृदय को तबाह कर देती है अश्लीलता नहीं है?

क्या मंटों इन और ऐसे अन्य वाहियात आरोप जो उनके जीवनकाल में आलोचक लगा रहे थे, (जिनकी आवाज और मकसद उनकी मृत्यु के बाद बदल गया) से परेशान नहीं थे?

कृष्ण चंद्र ने मंटों के स्त्री विषयक विचारों पर टिप्पणी की है... 'वह औरत की इज्जत का, उसके सतीत्व का और उसके घरेलूपन का जितना कायल है, कोई दूसरा मुश्किल से होगा। इसलिए जब वह औरत की इज्जत को जाते हुए देखता है, उसे अपना सतीत्व खोते देखता है, उसके घरेलूपन को मिटते हुए देखता है तो वह बेकरार हो जाता है और बेताब होकर जानना चाहता है कि ऐसा क्यों होता है और जब यह हर बार अपने निरीक्षण को काम में लाकर एक ही सिलसिले को, एक ही क्रम को, समाज की एक ही व्यवस्था को देखता है तो गुस्से में आकर उसे थप्पड़ मारना चाहता है। मंटो अपील का कायल नहीं, वह डराने और थप्पड़ मारने का कायल है।' (पृ. 27)

क्या यह मंटों की यंत्रणाप्रियता है?

इंसानियत आदि कसौटियों पर एक अन्य स्थल पर मंटो ने लिखा—“बहुत से आलोचक गुजर चुके हैं, लेकिन इस अदब से बेअदबियां दूर नहीं हुईं। बहुत से पैगम्बर आ चुके हैं, लेकिन इंसान एक दूसरे से संगठित नहीं हुआ। यह एक बहुत बड़ा दुखांत है, लेकिन मुसीबत यह है कि यह दुखांत ही इंसानियत की किस्मत है। उसकी जिंदगी और उसकी मौत, उसकी जवानी और उसका बुढ़ापा—यह दुखांत ही सआदत हसन मंटो है। यह दुखांत ही आप हैं। यह दुखांत ही सारी दुनिया है, जिसमें कसौटियां ज्यादा हैं और कसे जाने वाले लोग कम। जिसमें पत्थर कम हैं और सिर फोड़ने वाले ज्यादा।”

सत्ता के प्रपंच में एक संवेदनशील व्यक्ति की ही गुजर नहीं। मंटो तो संवेदनशील इंसान ही नहीं युग दृष्टा और युग की पीड़ा का ज़हर पीने वाले कथाकार थे। वे जो खुद को तबाह कर उम्र भर रचनाधर्मिता में डूबे रहते हैं उनके प्रति एक

संगठित समाज के तौर पर हमारा व्यवहार क्या होता है? कृष्ण चंद्र की आवाज से अपनी आवाज मिलाने हुए कहा जा सकता है—“यह कोई नई बात नहीं। हमने गालिब के साथ यही किया था, प्रेमचंद के साथ यही किया था, हसरत के साथ यही किया था और आज मंटो के साथ यही सलूक करेंगे, क्योंकि मंटो कोई उनसे बड़ा साहित्यकार नहीं था, जिसके लिए हम अपने पांच हज़ार साल की संस्कृति की पुरानी परंपरा को तोड़ दें। हम इंसानों के नहीं मकबरो के पुजारी हैं।” एक लेखक के कृतित्व से कला के सौदागर लाखों रुपये बनाते हैं। इस मुनाफाखोर व्यवस्था में रचियता को उसके काम का दसवां क्या, सौवां या फिर हज़ारवां अंश भी प्राप्त नहीं होता। इसी बात को लक्ष्य करते हुए वह कहते हैं—“आज दिल्ली में मिर्जा गालिब पिक्चर चल रही है। इस तस्वीर की कहानी इसी दिल्ली में, मोरी गेट में बैठ कर मंटो ने लिखी थी। एक दिन हम मंटों की तस्वीर भी बनाएंगे और उससे लाखों रुपये कमाएंगे। जिस तरह आज हम मंटों की किताबों के ज़ाली एडीशन हिंदुस्तान में छाप-छाप कर रुपये कमा रहे हैं। वे रुपये, जिनकी मंटों को अपनी जिंदगी में सख्त जरूरत थी।” (पृ. 31)

देवेन्द्र इस्सर ने मंटो की कहानियों के संदर्भ में कहा—“स्पष्ट है कि मनुष्य अपनी विकास यात्रा में इस मोड़ पर आ खड़ा हुआ है जहां उसके मनुष्य होने पर ही प्रश्न चिह्न लग गया है। मनुष्य का असली स्वरूप क्या है? यह देवता स्वरूप है या दावन प्रवृत्ति वाला है? वह अनादि पाप से ग्रस्त है या वह अपनी प्रवृत्ति का निर्माण स्वयं करता है? नियति तथा इच्छाशक्ति के द्वंद्व में सामाजिक परिवेश और भाग्य रेखा की क्या भूमिका है? वह सर्वश्रेष्ठ प्राणी है या कोई तुच्छ व्यक्ति? पशु है या मात्र शून्य? ये सब मंटो की कहानियों में दिखाई देते हैं।” (पृ. 243)

नैतिकतावादियों ने मनुष्य के विधेयक को ही चुना परंतु क्या निषेध व्यक्ति के स्वभाव में नहीं छुपा हुआ है? कामू ने निषेध और विधेयक को एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह सामने रखा। मंटों की कहानियों को ‘नान बीइंग’ के अस्तित्ववादी

सवाल से परखा गया और कुलवंत कौर की कामुकता तथा ईर्ष्या को ‘बीइंग’ को बहाल करने में असफल माना गया। परंतु मंटो अपने सृजन को इंसानियत की लौ में जिस तरह रखते हैं वह मानवीय गरिमा को बचा ले जाते हैं चाहे ज़हन पर सवालिया निशान छोड़कर ही सही। ‘कहानी स्वराज्य के लिए’, के गुलाम अली का स्वर मंटों का ही स्वर नहीं है? जो इंसान को इंसान रहने देना चाहता है?

नीलाभ ने ‘आज भी प्रासंगिक हैं मंटो’ लेख में मंटो की कहानियों के समाज और व्यक्ति के आपसी रिश्तों को बड़े गौर से देखा है। कहते हैं—“मंटों की कहानियों के संबंध में एक और बात, जो बार-बार उभर कर सामने आती है, वह है समाज और व्यक्ति के आपसी रिश्ते, उनके परस्पर टकराव का सूक्ष्म चित्रण अपनी सारी समाजपरकता और सोदृश्यता के बावजूद मंटो ‘व्यक्ति’ का सबसे बड़ा हिमायती है। जहां वह व्यक्ति के रूप में आदमी द्वारा समाज पर किए गए हस्तक्षेपों के प्रति गाफिल नहीं है, वहीं वह उन असहज दबावों के भी खिलाफ है, जो समाज की ओर से व्यक्ति को सहने पड़ते हैं। समाज द्वारा व्यक्ति की आज़ादी के मूल में अधिकारों के हनन को मंटो एक जुर्म समझता है, उसी तरह जैसे व्यक्ति द्वारा जनता के शोषण को।” नीलाभ ने इसके उदाहरण के लिए मंटों की दो कहानियों ‘नंगी आवाज़ें’ और ‘स्वराज्य के लिए’ को चुना है। उनके अनुसार मंटो की धारणाएं कितनी सही थीं, यह ‘आज़ादी के इन पच्चीस वर्षों में गांधीवाद पर बहस नहीं करतीं वरन् उसे प्रतीक रूप में लेकर वह उन सारे वादों पर भी चोट करती हैं जो आदमी को नेक काम करने के लिए मदारी का चोला पहना देना चाहते हैं।

मंटो ने सियासत के ढोंग और गैर जिम्मेदाराना व्यवहार पर बार-बार हमले किए। एक जगह कहा—“मेरी समझ में बहुत-सी चीजें और बातें ऊपर की हैं, मैं अमरीका की हवस और साम्राज्यवादी रुझान समझ सकता हूं, मुझे रूस के हथौड़े और उसकी दरांती के निशान का असली मतलब समझ में आता है, लेकिन यहां मेरे मुल्क में जो कुछ हो रहा है, मेरी समझ और सोच

से ऊपर की बात है। हो सकता है जो कुछ आज मेरी नज़रों के सामने हो रहा है, बहुत ऊंचा हो। लेकिन यह भी हो सकता है कि बहुत नीचा हो। बहरहाल मुझे इस बात का हमेशा अफसोस रहेगा कि मुझे समझने वाला कोई नहीं मिला।”

‘मंटो की सदी’ में ‘सआदत हसन की निगाह में मंटो’ मंटो का संस्मरण संकलित है। उसमें मंटो ने बताया कि यह वैशाख नंदन (मंटो) कहानीकार कैसे बना? कहते हैं कि लेखक रचनाकार बड़े लंबे-चौड़े लेख लिखते हैं। अपने व्यक्तित्व का प्रमाण देते हैं। शोपनहावर, फ्रायड, हीगल, नीत्से, मार्क्स का उल्लेख करते हैं, मगर वास्तविकता से कोसों दूर रहते हैं। मंटो का कथानक दो विरोधी तत्त्वों के संघर्ष का परिणाम है। उसके पिता, खुदा उन्हें माफ़ करें, बड़े कठोर थे और उसकी मां अत्यंत दयावान। इन दोनों पाटों के बीच पिसकर यह गेहूं का दाना किस रूप में बाहर निकला होगा, इसका अनुमान आप लगा सकते हैं। इस कथन से जाहिर है कि मंटो महानता बोध से मुक्त हैं। कथित बौद्धिकता का वाग्जाल उन्हें पसंद नहीं और कहानियां मुहब्बत और नफरत, विनम्रता और कठोरता, विष और अमृत के सम्मिलन की ही उपज हैं।

‘मंटो की सदी’ में संग्रहीत अजय तिवारी के लेख का शीर्षक है ‘मानवतावादी कथाकार मंटो।’ कहते हैं कि मंटो आर्थिक संबंधों के प्रति भी सचेत हैं और सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ बिंदु के प्रति भी। इसकी झलक बराबर उनकी रचनाओं में मिलती है। लेकिन वे जाति-धर्म-वर्ग-संप्रदाय-राष्ट्र-नस्ल से परे मनुष्यता की सामान्य कसौटी खोजने के प्रति सचेष्ट हैं। उनका आग्रह भी उनमें बराबर मौजूद रहता है। मंटो के समय की मची अफरा-तफरी की पकड़ के लिए वह मंटो की कहानी ‘काली सलवार’ के मुकदमें के दौरान मंटो के लेख ‘अफसाना-निगार और जिंसी मसाल’ की कुछ पंक्तियां सामने रखते हैं, “दुनिया एक बहुत बड़ी करवट ले रही है। हिंदुस्तान भी, जहां आबादी का नन्हा-मुन्ना बच्चा गुलामी के दामन से अपने आंसू पोंछ रहा है, मिट्टी का नया घरोंदा बनाने के लिए ज़िद कर रहा है—मशरिकी (पूर्वी) तहजीब की चोली के बंद कभी खोले



जाते हैं, कभी बंद किए जाते हैं। मगरिबी (पश्चिमी) तहजीब का गाज़ा कभी हटाया जाता है, कभी लगाया जाता है। एक अफरा-तफरी-सी मची है— नए खटबुने पुरानी खाटों की मूंज उधेड़ रहे हैं, पुराने खटबुने चिल्ला रहे हैं।” (पृ. 255)

नरेंद्र मोहन ने ‘सो गए दास्तां कहते-कहते’ लेख में हमीद जलाल की चंद जरूरी पंक्तियां दर्ज की हैं—उन जैसी शख्सीयतों के लिए जिंदगी और मौत के बीच का फासला बहुत ही मामूली और नामालूम होता है और यही होना भी चाहिए, क्योंकि उनकी जिंदगी और रूह तो पहले ही उनके जिस्म से उनकी किताबों में दाखिल हो चुकी थी।

‘मंटो की सदी में’ मंटो की दस कहानियां शामिल की गई हैं। उपेंद्रनाथ अशक का सुंदर संस्मरण—‘मंटो : मेरा दोस्त, मेरा दुश्मन’ के अतिरिक्त मंटो के संस्मरण तथा जसविंदर कौर बिंद्रा का संस्मरण शामिल है। गोपीचंद नारंग, विजयमोहन सिंह, शम्सुल हक उस्मानी तथा कृष्ण मोहन के लेखों में मंटो की जीवन शक्ति, कहानियों की अनेकायामी शक्ति पर बात की गई है। संपादक रवींद्र कालिया ने उर्दू हिंदी का भेद मिटाते हुए मंटो को विश्व के गिने-चुने कथाकारों में शुमार किया। मंटो की प्रासंगिकता और पुनर्मूल्यांकन का आधार उनकी मानवतावादी दृष्टि हो सकती है।

मंटो की सदी/संपा : रवींद्र कालिया/भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ` 350

डब्ल्यू.एम./26, बस्ती गुजां, जालंधर-2, मो. 09463632855

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने— एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

चिंताओं और पठनीयता का संगम

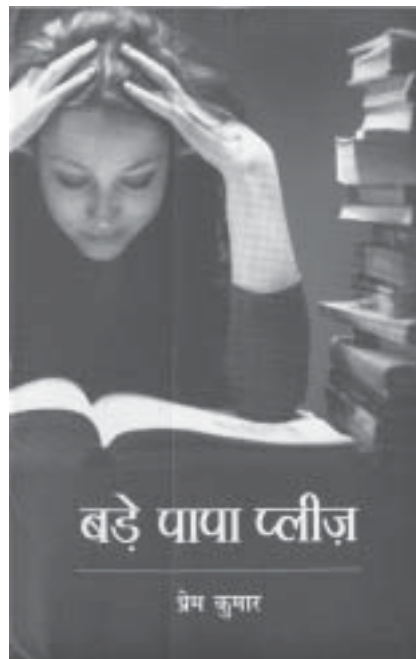
मधुरेश

इ

स स्वीकृति से ही बात करना ठीक होगा कि काफी टालते रहने और अनेक आशंकाओं के बीच ही प्रेम कुमार की इन कहानियों को पढ़ना शुरू किया था। लेकिन धीरे-धीरे कहानियों की खुलती गई दुनियां मन को बांधने और पकड़ने लगी। प्रेमकुमार की ये कहानियां किसी आंदोलन या विमर्श से जुड़ी कहानियां नहीं हैं। राजनीतिक स्तर पर भी ये बहुत सजग और परिवर्तनकारी कहानियां नहीं हैं। लेकिन वे आस-पास के लोगों से संवाद करती कहानियां जरूर हैं। एक बड़ी समयावधि को समेटती ये कहानियां अनेक जीवंत और रंगारंग पात्रों से हमें रू-ब-रू कराती हैं। इस अर्थ में इन्हें पात्रों की वापसी की कहानियां भी कहा जा सकता है। ये अपने समय को देखती और जीती कहानियां हैं, जिनमें अप्रिय और मन-विरुद्ध स्थितियों पर खुली और स्पष्ट टिप्पणियां भी विन्यस्त हैं। इनमें बच्चों को एक बड़ी जगह मिली है और उनके मन पर शिक्षा के दबाव और आतंक के फलस्वरूप जाड़े की धूप सी खिलती और फूलों की वास-सी फैलती-बहती उनकी जिंदगी के आगे खड़े संकटों की टोह भी लेती देखी जा सकती है। कुल मिलाकर ये ऐसी कहानियां हैं जिनमें भरपूर पठनीयता के साथ अपने तरह की चिंताएं हमें बांधती और पकड़ती हैं।

पात्रों को केंद्र में रखकर ये कहानियां कैसे चलती हैं, इसका एक प्रतिनिधि उदाहरण संग्रह ही पहली कहानी 'कैसिट्स हीर की भतीजी के' है। यह एक वृद्धा स्त्री पर केंद्रित कहानी है, जिंदा होने पर पति जिन्हें 'जगत्माता' कहकर चिढ़ाते थे। अपने लंबे जीवन में उन्होंने बहुत कुछ देखा है। आज

भी बचपन और किशोरावस्था की यादों के रूप में मुल्तान, झंग, लाहौर और फिर विभाजन की बेशुमार यादें उनमें जिंदा हैं। पति आर्यसमाजी थे जो आगरा के पास के किसी गांव से नौकरी करने पंजाब आए थे। पहली पत्नी के निधन के बाद सुमन जी के जीवन में वे दूसरी पत्नी के रूप में आई थीं। इस विवाह और विभाजन की उथल-पुथल का दौर एक ही होने पर वह छूटा हुआ पंजाब उन्हें फिर नसीब नहीं हुआ। लेकिन उसकी स्मृतियां आज भी उन्हें बेचैन करती हैं। जीवन में घटित इस परिवर्तन का संकेत देते हुए वे कहती हैं, 'शादी के बाद हमारी पूजा छूटी, व्रत-त्यौहार छूटे, मंदिर छूटा, छुआ-छूत छूटी। जादू-टोने, तंत्र-मंत्र को कभी नहीं माना। छूटे का भी मलाल इसलिए नहीं हुआ कि उससे ज्यादा वे दिलवाते रहे...' (बड़े पापा प्लीज़, पृ. 17) आज उनके पास



सब कुछ है। बेटा-बेटी, बहू-दामाद, नाती-पोते सब अपने-अपने में व्यस्त हैं। वे अकेली हैं, पड़ोसियों और किरायेदारों के बीच। उनकी यादों में बचपन का हिस्सा बना वह झिंग भी है, जहां की हीर थी। उम्र के दबाव के कारण वे नींद और भुलक्कड़ी से दुखी हैं। मुरादाबाद में उनका बड़ा-सा एक मकान है जिसमें दो किरायेदारों के साथ वे स्वयं भी रहती हैं। बतकही उनकी आदत में शुमार तो है ही, वह उनके 'होने' का सुबूत भी है। बेटियां कहीं दो बताई गई हैं, कहीं तीन। बहन-भाइयों के बीच शीत-युद्ध का आलम है जिसके केंद्र में कहीं-न-कहीं वह मकान ही है जिसमें वे रहती हैं। विभाजन का आतंक उन्होंने देखा ही नहीं, झेला-भोगा भी है। दूसरे विभाजन की आशंका उन्हें सिहरा देती है। गनीमत यह है कि उन्हें भूलने की आदत है और कुछ याद नहीं रहता। छोटे के विवाह से लौटकर बेटियों ने तय किया है कि वे बारी-बारी से उन्हें संभालेंगी लेकिन उनके इस निर्णय में बड़े भैया और भाभी को अपनी बेदखली की रणनीति नज़र आती है।

दलित जीवन पर केंद्रित होने पर भी 'ताबूत', दलित लेखन के प्रचलित ढर्रे से अलग है। यह डेढ़-सौ अध्यापकों के स्टॉफ वाले कॉलेज में एक दलित अध्यापक की नियुक्ति पर प्रतिक्रियाओं और फिर उसकी उपस्थिति और रवैये को लेकर बुनी गई कहानी है। एम. सिंह नामक इस युवा अध्यापक के कॉलेज में आने की खबर ही वस्तुतः एक ज़लजले की तरह आती है। उसके आ जाने पर, उसकी विनम्रता और साफगोई के कारण लोग उसे पसंद करते हैं। एम. सिंह का पूरा नाम मंगत सिंह है। बाप के रखे नाम मंगता को सवार-सुधार

कर उसे मंगत सिंह किया गया है। अपने प्रचलित रूप में वह जैसा कि वह स्वयं बताता है, मंगता चमार के नाम से ही जाना जाता था। लोग उसे ठाकुर या किसी ऊंची जाति का न समझें, इसलिए वह अपने नाम के आगे जाटव लगाने पर विचार कर रहा है। उसने बी.एच.यू. में शिक्षा ग्रहण की है—एम.फिल्. और नेट। लेकिन उसके जातिगत संघर्ष की परिणति अंततः ‘हुनर और शातिरी’ में होती है। सौदा और सफलता का मंत्र सीख



और साधकर उसका शरीर ही जैसे पहले ताबूत और फिर क़ब्र में बदल जाता है।

अपने वैविध्य और विस्तार की दृष्टि से प्रेम कुमार की ये कहानियां ध्यान खींचती हैं। जैसे ‘ताबूत’ दलित लेखन के प्रचलित ढर्रे से अलग है, ‘भला-सा एक भय’ प्रेम-कथा के ढाचे के बावजूद प्रचलित अर्थ में प्रेम-कथा नहीं है। उस बारिश वाली रात में उसने उससे शादी के बाद एक रात अकेले उसके साथ जीने का आग्रह किया था। बरसों बाद आज जैसे उसने उसे ही पूरा किया है। योजना में बरती गई सारी चतुराई के बावजूद, एक-दूसरे की रुचियों के प्रति पर्याप्त सजग रहने पर भी, अपने-अपने ढंग से एक अनाम-अदृश्य भय के बीच जी रहे थे। डर का एक छोटा-सा बच्चा अपनी शैतानियों से परेशान करता-सा उन्हें कभी पूरी तरह से सहज और उन्मुक्त नहीं होने देता...‘समझ नहीं आया क्या कहूँ? जुड़े हाथों और डबडबाई आंखों के साथ तुम्हें वहां छोड़ कर चलते समय मुझे केवल एक शब्द सुनाई दिया था—‘प्रणाम’। तब मुझे लगा कि वह प्रणाम सिर्फ मेरे लिए नहीं था। उस डर के लिए था, जिसकी उपस्थिति ने छोटा दिखा सकना संभव नहीं होने दिया था...(वही, पृ. 54) इसी तरह ‘काश, विमलजी रो पाएं!’ और ‘ताज की परछाईं में’ भी प्रेम-संदर्भों की उपस्थिति के बावजूद वे प्रेम-कहानियां नहीं हैं। जहां पहली कहानी में मृत्यु अब सामाजिक एवं सामूहिक दायित्व से भिन्न एक पारिवारिक कर्म बन चुकने की स्थिति का स्वीकार है, दूसरी कहानी में दो पीढ़ियों एवं समयों के बीच घटित प्रेम के शैलीगत बदलाव पर जोर है। दो पीढ़ियों की यह

उपस्थिति, भिन्न पृष्ठभूमि और संदर्भ के बीच, ‘तिब्बत बाजार’ में भी है। उन्नीस की उम्र में ही कुसांग डोल्मा का विवाह हो चुका है। परंपरागत तिब्बती परिधान न पहन वह टॉप और जींस पहनती है। उसने प्रेम विवाह किया है। उसका पति असम की ओर का है। लव और मैरिज की बात देर तक करने के बावजूद एक बार भी उसकी बातों में तिब्बत का उल्लेख कहीं नहीं आता है। जबकि कुसांग के पहले की पीढ़ी और परिवार में उसके दादा जैसे लोग आज भी प्रार्थना करते हैं कि एक बार वे तिब्बत देख सकें। उसके पहले की पीढ़ी की फब्बू नामक जिस युवती को लेखक वाचक के रूप में यह पत्र लिखता है, यह अंतर खुलकर सामने आता है। तिब्बत फब्बू ने भी देखा नहीं है, लेकिन उसका अस्तित्व उसके लिए एक सच्चाई है। कोसांग के साथ ऐसा भी नहीं है। बढ़ते बाज़ार ने जैसे सब लील लिया है। कोसांग डोल्मा वस्तुतः उस पीढ़ी का हिस्सा है जिसके बारे में उसका दादा पीड़ा के साथ बयान करता है—ल्हासा में अब लड़का-लड़की नाचता है, बीयर पीता है। जोसांग मंदिर चौक पर अब डांस-बार चलता है।

‘मोम से पंखों के सहारे’ एक तरह से ‘बड़े पापा प्लीज!’ का ही विस्तार है— बड़े पापा और छोटे जी के संवादों के रूप में ही। बच्चों की अबाध जिज्ञासा और करने-जानने की वैसी ही दुर्दम्य आकांक्षा उन्हें पिछली पीढ़ियों के बच्चों से अलग करती है। लेकिन कहानी के अंत में कहानी के शीर्षक की व्याख्या का स्थूल उद्यम कहानी को कमजोर करता है।

‘मौत से पहले की कयामत’ और ‘चांदनी-सी बातें’ में ऐसे ही जिज्ञासु और कल्पनाशील बच्चे हैं। युक्ति जिस तरह रोज भावुक के लिए उसके बड़े पापा—ताऊ जी—से चिट्ठी लिखवाती है और अपने मनोभावों की परतें धीरे-धीरे खोलती जाती है उससे चिट्ठी लेखक के रूप में उन्हें भी दुविधा होती है कि आखिर इस संबंध को क्या नाम दिया जाए? युक्ति के साथ उसी वैन में स्कूल जाने वाली पांचवें की छात्रा जिस तरह पुल से कूदकर आत्महत्या की कोशिश करती है, क्योंकि नंबर कम आने पर या तो उसके पापा उसे मार डालेंगे या स्वयं मर जाएंगे, वह इस शिक्षा की विडंबना पर एक तीखी टिप्पणी है। घर में युक्ति और सोनिया स्वयं मां की साड़ी का फंदा गले में डालकर कुछ ऐसी ही कोशिश करती हैं। वह तो उधर से निकलती युक्ति की दादी के देख लेने से कयामत टल जाती है। ‘चांदनी-सी बातें’ का बच्चा, भय और आतंक के गाढ़े साए में सवाल पूछता है, ‘पापा, ये टीचर लोग पुलिस वाले या बड़े आदमी ऐसे क्यों मारते हैं बच्चों को?’ आंखों में गुस्सा और नफरत के साथ खुद के बच्चा होने की लाचार-सी एक मजबूरी। (वही, पृ. 161)

बच्चों के पक्ष में बने सारे कानूनों के बीच और बावजूद विकृतियों, दुर्वह तनावों और दबावों को झेलते ये बच्चे जैसे आज भी हमें विक्टोरियन इंग्लैंड में डिकेंस और हार्डी की दुनिया में खड़ा कर देते हैं। हार्डी ने ‘ज्यूड द आक्सवयोर’ में एक बच्चे के मुंह से जैसे इसके कारण की ओर संकेत किया है—वी आर इन बिकाज़ वी आर टू मेनी...गहरी संवेदनशीलता और रचनात्मक कंसर्न के साथ ये कहानियां हमें जैसे सवालों के बड़े और घने जंगल के बीच ला खड़ा करती हैं।

बड़े पापा प्लीज/प्रेम कुमार/आलोक पर्व प्रकाशन, 1/6588, रोहतास नगर (पूर्व), शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ` 300

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003, (उ.प्र.), मो. 09319838309

कैफ़ी आजमी का अज़्म

ज्ञान प्रकाश विवेक

कै

फ़ी आजमी : जन्म : 1920,
ईतकाल : मई : 2002

कैफ़ी आजमी एक जगह कहते हैं—“ग़ालिब से जो मैंने बात सीखी वे ये कि जो बात कहो,

उसको लोगों का तजुर्बा बना दो। मैंने यह किया कि जो चीज़ मैंने महसूस नहीं की, छोड़ दी। कही वो चीज़ जो मैंने शिद्दत से महसूस की।”

यह तहरीर कैफ़ी आजमी की पूरी शायरी का नक्श है। कैफ़ी वही लिखते हैं जिसे शिद्दत से महसूस करते हैं। ‘शिद्दत’ महज़ लफ़ज़ नहीं रह जाता। वो उनकी शायरी का उसलूब (शैली) बन जाता है। उनकी नज़्मों को पढ़ना, उनके ही नहीं बल्कि समाज और देशकाल के तजुर्बों को पढ़ने जैसा प्रतीत होता है। उनकी शायरी की किताबों ‘फनकार’, ‘आख़िर-ए-शब’, ‘मसनवी’ और ‘आवारा सज्दे’—जिनमें ग़ज़लें कम हैं, नज़्में ज़्यादा। कैफ़ी आजमी दरहकीकत, नज़्मों के शायर हैं। आज़ादी से पहले लिखी गई नज़्मों में इंकलाब के ताज़ादम स्वर हैं। कौम को बेदार करने की बेचैनी है। यह जुस्तजू और यह ताप अनेक नज़्मों में है। ये नज़्में—ढाल के ज़र्फ़-ए-शेर में बसा के इत्र-ए-ज़ौक में—यही भाव शायरी में मौजूद है यानी उच्च संस्कारित शायरी!

कैफ़ी आजमी शायरी का आगाज ग़ज़ल से करते हैं। लेकिन उनके भीतर का बेचैन और व्याकुल शायर, ग़ज़ल जैसी सिन्फ़ की रूमनियत, मिसरों की हदबंदी और विचारों के बिखराव से ‘मिसफिट’ महसूस करता है। कैफ़ी आजमी को ऐसी सिन्फ़ की ज़रूरत थी जहां उनकी तरक्कीपसंद सोच और फ़िक्र, पूरी निष्ठा, ताप और निरंतरता के साथ ‘तक-मील-तक’ पहुंचे।

कैफ़ी आजमी ने नज़्म जैसी सिन्फ़ को चुना और उसी में अपनी तरक्कीपसंद विचारधारा

को अभिव्यक्ति दी और बेहद कामयाब भी रहे। यह महज़ संयोग नहीं कि तमाम तरक्कीपसंद शायरों ने नज़्मों में अपनी सोच को ज़्यादा प्रखरता से तहरीर किया। मोहिउद्दीन मख़दूम, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, साहिर लुधियानवी, हबीब जालिब, अख़्तर-उल-ईमान, सरदार जाफ़री, तनवीर सुपरा, राही मासूम रज़ा, इफ़्तख़ार आरिफ़ और कैफ़ी आजमी!

लेकिन कैफ़ी इन सबसे भिन्न हैं। बेशक प्रगतिशील सोच सभी की है। लेकिन कैफ़ी नज़्मों के शायर के बावजूद, प्रयोग-धर्मी शायर भी हैं। उनके प्रतिवाद के स्वर भी अनूठे और आकर्षक हैं।

कैफ़ी आजमी नज़्मों में अपना एक ऐसा इलाका चुनते हैं जहां अवाम की वेदना भी उपस्थित है—कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं पसे:मंज़र! गौरतलब है, कैफ़ी आजमी की शायरी में दो तत्त्व प्रमुखता से उभरते हैं प्रतिवाद और अवाम का दुख। उनकी बेचैनी और अवाम का

संघर्ष मिलकर एकमेक हो जाते हैं—

ज़िंदगी ज़िह्द में है सब्र के काबू में नहीं
नब्ज़-ए-हस्ती का लहू कांपते आंसू में नहीं

शबाना आजमी अपने पिता कैफ़ी आजमी पर संस्मरण—कैफ़ियात—में लिखती हैं—

“साहिर साहब बहुत लोकप्रिय थे, सरदार जाफ़री का बड़ा सम्मान था, मगर कैफ़ी आजमी की बात अलग थी। वो मुशायरे के बिलकुल आख़िर में पढ़ने वाले चंद शायरों में से एक थे। उनकी गूजती हुई आवाज़ में एक अजीब शक्ति, एक अजीब आकर्षण था।”

जिन्होंने कैफ़ी आजमी को मुशायरे में नज़्म पढ़ते हुए सुना है, वो जानते हैं कि कैफ़ी आजमी नज़्म पढ़ते हुए कैसा वातावरण रचते थे। तवील से तवील नज़्म, सामीन (श्रोता) दम साध कर सुनते रहते और कैफ़ी आजमी की लोचदार आवाज़ बड़ी गंभीरता से गूजती रहती। बड़ी बात यह कि वो हमेशा ‘तहतुल्लफ़ज़’ नज़्म सुनाते, गाकर नहीं।

कैफ़ी आजमी की नज़्मों में ताक़तवर भाषा है और विचार की शक्ति, जो पूरी नज़्म में रवां-दवां रहती है—लय और लोच पैदा करती हुई—

¹अब्र-ए-जवां है ज़िंदगी ²सैल-ए-रवां है ज़िंदगी
³जोशे-निहां है ज़िंदगी, ⁴बर्कतपां है ज़िंदगी

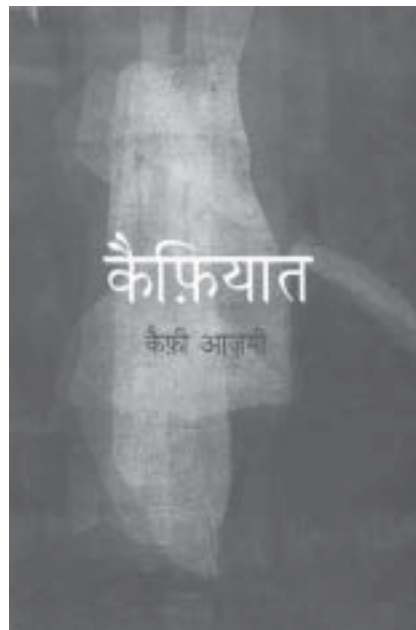
तथा

जिन्हें चाहेंगे उनको मीर-ए-मैखाना बनाएंगे
नए हिंदोस्तां में हम नई जन्मत बसाएंगे

(1. युवा बादल, 2. बाढ़ का प्रवाह, 3. छुपा हुआ जोश, 4. तड़पने वाली बिजली)

उनकी एक नज़्म है मुग़न्निया (गायिका)। नज़्म में माहौल है जो रफ़्ता-रफ़्ता, नज़्म के बंद-(पद) दर-बंद, कशिश पैदा करता चलता है कि गायिका खुद एक तिलिस्मी वातावरण में बदल जाती है—

वो बांसुरी की लतीफ़ लहरें लतीफ़ लहरों में
उसके नज़्में ज़माना मसहूर हो रहा था, खुदाई



हिचकोले खा रही थी/निगाह नग्मा, खिराम नग्मा, कलाम नग्मा, पयाम नग्मा/हवा में नग्में समो रही थी, फ़िज़ा में नग्में घुला रही थी
(मस्हूर—मंत्रमुग्ध, खिराम—चाल, पयाम—संदेश)

यहां एक लफ़्ज़ नग्मा (गीत) है जो बार-बार रिपीट होता है लेकिन नई धज, नई व्यंजना और नए अर्थ के साथ। सभी उस्ताद शायर शायरी में अलफ़ाज़ को 'बरतने' का फ़न पैदा करते रहे हैं। कैफ़ी आज़मी यही करते हैं। वो ऐसे शब्दों को चुनते हैं जिनमें लोच हो और संगीतात्मकता भी। यही वजह है कि लंबी नज़्में भी श्रोताओं को और पाठकों को सम्मोहित करती हैं। बेशक, उनकी बहुत सारी नज़्में अब अपना असर खो चुकी हैं। वो विशेष कालखंड की नज़्में थीं। उस दौर में उन नज़्मों को शोहरत और मक़बूलियत भी मिली। लेकिन मौजूदा वक़्त में रूस और स्टालिन के पक्ष में लिखी गई नज़्मों की कोई सार्थकता महसूस नहीं होती।

लेकिन कैफ़ी आज़मी की प्रगतिशील शायरी के भीतर जो इंसानी कद्रे शामिल हैं, वही जज़्बा उनकी शायरी को मेयार अता करता है। यह तरक्कीपसंद शायरी जन आंदोलनों और साहित्यिक आंदोलनों से छनकर आई है। यहां क्रांतिकारी स्वर हैं तो दहकान और मज़दूर के संघर्ष के प्रति आस्था भी है। मुफ़लिसों के प्रति करुणा भी है। यही मानवतावादी सोच, उनकी नज़्मों को काल की सीमा से बाहर ला खड़ी करती है।

कृश्न चंदर ने कैफ़ी आज़मी को दिन का शायर कहा था। दिन का शायर यानी उजालों का शायर। यानी, उम्मीदों का शायर। उर्दू शायरी में रात, उदासी और इंतज़ार और पलायन और दुख का प्रतीक बनकर उभरती है। लेकिन 'दिन'! यानी, सूरज की शुआओं से गुफ़्तगू।

झंकार और आख़िर-ए-शब संग्रहों में यथार्थ के तीखे स्वर हैं। यहां प्रेम कविताएं हैं—प्रबल भावना के साथ, तो सामाजिक रुझान और देश प्रेम की भावना का भी गाड़ा रूप मिलता है। 'औरत' नज़्म में वो कहते हैं—उठ मिरी जान! मिरे साथ ही चलना है तुझे। तो आगे चलकर 'हौसला' नज़्म में बड़े हौसलाकुन अंदाज़ में कहते हैं—अभी इश्क ने हार मानी नहीं। अभी इश्क को आजमाना न छोड़।

यहां इश्क के कई अर्थ हैं और हर अर्थ एक 'पाठ' की रचना करता है।

कैफ़ी आज़मी की निस्संदेह बहुत सारी

शायरी 'बयानिया' शायरी है। लेकिन जिन नज़्मों में उन्होंने चिंतन जैसे तत्त्व को शामिल किया है, वो नज़्में वक्तव्य, फ़िक्क, जज़्बे और नए प्रतीकों के साथ मिलकर बड़ी रचनाएं बन चुकी हैं। यथा—

हवा की ज़द पे चराग-ए-अमल जलाए हुए
तड़प के गिरने ही वाली है बर्क़ जिंदा पर
खड़े हैं दर पे असीर आसरा लगाए हुए
(ज़द—लपेटे में, चरागे-अमल—कर्म की लौ, बर्क़—
बिजली, असीर—कैदी, जिन्दा—कारावास)

नज़्म की तीन पंक्तियों से कैफ़ी की शायरी की परिपक्वता का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। वो हर मिसरे में बेचैनी के बरक्स उम्मीद को खड़ा करते हैं और आख़री मिसरे तक एक मेटाफ़र की रचना हो जाती है—असीरों का आसरा? यानी, मुक्ति।

कैफ़ी आज़मी की नज़्में पाबंद (छंद युक्त) नज़्में हैं। इसी शिल्प में वो शायरी रचते हैं और खुद को 'कम्फर्टेबल' महसूस करते हैं। उनकी छंदयुक्त नज़्मों का अपना मिज़ाज और आहंग (संगीत) है। जबकि मख़दूम और फ़ैज़—दोनों तरक्कीपसंद शायरों ने ज़्यादातर आज़ाद नज़्में लिखीं। साहिर लुधियानवी की लंबी नज़्म 'परछाइयां' ज़रूर छंद में है। कैफ़ी आज़मी ने भी कुछ छंदमुक्त—आज़ाद नज़्में लिखीं। उर्दू नज़्मों (कैफ़ी की नज़्मों सहित) की खासियत इस बात में है कि वो आज़ाद होठों के बावजूद किसी बहर या मीटर में होती हैं और उसी से रवानी और गूँज पैदा होती है।

नज़्मों में विचार की यात्रा, नज़्म की यात्रा होती है। और यह यात्रा ऐसा प्रभाव पैदा करती है कि साधारण से असाधारण का सफ़र बन जाती है। कैफ़ी आज़मी की बेहद सशक्त और प्रसिद्ध नज़्म मकान का एक अंश—

इन मकानों को ख़बर है न मकीनों को ख़बर
उन दिनों की जो गुफ़ाओं में गुज़ारे हमने
शायर किन दिनों की बात कर रहा है?
जाहिर है—आज़ादी से पहले का दौर जहां
घुटन महसूस होती थी किसी गुफ़ा जैसा
अंदेशा होता था। कैफ़ी आज़मी की शायरी का सशक्त पहलू यह भी है कि वो इंसान को नाउम्मीदी के घने अंधेरों से खींच लाता है। कैफ़ी कहते हैं—सब उठो, मैं भी उठूं, तुम भी उठो...तुम भी उठो...।

यहां संबोधन है। यहां विश्वास है। यहां संघर्ष है। संघर्ष जो अकेले नहीं होता। ग़ुरीबी और सरमायादारी और जहालत के खिलाफ़ यह 'उठने' का स्वर और सबके उठने का स्वर। यह स्वर शायर के बेचैन दिल की

सच्ची आवाज़ है।

फ़ैज़ भी कहते हैं—

उठेगा अनलहक़ का नारा
जो मैं भी हूँ और तुम भी हो

संबोधन फ़ैज़ की नज़्म में भी है और चेतनाकामी स्वर भी। यही 'साथीपन' प्रगतिशील सोच की नुमाईदगी करता है।

कैफ़ी आज़मी की आरंभिक नज़्मों में गुलामी की बेचैनी और कसमसाते प्रतीक हैं। यह दौर दूसरे महायुद्ध का था। युद्ध का विरोध सभी शायर कर रहे थे। कैफ़ी आज़मी अपनी नज़्म में कहते हैं—

जंग किस्मत ही सही दिल का तकाज़ा
तो नहीं

साहिर कहते हैं—जंग टलती रहे तो अच्छा है। वहीं, मख़दूम जंग का प्रतिवाद सिपाही नज़्म में बड़ी व्याकुलता से करते हैं—जाने वाले सिपाही से पूछो, वो कहां जा रहा है?

जंग दुनिया की सबसे बड़ी त्रासदी है और अमानवीय किरदार है। जंग में खूरेज़ी के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। जंग में कोई भी जीते, मानवता तो हारती ही हारती है। इसलिए तमाम प्रगतिशील अदीबों ने जंग का पुरज़ोर विरोध किया है।

आवारा सज्दे (1974 में प्रकाशित) की नज़्में कैफ़ी आज़मी की रचनाशीलता का अगला पड़ाव ही नहीं, बल्कि सोच, फ़िक्क और कमान भी बदले हुए हैं। एक फ़र्क़ यह भी है कि झंकार और आख़िर-ए-शब की नज़्में 'बाहर' के संसार और घटनाओं की अभिव्यक्ति हैं। इनमें भी बहुत सारी नज़्मों में शायर की निजता का भावबोध भी महसूस होता है। लेकिन बाहर की हलचल ज़्यादा है। वियतनाम युद्ध, नाज़ीवाद यानी हिटलर की बर्बरता, बेरूत युद्ध, के अतिरिक्त देश की गुलामी, सरमायादारी, मज़दूरों का शोषण, तेलंगाना विद्रोह जैसी घटनाएं शायर को विचलित करती रही हैं। नज़्मों की यह यात्रा बाहर से भीतर की यात्रा है। लेकिन 'आवारा सज्दे' संग्रह में शायर की अंदरूनी लड़ाई है। यहां जुझारूपन कम है। क्रांतिकारिता के स्वर भी क्षीण। लेकिन संशय, अकेलापन, सांप्रदायिकता से पैदा हुई वेदना का मंथन ज़्यादा है।

कैफ़ी आज़मी 'आवारा सज्दे' तक आते-आते अपनी शायरी के उत्कृष्ट रूप में नज़र आते हैं।

यह रूप, गाढ़ी वेदना का यह रूप, शायर के आत्मचिंतन और आत्ममंथन से

छनकर आया है। यहां शायर के भीतर एक चिंतक की उपस्थिति महसूस होती है।

1965 में लिखी गई नज़्म का वो दौर जब मोहभंग और आत्मनिर्वासन, हर बा-शऊर इंसान महसूस कर रहा था। हौलनाक मंज़र (मन की अवस्था) यह था कि जीना महज़ एक 'आदत' में बदल रहा था। सातवीं और आठवीं दहाई में तन्हाई ज़्यादा प्रभावित करने लगती है—

*मुझको तन्हाई ने दिया है जन्म
मेरा सब कुछ अकेलेपन से है*

अकेलापन सृजनात्मक भी हो सकता है। यहां केवल वह रकीब ही नहीं, हबीब (मित्र) भी है। लेकिन जब कैफ़ी आज़मी कहते हैं— "किसी का हाल कोई मुझे पूछता ही नहीं।" तो ऐसा लगता है जैसे वो इक्कीसवीं सदी की निस्संगता और बेगानेपन पर बड़ी मार्मिक टिप्पणी कर रहे हों।

आखिर-ए-शब 1947 में प्रकाशित हुआ और उसके बाद 'आवारा सज्दे' 1974 में। इतने लंबे अंतराल के बाद तीसरा शायरी का संग्रह। इस तब्दील सफ़र में, शायरी के रूझान, सरोकार, सोच और फ़िक्र ने भी लंबी यात्रा की। यहां हम एक बा-कमाल नज़्म निगार की शायरी से परिचित होते हैं। बेशक, उन्होंने कई शानदार ग़ज़लों भी लिखी हैं, लेकिन परिपक्व और मेयारी शायर वो नज़्मों के ही हैं। अपनी शायरी के बारे में उनके ख्यालात गौरतलब हैं—'झनकार' से 'आवारा सज्दे' तक मेरी शायरी ने जो फ़ासला तय किया है, उसमें वो मुसलसल बदलती और नई होती रही है (बहुत आहिस्ता सही) आज वो जिस मोड़ पे है उसका नयापन बहुत वाज़ेह (स्पष्ट) है।"

अपनी शायरी में नएपन की बात कैफ़ी आज़मी जिस आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करते हैं, 'आवारा सज्दे' संग्रह की नज़्मों में वो मौजूद है। यहां इंकलाबी शायरी नहीं। ज़िंदगी से मुठभेड़ और समाज की बदली हुई सूरत के नक्श हैं।

गौरतलब है, कैफ़ी आज़मी की शायरी में दृश्यात्मकता खूब है। उनकी 'झनकार' की नज़्मों से लेकर 'आवारा सज्दे' तक यह विशेषता मौजूद है। उनकी नज़्मों को पढ़ते हुए ऐसा महसूस होता है जैसे वो शब्दों से चित्रकारी कर रहे हों। शब्दों को रंग में बदलने की तौफ़ीक उन्हें हासिल है। उनकी नज़्म 'मकान' के चार मिसरे—

आज की रात बहुत गर्म हवा चलती है

*आज की रात न फुटपाथ पे नींद आएगी
सब उठो, मैं भी उठूं, तुम भी उठो, तुम भी उठो
कोई खिड़की इसी दीवार में खुल जाएगी
गज़ल का यह शेर जो बिंब की रचना
करता है और पूरा शेर दृश्य में बदल जाता
है—*

*बिजली के तार पे बैठा हुआ तन्हा पंछी
सोचता है कि वो जंगल तो पराया होगा
कैफ़ी आज़मी की एक नज़्म हैं 'खिलौने'।
तश्वीहें (उपमाएं) इतनी जीवंत, इतनी नवीन,
इतनी आकर्षक कि नायाब अनुभवों का
अहसास होता है। हैरानी इस बात पर भी
होती है कि क्रांतिकारी स्वर बुलंद करने वाले
शायर के पास ऐसे नए प्रतीक और उपमाओं
का सरमाया भी है। नज़्म का एक अंश
गौरतलब है—*

*रेत की नाव, झाग के मांझी/काठ की
रेल, सीप के हाथी/राख के खेत, धूल
के खिलियान/भाप के पैरहन, धुएं के
मकान/नहर जादू की, पुल दुआओं
के/झुनझुने चंद योजनाओं के/सूत के
चले, मूंज के उस्ताद/तेशे दफ़्ती के,
कांच के फरहाद/ऊन के तीर, रूई की
शमशीर*

ऐसे नायाब प्रयोग वही शायर कर सकता है जिसके पास, तसव्वुर की गहराई, यथार्थ को भेदती नज़र और ज़िंदगी से अटूट रिश्ता हो।

भारतीय संस्कृति और उसकी जड़ों तक से पहचान और आस्था राही मासूम रज़ा की नज़्मों में (मैं इक फेरीवाला) भी खूब मिलती है। यही विश्वास और पहचान कैफ़ी आज़मी की 'ज़िंदगी' नज़्म में बिलकुल नए अंदाज़ में महसूस होती है—

*अग्नि माता मिरी अग्नि माता
सूखी लकड़ी के ये भारी कुदे
जो तिरी भेंट को ले आया हूं
इनको स्वीकार कर और ऐसे धधक
कि मचलते शोले खेंच ले जोश में
आग से आग मिले जो अमर कर दे मुझे
आज शिव इल्म है, अमरित है अमल!*

यही भारतीय संस्कृति, सभ्यता, उसके मिथक उसकी पहचान 'दूसरा बनवास' नज़्म में महसूस होती है। यहां गहरी पीड़ा है। करुणा है। दुख का आवेग है। रामचंद्र की स्मृति है। मिथकों का ऐसा प्रयोग है जो वेदना, करुणा और क्षोभ में बदल जाता है। बावरी मस्जिद ढहाने (छ: दिसंबर) पर लिखी गई यह नज़्म, हिंदुस्तान के बड़े शायर (कैफ़ी आज़मी) के दुख की ऐसी गाथा है जिसमें भारतीय जनमानस की पीड़ा

भी शामिल है। कुछ पंक्तियां—

*राम बनवास से जब लौट के घर में आए
याद जंगल बहुत आया जो नगर में आए
रक्से-दीवानगी आंगन में जो देखा होगा
छ: दिसंबर को श्रीराम ने सोचा होगा
इतने दीवाने कहां से मिरे घर में आए*

... ..

*घर जलाने को मिरा लोग जो घर में आए
कैफ़ी आज़मी की नज़्मों और ग़ज़लों में
अपने वक्तों की कैफियत है—महज़ कैफियत
नहीं, उसमें सोच, शऊर, संज्ञान, जिज्ञासा और
फ़िक्र भी शामिल है।*

कैफ़ी आज़मी की रचनावली—'कैफ़ियात' का ख़ैरमक़दम करना इसलिए भी ज़रूरी है कि एक ऐसे शायर जिसमें जुझारूपन था, इंकलाबी तेवर थे, मजूदरों के हक़ में आवाज़ बलंद करने का हौसला था और अपने समकाल की आंखों में आंखें डालकर, यथार्थ को देखने की सलाहियत थी, ऐसे वरिष्ठ और पाबंद नज़्मों के संभवतः आख़री शायर की कुल्लियात हमारे वक्तों की ज़रूरी और शानदार किताब है। शानदार लेख (संस्मरण) शबाना आज़मी का भी है जो इस किताब में—'कैफ़ियात' शीर्षक से छपा है। उनकी न सिर्फ़ नम्र अच्छी है बल्कि अपने पिता (कैफ़ी आज़मी) को याद करने की अनुभूति भी आत्मीयता से लबरेज़ है।

इस रचनावली में शमशेर बहादुर सिंह का भी प्रभावशाली लेख है जिसमें कवि शमशेर बहादुर सिंह ने कैफ़ी आज़मी के व्यक्तित्व और शायरी पर बहुत सशक्त और असरदार तबसरा किया है। खुद कैफ़ी आज़मी ने भी अपनी रचनाशीलता पर वक्तव्य दिया है। बेशक, यहां शायर का संकोच भी है। रचनावली में झनकार, आखिर-ए-शब तथा आवारा सज्दे किताबों की रचनाएं शामिल हैं। आखिर में—इब्लीस की मजलिस-ए-शूरा (दूसरा इजलास) की नज़्म—इब्लीस की मजलिसे शूरा का अगला सफ़र प्रतीत होती है।

कैफ़ियात (उर्दू शायरी)/ कैफ़ी आज़मी/ राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ` 600

1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507, हरियाणा, मो. 09813491654

कविता में स्मृतियां

पूनम सिन्हा

ली

ना मल्होत्रा ने अपने कविता संग्रह 'मेरी यात्रा का जरूरी सामान' के द्वारा हिंदी कविता-विश्व में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज की है। अपने आंतरिक बोध को कविता का ठोस रूप देने में कवयित्री सक्षम है, किंतु बोध का विस्तार अभी और होना है। कीट्स कहते थे कि 'वह ईश्वर के भेदिया हैं।' एक स्त्री जब उत्पादन से पुनरुत्पादन की भूमिका में प्रवेश करती है, तो वह समस्त सृष्टि की भेदिया बन जाती है।

कवयित्री की चेतना की दुनिया जब बाहरी दुनिया से टकराती है, तो उस टकराहट की प्रतिध्वनि उसकी कविताओं में निराशा या बिखराव के रूप में नहीं, आत्मविश्वास के रूप में होती है। समीक्ष्य संकलन की पहली कविता 'मैं सहमत न थी' से कवयित्री प्रचलित विसंगतियों के प्रति अपने विद्रोह का आगाज़ करती है। इस कविता में जहां गलत परंपराओं के पिष्टपेषण के प्रति 'मुझे माफ़ करो' वाली इंकार-मुद्रा है, वहीं करणीय को नहीं कर पाने की खेद-मुद्रा भी। कवितांश द्रष्टव्य हैं—'नदी की लहरो! मैं नहीं बन पाई मात्र एक लहर/नहीं तिरोहित किया मैंने अपना अस्तित्व नदी में/तुम्हारे जैसा पाणिग्रहण नहीं निभा पाई मैं/इसलिए क्षमा मांगनी है तुमसे'। कवयित्री क्षमा मांगती है उस बेबाक लड़की से 'जो मुस्कुराते हुए चलती है सड़क पर/बेखौफ जो उस लड़के की पीठ को राइटिंग पैड बना/कागज रखकर लिख रही है, शायद कोई एप्लीकेशन'।

बड़ी-बड़ी बातों से कविता बड़ी नहीं होती, बड़ी होती है छोटी-छोटी बातों में बड़ी बातें लक्षित करने से। संग्रह की दूसरी कविता

'आदतें' की पंक्तियां इसकी साक्षी हैं—'मर्द जब तनाव भगाने को सुलगाता है बीड़ी/भरता है चिलम/औरतें बन जाती हैं खेल के मैदान की गोदी/बच्चे धमाचौकड़ी लगा चुकते हैं जब/पुचकार कर उन्हें/करवा देती हैं होमवर्क/संवार देती हैं बाल/चोटियां गूंध देती हैं'। लीला की कविताओं की स्त्रियां स्त्री-विमर्श के नाम पर न तो आक्रोश में उबलती रहती हैं, न सहानुभूति पाने के लिए टेसुये बहाती रहती हैं। वे विरुद्धों में सामंजस्य ढूंढकर अपने लिए स्पेस बना लेती हैं। गौरतलब हैं 'आदतें' शीर्षक कविता की ये पंक्तियां—'सुबह के लिए सपनों में सब्जी काटती रहती हैं जब उनकी उंगलियां/आंखें जुदा होकर देह से/समानांतर जीवन जी आती हैं/पृथ्वी जैसे लगने वाले किसी और ग्रह पर।' जब लंबी नौद से उठती है औरत, तो अपनी



यात्रा की मंजिल भी खुद तय करती है और यात्रा के सामान भी खुद के पसंद के होते हैं। पुस्तक की शीर्षक कविता 'मेरी यात्रा का जरूरी सामान' की पंक्तियां हैं—'पर आज मैं निकली हूं घर से/अपनी मर्जी के सब फूल मैंने अपने/सूटकेस में रख लिए हैं/यही मेरी यात्रा का जरूरी सामान है।' लीना की स्त्रियां प्रेम में गणित नहीं जानतीं।

लीना लिखने के पहले दिमाग में एक निश्चित खांचा बनाकर नहीं रखतीं। इनके यहां विभिन्न मनोदशाओं एवं मनोभावों की कविताएं हैं। लीना के यहां संबंधों के आईने में सब कुछ धूसर और मटमैला ही नहीं। दाम्पत्य जीवन की एकरसता और ऊब के भीतर रिश्ते की प्रगाढ़ता भी है—'और इस ऊब में उबल-उबलकर कितना गाढ़ा हो गया है ये हमारा रिश्ता।' लीना की सीता परित्यक्ता होकर भी राम के दुख को समझती है, 'त्याग का दुख त्यागे जाने की पीड़ा से बहुत बड़ा है।' दाम्पत्य का एक रूप यह भी है, जहां पत्नी का अपना कोई स्वतंत्र वजूद नहीं होता। 'बंदगी' कविता में पति अपनी पत्नी से कहता है—'चुना मैंने तुम्हारे लिए एक सलीका और चुना पर्दा। जिसके नीचे तुम खुश रहो/और तुम्हारी खुशियां कहीं निकल न भागें।' पर्दा के अंदर प्रेम का लोप होता रहा। जबकि प्रेम ही तो संबंध को शाश्वतता प्रदान करता है।

लीना जिस अनुभव खंड को व्यक्त करना चाहती है, उसके अनुरूप बिंब एवं प्रतीक गढ़ लेती हैं या दैनंदिन जीवन से उठा लेती हैं। इस प्रकार वह अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के अंतराल को भरने की कोशिश करती हैं। कविता के आस्वादन में पाठकों की भी जिम्मेदारी होती है; शब्दों के बीच

के स्पेस को भरने के लिए कला के विभिन्न माध्यमों से जुड़े तत्त्वों को स्वायत्त करने की क्षमता का उपयोग करना होता है। इसीलिए तो सार्त्र कविता को चित्रकला, मूर्तिकला एवं संगीत के समीपस्थ मानते हैं। (ह्लाट इज लिटरेचर, पृ. 4)

अच्छी कविता लिखने के लिए लोक-संस्कार का ज्ञान अपेक्षित है। 'बनारस में पिंडदान' कविता पिंडदान करने वाले पुत्र एवं दिवंगत पिता से अधिक बनारस पर केंद्रित है। बनारस यहां स्थान विशेष मात्र नहीं, पात्र की तरह है—'और

बनारस अमूझ पहेली की तरह डटा रहता है/डूबता है बहता नहीं.../शांति में/घंटियों में/मंत्रों में/शोर में/गंगा में...।' लीना की यह कविता पढ़कर केदारनाथ सिंह की 'बनारस' पर लिखी कविता की पंक्तियां—'बनारस आधा जल में है और आधा मंत्र में' की याद आ जाती है।

कबीर कहते हैं, 'सुखिया सब संसार है खावे अरु सोवै/दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै।' हर रचनाकार कबीर नहीं हो सकता, किंतु उसे दृष्टि-सजग होना होगा। सजगता को संवेदना के स्तर पर रचना में घटित करना होगा। लीना की दृष्टि की संवेदनशीलन सजगता ही कूड़े बीनते, ट्रैफिक की लाल बत्ती पर भीख मांगते बच्चों के चित्र कविता में सहेज लेती हैं। 'तीन बच्चे', 'लाल बत्ती वाला लड़का' आदि कविताएं बाल कल्याण की सरकारी योजनाओं की खिल्ली उड़ाती मालूम होती हैं।

सामाजिक विसंगतियों को देखकर कवयित्री ईश्वर को भी कठघरे में खड़ा करती है। 'चांद पर निर्वासन' कविता की शुरुआत होती है इन पंक्तियों से—'मोहनजोदड़ों के सार्वजनिक स्नानागार में एक स्त्री स्नान कर रही है/प्रस्ताव के बाद का प्रथम स्नान/सीढ़ियों पर बैठकर देख रहे हैं ईसा, मुहम्मद, कृष्ण, मूसा/और तैंतीस करोड़ देवी-देवता/उसका चेहरा दुर्गा से मिलता है/कोख मरियम से/उसके चेहरे का नूर जिब्राइल जैसा है'। जब स्त्री आत्मस्थ होकर अपने से साक्षात्कार करती है, तो उसे बोध होता है कि वह स्वयं सृष्टि है, सृष्टिकर्ता भी। 'साक्षात्कार'



कविता की पंक्ति देखें—'वह दृश्य, द्रष्टा और द्रशेय मैं ही थी...!!!' आगम-निगम सबका मानना है कि सृष्टि के मूल में शब्द है। बिग बैंग (स्फोट) थ्योरी विज्ञान सम्मत है। यह कवितांश ध्यातव्य है—'क्या वह मैं ही थी/ इस उजियारे अंधेरे जगत में फैली/ एक कविता.../ क्या वह शब्द मैं ही थी।' पंक्ति के अंत में पूर्णविराम है, प्रश्नवाचक चिह्न नहीं; यह अकारण नहीं है।

यह सुखद है कि इन दिनों मां पर अच्छी कविताएं पढ़ने को मिल रही हैं। 'कोई आने वाला था' शीर्षक कविता में गर्भस्थ शिशु की अगवानी के लिए स्त्री के जीवन की सारी कायनात सज जाती है। 'एक मांग की प्रार्थना' कविता में गहरी प्रभावोत्पादकता है। कविता की प्रत्येक पंक्ति से मंत्र ध्वनित है। एक मां अपनी पुत्री की निष्कंटक जीवन-यात्रा के लिए शुभ एवं अशुभ—दोनों के देवताओं से प्रार्थना करती है। लीना के यहां स्मृतियों की बहुतायत है। 'मां' शीर्षक कविता की बुनावट में भी स्मृतियां प्रमुख हैं। इस कविता में दिवंगत मां के प्रति अभिव्यक्त स्मृतियां अतिक्रमित होकर अपना सामान्यीकरण कर लेती हैं।

'सीमा पार चारपाइयां' विभाजन की त्रासदी पर लिखी एक बेहतरीन कविता है। स्मृतियां हमें मानसिक स्तर पर उस दुनिया में प्रवेश कराती हैं, जहां जाने की हमारी आकांक्षा तो होती है, किंतु हम जा नहीं पाते। समीक्ष्य कविता में एक विस्थापित होती स्त्री जान रही है कि जिस घर में वह ताला लगा रही है, उस घर में कभी लौटना

नहीं होगा। फिर ताला क्यों? कविता की पंक्तियों में—'कहा था उन्होंने अपनी मां से/एक मंजिया ते अंदर रख दो' (ये चारपाइयां तो अंदर रख दो)/कांप गए थे नानी के हवेली को ताला लगाते हाथ/कहा था नानी ने/नी झाल्लिये हुन एत्ये थोड़ी आना ए' (पागल! अब यहां थोड़ी आएंगे)।

'थकान का ऐश्वर्य', 'क्रांति चुपचाप' आदि कविताओं में उनके चित्र हैं, जिनके श्रम से देश का निर्माण होता है और जिनकी शहादत से हमारा जीवन महफूज होता है। ये कविताएं किसी व्यापक संघर्ष या विद्रोह का शंखनाद नहीं करतीं, किंतु छोटी-छोटी लड़ाइयों के माध्यम से वर्ग-वैषम्य के प्रति विद्रोह का आगाज़ करती हैं। ये छोटी-छोटी लड़ाइयां ही बड़ी लड़ाइयों की इकाई बनती हैं।

समीक्ष्य काव्य-संकलन की कविताओं में वस्तु-वैविध्य है, पर कुछ कविताएं एक-दूसरे का विस्तार हैं, तो कुछ एक-दूसरे का प्रत्याख्यान भी। ये कविताएं अनुभूतिपरक अधिक हैं। अतः ऐसा स्वाभाविक है। इन कविताओं में स्मृतियों की महती भूमिका है, किंतु स्मृतियां यहां नास्टैलिज्या नहीं हैं। कथन की भंगिमा में ताजगी है; किंतु भाषिक संरचना कहीं-कहीं कमजोर है। इन कविताओं की पाठ-यात्रा में मनुष्य के अलावा धूल, हवा, चिड़िया, पेड़, पहाड़ आदि प्राकृतिक उपादान भी हमारे साथ होते हैं, और कहते हैं—'आखिर साथ की चाहना किसे नहीं होती? यह 'चाहना' जीवन के लिए आश्वस्तकारी है।

मेरी यात्रा का जरूरी सामान/लीना मल्होत्रा/बोधि प्रकाशन, एफ-77, सेक्टर-9, रोड़ नं. 11, कतरारपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-302006, मूल्य : ₹ 40 (पैपरबैक)

104/एल.एन. नगर, पोस्ट रामकृष्ण सेवाश्रम, मुजफ्फरपुर (बिहार)-843116 मो. 09470444376

मनुष्यता के पक्ष में खड़ी हैं कविताएं

रतीनाथ योगेश्वर

मी

रखां भड्डवे नहीं थे/उनके वालिद भी नहीं थे दलाल/मियां मीर, अमीर थे/अपने जमाने के कला पारखी/जाने माने उस्ताद... (मीर खां का सजरा)

बेहद नए संदर्भों, अभिप्रायों से लैस 'श्रीरंग' के दूसरे काव्य संग्रह 'मीरखां का सजरा' की ये पंक्तियां बताती हैं कि कवि की संवेदना की सघनता और सामाजिक यथार्थ का गंभीर्य किस तरह काव्य चेतना के निर्माण और विकास में सहायक हो सकता है।

आज की ज़्यादातर कविताएं, जहां सपाट बयानी का शिकार हो रही हैं, वहीं बड़बोले-पन से बहुत शोर करती परिलक्षित होती हैं। मेरा मानना है कि 'कविता में जो अनकहापन होता है, वही उस कविता की गूंज होता है, जो पाठक के मानस पटल पर बार-बार प्रतिध्वनित हो उन्हें एक बेचैनी से भर देता है और इसी अनकहेपन के संयोजन के द्वारा आगे चलकर कवि की अपनी काव्यभाषा निर्मित होती है जो कि उसकी कविता की विशिष्ट पहचान बनती है। कविता के किसी अंश को पढ़ते ही लगता है कि ये पंक्तियां तो उसी कवि की ही हो सकती हैं।

'मीर खां का सजरा' की कविताएं पूरी तरह इस कसौटी पर खरी उतरती दीखती हैं। इस संग्रह की सभी कविताएं मनुष्यता के पक्ष में खड़ी हुई कविताएं हैं, इस संग्रह की भाषा का तेवर 'धूमिल' के तेवर की याद दिलाता है। चुटीली धारदार, व्यंग्यात्मक मारक भाषा के जरिए 'श्रीरंग' की काव्य प्रतिभा प्रौढ़ अभिव्यक्ति ग्रहण करती दीखती है—'मेरी गवाही ले सकते हो/सच कहूंगा/सच के सिवा कुछ नहीं कहूंगा/ईश्वर को हत्या करते देखा है मैंने/मैं गवाह था—जब ईश्वर/गरीबी और/भुखमरी बांट रहा था' (काला पानी)

रोजमर्रा की विसंगतियों और वर्तमान के मूल्यों के प्रति कवि काफी गंभीरता से सोचता ही नहीं वरन् उन स्थितियों से जूझना भी चाहता

है—'ऐसे में जब/सच को सच की तरह जीना/असंभव हो जाता है/बिल्कुल असंभव हो जाता है—खुद को, विरोध के काले और मजबूत शब्दों में/प्रकट करना/सिर से पांव तक/काला हो जाता है रतीनाथ' (रतीनाथ)

व्यक्तिगत अनुभवों को सार्वजनिक रूप में ढालना एक दुरुह कर्म है, वह भी कविता में, किंतु इस दुष्कर कर्म का निर्वाह इस तरह सहजता से भी किया जा सकता है कि जिसका पर्याप्त सबूत इस संग्रह की कविताओं में मौजूद है—'श्रीरंग' की कविताओं का स्वर मूलतः व्यंग्य का स्वर है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक अंतर्विरोधों पर व्यंग्य करता कवि उनके खिलाफ शब्दों को अस्त्र की तरह प्रयोग करना चाहता है—'शब्दों को पूरी ताकत और निष्ठा से/वर्तमान के/पथरीले विरोधों से/रगड़ना चाहता हूं/पैदा करना चाहता हूं/एक विंगारी... (विश्ववाद के लिए)

उपरोक्त संदर्भ में ही संग्रह की बहुत सारी कविताएं राजनैतिक व्यंग्य की कविताएं हैं, किंतु प्रचलित काव्य मुहावरों से हटकर एक अलग शिल्प विन्यास के द्वारा ये कविताएं, कुछ नए मिथक भी गढ़ती हैं—'सम्राट की

पीठ पर होती है/मध्यकालीन/लाल पत्थरों की दीवार/सम्राट बैठता है/बूलेट प्रूफ शीशे के मचान पर' (सम्राट) × × ×

वे चाहते हैं कि/दुनिया में बनी रहे शांति/तमाम जुर्म/अत्याचार/शोषण और/भ्रष्टाचार के बावजूद (शांति)

काव्यकर्म में अतीत के कथा मिथकों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि से कैसे काम लिया जाए? जीवन में जो सार्थक है, उपयोगी है, सकारात्मक है, मानवीय है, उसे सपाट बयानी से बचाते हुए कविता में कैसे किया जाए प्रतिष्ठित? मानव मूल्यों के प्रति जनसाधारण में कैसे जगाई जाए अलख? ऐसे ही बहुतेरे सवालों से रू-ब-रू होता कवि अपने काव्यकौशल के द्वारा कविताओं को कुछ इस तरह व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति देता है—'पिता ने सबसे पहले डाली/ईश्वर की नाक में/नकेल/तोड़े दांत/बनाया पालतू/पाला ईश्वर को पुत्र की तरह (ईश्वर के प्रति)

इस संग्रह की कविताओं के पाठ से निश्चित तौर पर तय किया जा सकता है कि—सामाजिक विधान की असंगतियों को राजनीति से अलग करके नहीं देखा जा सकता, और आज का समय रचनाकर्म में बेहद सतर्क और सजग रहकर कार्य करने की मांग करता है तथा समकालीन कविता समय में काव्य कर्म के प्रति गहरे दायित्वबोध से सम्पन्न कवि श्रीरंग का ये काव्य संग्रह 'मीर खां का सजरा' इसी बात का पुख्ता सबूत है। यह एक महत्वपूर्ण काव्य संग्रह है, जिसे नज़रअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। समकालीन काव्य परिदृश्य में इस काव्य संग्रह का स्वागत है, कवि श्रीरंग को इस संग्रह हेतु साधुवाद।



मीर खां का सजरा/श्रीरंग/ साहित्य भंडार, 50, चाहचंद, इलाहाबाद (उ.प्र.)/मूल्य : ` 250

500/ई.डब्ल्यू.एस./नीम सराय कॉलोनी, इलाहाबाद-211011, मो. 09616316140

हिंदी में लिली का लालित्य

गीता शर्मा

अं

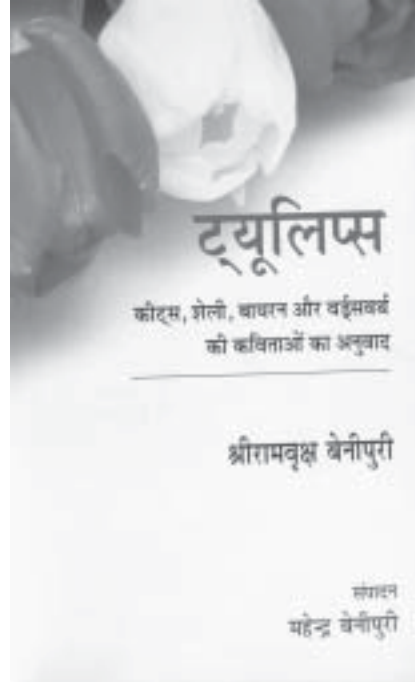
ग्रेजी साहित्य की रोमैंटिक काव्य-धारा का कमोबेश असर हिंदी ही नहीं, संभवतः सभी भारतीय भाषाओं की कविता पर पड़ा है। वैसे तो कई अध्येताओं ने उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों से इस असर को रेखांकित किया है; और कई भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों के छिटपुट अनुवादों का भी जिक्र किया है। लेकिन बीसवीं शताब्दी में तो जैसे इन कवियों और इनकी कविताओं के विभिन्न अनुवादों की मानों धूम ही मच जाती है। कुछ विद्वानों ने तो इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाया है कि हमारे स्वाधीनता आंदोलन के दौरान, हमारी आजादी की ललक को जगाने और उसे निरंतर सुदृढ़ और व्यापक बनाने में अंग्रेजी के रोमैंटिक कवियों के विचारों और उनकी मुक्तिकामी स्वच्छंद कविताओं की भी उल्लेखनीय भूमिका रही है।

हिंदी की स्वच्छंदतावादी कविता, विशेष रूप से छायावादी कवियों पर तो इन रोमैंटिक कवियों के असर के संदर्भ में, और खासकर प्रसाद, पंत, निराला से उनकी तुलना करते हुए, अनेक अध्ययन प्रस्तुत होते रहे हैं। विद्वानों ने इस प्रभाव को कभी सीधे तौर पर, तो कभी तत्कालीन बांग्ला कविता, विशेष रूप से रवींद्रनाथ ठाकुर के माध्यम से संक्रमित होते हुए रेखांकित किया है। कई आलोचकों ने रवि बाबू के अलावा इन रोमैंटिक अंग्रेजी कवियों का प्रभाव भी छायावाद की रहस्य और स्वच्छंदता की प्रवृत्तियों पर दिखाया है।

यह सुज्ञात तथ्य है कि अंग्रेजी के ये रोमैंटिक कवि टैगोर के समय ही नहीं, बल्कि

उनसे भी पहले माइकेल मधुसूदन दत्त और उनकी पीढ़ी के युवा बांग्ला कवियों के बीच भी बेहद लोकप्रिय रहे हैं। चाहे सुब्रमण्य भारती और अन्य तमिल कवि हों, या वल्ललोल, उल्लुरु और कुमारन् आशान् आदि मलयालम के कवि अथवा पंजाबी की रोमैंटिक काव्य-धारा, सभी पर इनका कमोबेश असर देखा गया है।

छायावाद के दौरान ही नहीं, उसके बाद भी हिंदी की परवर्ती काव्य-धाराओं के दौरान, अंग्रेजी के इन रोमैंटिक कवियों के इतने ज्यादा और इतनी बार अनुवाद प्रकाशित होकर लोकप्रिय होते रहे हैं कि शैली, कीट्स, बायरन और वर्ड्सवर्थ हिंदी के अपने कवि लगने लगे थे। कई लोग तो प्रसाद-पंत-निराला को हिंदी के कीट्स, बायरन, वर्ड्सवर्थ और शैली तक कहने लगे



थे। निस्संदेह, इसका एक बड़ा कारण इन कवियों की स्वच्छंद रोमैंटिक कल्पना तो थी ही, उसमें बड़ी भूमिका इनकी कविताओं के कुछेक अत्यंत श्रेष्ठ हिंदी अनुवादों की भी निश्चित रूप से रही है।

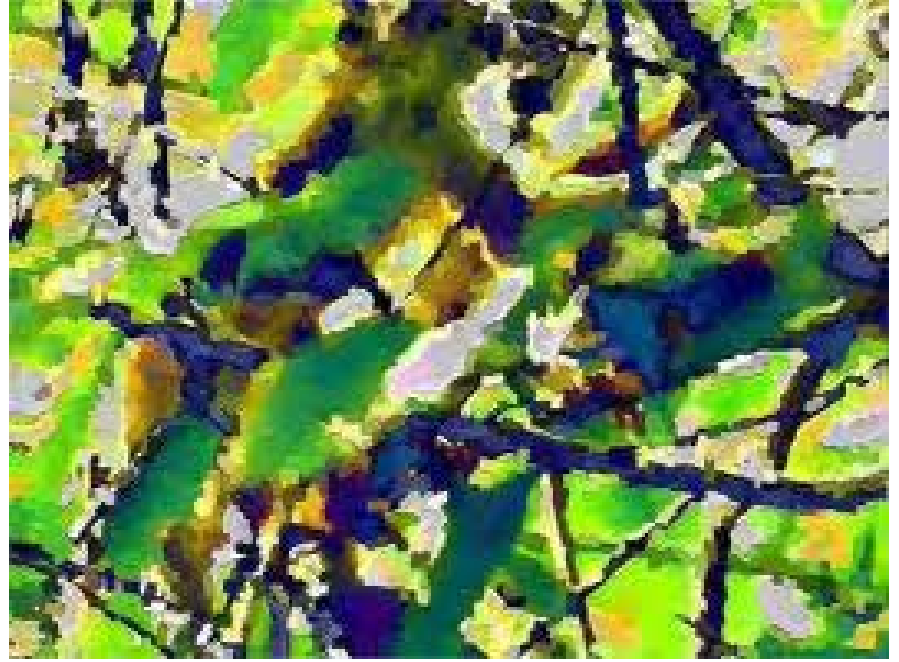
ऐसे ही श्रेष्ठ हिंदी अनुवादों में से एक, 'द्यूलिप्स' शीर्षक से किया गया कीट्स, शैली, बायरन और वर्ड्सवर्थ की कुछ चुनी हुई कविताओं का अन्यतम अनुवाद श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा किया गया है। स्मरणीय है कि अंग्रेजी के 'द्यूलिप' पुष्प को हिंदी में लिली कहा जाता है। बेनीपुरीजी ने ये अनुवाद 'लिली' शीर्षक देकर 1945 में हजारी बाग सेंट्रल जेल में एक माह के दौरान किए थे। बाद में 1950 में उन्होंने शीर्षक बदलकर 'लिली' की जगह 'द्यूलिप्स' कर दिया था।

स्मरणीय है कि श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने टॉलस्टॉय, गोर्की, बालजाक, जोला आदि अनेक यूरोपीय, विशेष रूप से रूसी और फ्रांसीसी भाषाओं के मशहूर उपन्यासकारों के श्रेष्ठ उपन्यासों के बहुत ही सरल और सुबोध हिंदी में अनुवाद किए थे। उस दौर में ये अनुवाद अत्यंत लोकप्रिय हुए थे। लेकिन गद्य के, विशेष रूप से कथा-साहित्य के अनुवादों के अलावा उन्होंने अत्यंत सुंदर काव्यानुवाद भी किए हैं, वह भी अंग्रेजी भाषा के रोमैंटिक कवियों के, यह बात शायद बहुत कम लोगों को पता होगी। आज की युवा पीढ़ी तो संभवतः इस तथ्य से अनजान ही होगी। ऐसी स्थिति में 'द्यूलिप्स' के नाम से इन अत्यंत सुंदर एवं सरस काव्यानुवाद को प्रकाशित करवा कर उनके सुपुत्र श्री महेंद्र बेनीपुरी जी ने बहुत ही सराहनीय कार्य किया है। इस पुस्तक का एक अतिरिक्त महत्त्व यह भी है कि अप्रतिम काव्यास्वादक

एवं वरिष्ठ कवि-आलोचक श्री अशोक वाजपेयी ने इसके लिए एक छोटी-सी किंतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण 'भूमिका' लिखी है।

बेनीपुरीजी हिंदी के यशस्वी पत्रकार, संपादक और समाजवादी विचारों वाले जुझारू स्वाधीनता सेनानी के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। लेकिन वे अपने पुष्ट गद्य के लिए भी वैसे ही विख्यात रहे। किंतु इन काव्यानुवादों को देखकर कोई भी आश्चर्यचकित रह जाएगा कि ये अनुवाद (जो 1945 में किए गए थे) आज भी इतने समकालीन, सुघड़ और ताजा हैं कि लगता है किसी आज के श्रेष्ठ हिंदी कवि ने किए हों। इस तथ्य की ओर अपनी 'भूमिका' में अशोक वाजपेयी ने भी ध्यान दिलाया है : "मुझे याद नहीं आता कि किसी और व्यक्ति ने अंग्रेजी के इस (इन) कालजयी कवियों की कविताओं के हिंदी में ऐसे सुघड़ और पठनीय अनुवाद किए हों। ये अनुवाद हिंदी भाषा और हिंदी कविता दोनों का ही विस्तार हैं। अनुवाद में बेनीपुरी जी की क्षमता निश्चय ही असाधारण थी। यही कारण है कि ये अनुवाद आज भी निहायत पठनीय हैं जबकि हिंदी कविता बेनीपुरी जी के जमाने से बहुत आगे चली आई और बदल चुकी है।" हिंदी कविता कितनी ही आगे चली जाए बेनीपुरीजी के ये श्रेष्ठ अनुवाद पाठकों को ऐसे ही आकर्षित करते रहेंगे।

संकलन में जॉन कीट्स (1795-1821 ई.) की छह, पर्सी बाइशी शेली (1792-1822 ई.) की दस, लार्ड बायरन (1788-1824 ई.) की सात और विलियम वर्ड्सवर्थ (1770-1850 ई.) की दस कविताओं के कुल तैंतीस काव्यानुवाद संकलित हैं। इनमें इन रोमैंटिक कवियों की एकाध को छोड़कर प्रायः सभी मशहूर कविताओं के अनुवाद संग्रहीत हैं। विशेष बात यह है कि उपर्युक्त सभी कविताओं के मूल अंग्रेजी पाठ भी साथ-साथ दिए गए हैं। पुस्तक के संपादक श्री महेंद्र बेनीपुरी जी इस बात के लिए साधुवाद के पात्र हैं कि उन्होंने प्रत्येक कवि की दो एक रचनाओं के काव्यानुवाद की रामवृक्ष बेनीपुरीजी की हस्तलिपि में फोटो भी इस संकलन में दिए हैं। चारों कवियों का संक्षिप्त परिचय और उनके सुंदर छायाचित्र सोने में सुहागा कहे जाएंगे।



वैसे तो समीक्षित कृति 'ट्यूलिप्स' 1999 में प्रकाशित 'बेनीपुरी ग्रंथावली' के सातवें खंड में शामिल हैं। लेकिन ग्रंथावलियां पढ़ता कौन है। और फिर अत्यंत महंगी ग्रंथावलियां सामान्य पाठकों की पहुंच में हैं ही कहां? इस दृष्टि से श्री महेंद्र बेनीपुरीजी का इन काव्यानुवादों की पुस्तक को अलग से प्रकाशित कराने का कार्य बड़ा सराहनीय है। यह पुस्तक रामवृक्ष बेनीपुरीजी के अग्रज सम मित्र और 'निराला मंडल' के अप्रतिम गद्यशिल्पी आचार्य शिवपूजन सहायजी को सादर समर्पित है, जहां शिवपूजन बाबू का बड़ा ही सुंदर चित्र भी दिया गया है। उसके सामने ही या और किसी उपयुक्त स्थान पर रामवृक्ष बेनीपुरीजी का चित्र भी संपादक ने दे दिया होता तो और भी बेहतर होता।

यह देखकर बड़ा दुख होता है कि पुस्तक का प्रकाशन, अत्यंत सुंदर रंगीन कवर पर 'ट्यूलिप्स' के चित्रों के बावजूद बड़ी असावधानी से किया गया है। पुस्तक की छपाई इतनी खराब है कि कई जगह प्रूफ की गलतियों से बेहद क्षोभ होता है। मिसाल के लिए शेली के परिचय में (पृ. 59 पर) 'की' की जगह 'भी' छपा है और कीट्स के परिचय में (पृ. 22 पर) दो-दो जगह कीट्स का जन्म वर्ष 1795 की जगह 1895 तथा मृत्यु वर्ष 1821 की जगह 1921 छापकर अनर्थ किया गया है। इसी तरह कीट्स की प्रसिद्ध कविता 'ओड ऑन ए ग्रीसियन अर्न'

के 'चित्रकारी' शीर्षक अनुवाद में (पृ. 39 पर) मूल की एक पूरी पंक्ति ही गायब है जो अपने मूल अंग्रेजी रूप में सामने ही (पृ. 38 पर) बाजाप्ता छपी हुई है। कोई भी समझ सकता है कि ऐसी असावधानी बेनीपुरीजी जैसे श्रेष्ठ अनुवादक से हो ही नहीं सकती थी। इसी तरह अशोक वाजपेयी की 'भूमिका' के शुरुआत में ही (पृ. 11 पर) कीट्स की कल्पना को संबोधित विख्यात कविता 'दि रील्म ऑफ फैंसी' को उद्धृत करते हुए उसे जॉन कीट्स के बजाय शेली की बताकर छपा गया है। अशोकजी जैसे अंग्रेजी साहित्य के विद्वान (और पूर्व प्राध्यापक) से तो ऐसे स्लिप ऑफ पेन को अकल्पनीय ही कहा जाएगा; क्योंकि वे एक अत्यंत सावधान आलोचक भी हैं। प्रूफ की ऐसी और भी गलतियां हैं, जो अत्यंत दुःखद हैं। आशा है कि अगले संस्करण में ऐसी असावधानियां दूर कर दी जाएंगी।

ट्यूलिप्स (काव्यानुवाद)/अनुवादक : श्री रामवृक्ष बेनीपुरी/सं. : महेंद्र बेनीपुरी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., 4697/3, 21ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 350

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा इन्क्लेव, दिल्ली-110096, फोन : 22629238, मो. 09560466212

चांदनी चंदन सदृश्य हम क्यों लिखें

शिवकरण सिंह

आ

ज नई कविता की उल्टी सांस चल रही है, पर 'उपेंद्र' अपने तर्ज और तेवर से उसे अब भी सींच कर हरी-भरी और जीवंत बनाए रखने में मशगूल हैं। कहीं-कहीं नई कविता की शक्ति के साथ ही वे उसकी सीमा का इज़हार भी करते हैं।

सच/अब तो रास्ते गुजरते हैं जंगलों से होकर/और बन जाती है प्रत्येक कविता/अरण्य रोदन,

यह सच है कि अधिकांश रचनाकारों की कविताएं अरण्य रुदन ही सिद्ध हो रही हैं, पर 'उपेंद्र' की इस संग्रह की रचनाएं उससे बिलकुल अलग हैं। वे इनके माध्यम से जंगल में मंगल की बात को चरितार्थ करते हैं। इसका कारण है। उन्हें अपने रचनाधर्मी दृष्टिकोण में आस्था और उसके दूरगामी प्रभाव में विश्वास है। वे इस बात से परिचित हैं कि वे जो लिख रहे हैं वह आज की सुषुप्त चेतना के लिए नहीं है, बल्कि कल की जागृत चेतना के लिए है। जब वे जगेंगे तो—

निश्चय ही पढ़ेंगे कविताएं/जुबान पर आते ही जिनके शब्द-शब्द/जल उठेंगे मशालों की तरह/लपटें झूम कर नाचेंगी/उसी कविता की लय पर/जिसे आज मैं लिख रहा हूँ।

रचनाकार का इस तरह का विश्वास बेवफा और बेगाना नहीं होता। वह बड़ा सकून देह और प्रेरणाप्रद होता है। कवि को लोकधर्मी दृष्टि उसकी पुरजोर गवाह है—

कितना संतोषप्रद/यह जानना/कि अब की बार/जब होने को होगा यह सब कुछ/तो मेरा शब्द/निकाल रहे होंगे काटे/नई राहों की खोज में भटकते पांवों से

कवि नई राहों में भटकते लोगों के पांवों से काटे निकालने के संकल्प के ही साथ रचनाधर्मी परिवेश में पहुंच जाता है। जिसकी लोकधर्मी दृष्टि खरी और सटीक होती है। वह सामाजिक असंगति के अतल स्पर्शी घटाटोप में प्रवेश करके रचनाधर्मिता का लाल रतन ढूंढ लाता है। वह अगली दुनिया के लिए। बिना दीवार

की जमीन की कामना करता है। कवि उपेंद्र एक बहुत बड़ी बात कहते हैं कि कवि का स्रष्टत्व उसके द्रष्टत्व द्वारा अपनी सार्थकता प्राप्त करता है—

एक संवेदनशील कवि के लिए/सबसे ज़रूरी होता है/कविता के भीतर समय को देखना/और परखना

कविता के बीच समय देखने का प्रयोग बड़ा सार्थक है। जब कवि उस समय घटित घटनाओं को गहरे उतरकर पकड़ता है तो उसकी दृष्टि यथार्थवादी हो जाती है। 'लौटे बांस बरेली' कविता में कवि उपेंद्र समय की नब्ज को बड़ी बारीकी से पकड़ते हैं—

अभी भी जैसे ही धंसे हैं/हमारे गले मवेशियों के पेट/वैसे ही फटे हैं/होंठ विवाइयां/उड़ती है जैसे ही धूल/कमोवेश वैसे ही नियमित हैं/दौरे/बाढ़ और सूखे के/जवान होते न होते वैसे ही/अधेड़ से दिखने लगते हैं हम सब/कुछ भी नहीं बदला कहीं।

आज़ादी के बाद देश की यही नियति है। देखने में बहुत कुछ बदला है। पर उस बदलाव से कुछ ऊपरी तबका ही लाभ उठा पाया है। देश की आबादी के 40% लोग अब भी गरीबी की सीमा-रेखा के नीचे जीवन बसर करने के लिए विवश हैं।

इस संग्रह की 'स्व-चित्र' कविता तो

जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार का कच्चा-चिड़ा है। हर क्षेत्र आज बांकेलाल की प्रवंचक करतूतों से लूटा जा रहा है। कवि अंत में व्यथित होकर लिखता है—

आओ अब सब आंखें खोल/और समेटे अपनी-अपनी खाल.../झांके किस- किसके भीतर हैं धंसे-घुसे/कौन-कौन से बांके लाल।

इस काव्य-संग्रह का शीर्षक बड़ा व्यंजक है : नंगे पांव...चांदनी। शुरू में चांदनी के आने, उसके चुपचाप पसरने की बात की गई है। कुछ पंक्तियों के बाद इस चुप्पी को आंखों की चुप्पी या उसके मन के सूनेपन के समान माना गया है। फिर स्त्री के प्रेम की व्यापकता का चित्रण है। उसके पश्चात कविता की सारी 'एम्फेसिस' स्त्री पर केंद्रित हो गई है। कवि की दृष्टि में औरत खामोशी का प्रतिमान है—

सच/सबसे खामोश चीज ही छुपा सकती है/अपने भीतर की सारी उजली अकुलाहट/समेट सकती है सारा स्पंदन...।

इस तरह 'नंगे पैर...चांदनी' स्त्री के मौन-मुखर 'एस्थेटिक सेंस' का प्रतीक है।

पूरे काव्य-संग्रह में भोजपुरी संस्कृति का धूप-छाही रंग अपनी छटा बिखेरता है। 'सत्तू', 'लऊर' और 'गांव की नदी' में कवि का यह रुझान पूरी तरह स्पष्ट हुआ है। काव्य-संग्रह की भाषा सशक्त है, उसमें गति, प्रवाह और रवानी है। अपनी बात को प्रकट करने के लिए लच्छेदार मुहावरों का प्रयोग किया गया। कहीं-कहीं भाषा का अपारदर्शी प्रयोग कविता को समझने में बाधक भी सिद्ध होता है। पर वक्रता और अपारदर्शिता ही तो 'नई कविता' की पहचान है। आज के युग में वक्रोक्ति ही काव्य-जीवित बन गया है।

नंगे पांव... चांदनी/उपेंद्र कुमार/विजया बुक्स, 1/10753, सुभाष पार्क, गली नं. 3, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ` 225

बी-32, (सेकेंड फ्लोर), संभवम् एंक्लेव, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063



जीवन की असंगत लय की शिनाख्त करती कविताएं

अरुण अभिषेक

यु

वा कवि शंकरानंद का काव्य-संग्रह 'दूसरे दिन के लिए' एक नए तरह के प्रतीक और बिंब के जरिए, प्रभावित करने वाला काव्य-लोक है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएं छोटी-छोटी हैं। ये कविताएं अपने विन्यास में भले ही छोटी जान पड़ें, पर अपनी प्रकृति में अपनी रचनात्मक शक्ति के साथ, चेतना को स्पर्श करती हैं और बेचैन भी। इसकी वजह यह है कि कवि के भीतर भाव-बोध की प्रवीणता इतनी घनीभूत है कि वे घटित घटना को अंतस से महसूसते और देखते हैं। एक सूक्ष्म बिलबिलाहट या बेचैनी तेजी से इनके मानस पर तैरती है, जिसे व्यक्त करने में ये चूकते नहीं।

प्रस्तुत संग्रह की पहली कविता 'बहुत जरूरी है' में प्रतीक और रूपक का अभिनव प्रयोग है। चिड़ियों का आहत मन, जो दिन के उजाले में शिकारियों के निशाने से भयभीत रहता है, ये अब भय से मुक्त हो आधी-आधी घनघोर रात में उड़ा करती हैं। चिड़ियों के आहत मन को कवि जीवन को केंद्र में रखकर महसूसते हैं, जहां जीवन को बचा लेने की व्याकुलता है। तब पाठक के भीतर कविता का विलंबित लय तैरने लगता है और भीतर के धूसर संसार को हठात् अपनी संवेदनात्मक लय में आलोकित कर देता है।

शंकरानंद की कविताएं उद्दाम आवेग और उसकी सघन अनुभूति में पगी कविताएं हैं। कविता 'उन पत्तों की जिद' का यह आवेग "...जिन्हें झुलसाया जाता है आग में/फिर भी नहीं झुलसते" का पाठ करते ही, समय-संकट के घनघोर अंधकार से गुजरते हुए, एक उम्मीद की लकीरें भी खिंची चली जाती हैं, इन आशय में कि "तेज हवाओं में फिर हो जाते हैं नए/जैसे बहकर आए हों

कहीं से।" यह जीवन का उद्दीत पक्ष है, जो जीवन हेतु नई लकीरें खींचने की महत्वाकांक्षा रखते हैं। कविता 'ऊन' का यह स्पर्शी-दृश्य "उंगलियां/रास्ता खोजती हैं झाड़ियों में/जहां गुम है सुबह..." में एक भविष्य की तलाश है। संभावनाओं की आकांक्षाओं में कवि कोमल भावनाओं के माध्यम से व्यापक यथार्थ को व्यक्त करते हैं, उस आशय में कि "इस वक्त जब/बड़े उदास बैठे हैं।" इन्हीं उम्मीदों के मध्य समय से टकराते महत्वाकांक्षा की प्रतीकात्मक उद्घोषणा भी करते हैं कवि— "धरती बार-बार कहती है/उधर देखो नए पत्ते, नए पंख, नई सुबह।" कविता 'समय' का उक्त संदर्भ जीवन से जुटी उच्छ्वास की तरंगों को व्यक्त करता है। इनका सरोकार समग्रतः अपने वर्तमान से है।

क्रूर परिस्थितियों में जीवित रहने की व्यक्ति की तीव्र बेचैनी, गहरी पीड़ा से उपजे



तनाव के अनेकायामी संदर्भ और गहन आशय से संपन्न संग्रह की कुछ खास कविताएं, अपने शिल्प और अभिव्यक्ति में मनुष्य विरोधी आत्महंता कारकों का प्रतिपक्ष प्रस्तुत करती हैं। कविता 'पलस्तर' का यह दृश्य आहत करता है, जब "मां चूल्हा जलाकर बनाती है रोटी/या छौंकती है तरकारी/कुछ भी करती है कि/उसमें गिर जाता है पलस्तर का टुकड़ा/फिर अन्न चबाया नहीं जाता।" और तभी कविता अपने प्रतिपक्ष के साथ सामने आती है कि "पलस्तर एक दुश्मन है तो/उसे झाड़ देना चाहिए/मिट्टा देना चाहिए उसे पूरी तरह।" लेकिन हम ऐसा कहां कर पाते हैं? एक प्रश्न के साथ, हर मुमकिन को यह चुनौती भरी आगाज है। इन स्वरों और लयों में कविताएं 'पहिए के नीचे कुचलते हुए लोग', 'आग भी राख के बाद ही है', 'ऋण', 'उन्होंने कुछ नहीं पूछा', 'घोषणा' की अनुगूंज पाठकों को बेचैन करती है। निश्चय ही इन कविताओं के आशय, गहरे तनाव बिंदुओं का एकाग्र विस्फोट करते हैं। यह भी तय है कि ये कविताएं अपने आस-पास के जीवन की सच्चाई और उपजी भावुकता को उद्घाटित करने के साथ स्थिति-विशेष के प्रति एक हल्की उदासी और करुणा उत्पन्न कर ही नहीं रह जाती है, अपितु इनमें क्रियात्मकता भी बराबर बनी रहती है। कविता 'आग भी राख के बाद ही है' का दृश्य सोचने को विवश करता है कि "जब तक राख है/तब तक कुछ नहीं है/देखने के लिए एक बहाना है/एक बहाना है समय काटने के लिए।" और कविता का अंत अपनी क्रियात्मकता से उभरती हमारी चेतना से चिपकती है कि "राख के बाद ही हैं फूल खिले हुए/अन्न के आग भी राख के बाद ही है।" जीवन का यह बहुकोणीय प्रतिबिंब है। जहां मन की हर रेखा बारीक और प्रभावी दिखती है। दूसरी

ओर कविता 'ऋण' का यह दृश्य मनुष्य की तकलीफ, उसकी बदहाली और हृदय से गुजरने के बाद क्रोध या फिर उसकी विवशता झलकती है—“भैंस ऋण के दलदल में फंसा हुआ आदमी/एक पैर बाहर निकालने की कोशिश करता है तो/दूसरा और अधिक धंस जाता है।” निश्चय ही पूंजीवादी-संस्कृति की प्रहारक स्थिति है। जहां ऋण से लदे देश भी वंचित नहीं हैं। फिर अदना आदमी की क्या विषाद? इन चिंताओं से मुक्त हमारी व्यवस्था और उनसे जुड़े राजनीतिज्ञों की छवि सामने आती है। यह क्रंदन करती हुई कविता ‘उन्होंने कुछ नहीं पूछा’ से परिलक्षित है—“वे जानते हैं कि किसान तबाह हैं/और आत्महत्या कर रहे हैं/मर रहे हैं बुनकर/बेघर हो रहे हैं लोग.../वे जानते हैं कि किसान से सस्ते में खरीदकर/महंगा बेचा जा रहा है अनाज मुनाफा कमाने के लिए/.../नदी सूख रही है और कट रहे हैं जिंदा पेड़/लेकिन इसमें उनके लिए चिंता की कोई बात नहीं है।” कवि इन विद्रूपताओं के नंगे यथार्थ के साथ, समकालीन राजनीति या फिर सिस्टम की फासीवादी सोच के मुखौटे को नोचने में चूकते नहीं हैं।

कभी-कभी देखने में आता है कि जो कविता विचार और अनुभूति की भित्ति पर उभरी गई है, वह एकतानता से हटकर अपने अंतर्स में कई-कई विचार सरणियों को अनुस्यूत किए रहती है। ऐसा शंकरानंद की कविताओं में गहरे और जीवन के मर्मगत क्षणों का साक्षात्कार किया जा सकता है। कविता ‘बेघर’ अपने आठ बिंबों में घर होने और न होने के दंश में, एक महत्वाकांक्षापूर्ण जद्दोजहद से गुजरती मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति है। इन मनःस्थितियों का गुंजल इन आशयों में प्रकट होता है—“वे बेघर लोग हैं/उनकी सुबह उन्हें धोखा देती है”/...” उनकी इच्छा है कि घर हो अपना सुंदर सा/.../लेकिन ऐसा होता नहीं/उनके चूल्हे टूटते हैं बार-बार।”...“वे जहां बसते हैं नहीं सोचते कि/इस बार फिर बेघर होंगे...।” “तभी तो वे बेघर हैं/बारिश में भींगते हैं वे/रोते हैं तो आंसू पानी के साथ बहता है/उनके हिस्से की हवा भी भटकती है।”...। “सूरज उनके लिए कुछ नहीं कर सकता/वह तो धूप ही दे सकता है/...।”...“जब भी बम गिरेगा/उड़ेंगे उनके चिथड़े/कभी उन्हें छिपने की जगह नहीं मिलेगी/...।” इन कविताओं में यह बात गौरतलब है कि मनुष्य की तकलीफ,

उसकी बदहाली और हृदय से गुजरने के बाद आक्रोश नहीं है। यह उनकी विवशता है। जहां हम अपनी नियति से संतुष्ट हैं।

प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में कुछ यादगार पात्र भी मौजूद हैं। जिनकी अपनी संवेदनशीलता है। साथ ही वे अपने रचनात्मक अस्तित्व के लिए कुछ खास मानक गढ़ते हैं। निश्चय ही व्यक्ति का कुछ कर जाना, उसके कृतित्व की उद्घोषणा है। जिनका रचनात्मक आशय के साथ समष्टिगत फलक भी मौजूद है। कविता ‘मजदूर’ में नागेश याबलकर के मृदा शिल्प को देखकर कवि अपने सूक्ष्मतम भावों से श्रम के हथ को बारीकी से अभिव्यक्त करते हैं, इन दृश्यों में—“मिट्टी को मूर्ति होकर भी जैसे जीवित है/उसका काम छीन लिया गया है/छीन ली गई है उसकी रोटी फिर भी वह/अपने औजार नहीं छोड़ रहा/...पता नहीं कब वह अपने औजार उठा ले और/चल दे!” निश्चय ही ऐसी कविताएं हमारे आस-पास पसरी अनेक प्रकार की निराशाओं, अनास्थाओं और कुंठाओं को पीछे छोड़ते हुए, जीवन की गतिशीलता और सार्थकता को व्यक्त करती हैं। कवि शंकरानंद की यही चिंता अन्य कविताओं में मुखरित हुई है। जैसे एक समाचार के माध्यम से टीला धंसने से सात मासूमों की मृत्यु का दंश व्यक्त करती हुई कविता ‘लेकिन’ से उभरती है कि “टीला को खोदते हुए बच्चे/खोज रहे होंगे जैसे/भूख में रोटी/डर में खुशी/राख में आग।” जीवन का यह स्याह-सफेद रंग हमें बेचैन कर डालता है। उस दृष्टि से कविता ‘सविता’ की याद भी हमें विचलित करती है। इसी क्रम में रेणु की कहानी ‘ठेस’ के पात्र सिरचन को याद करते हुए कविता ‘शीतल’ की चारित्रिक मनःस्थिति की संवेदनशीलता को पाठक भूल नहीं सकते हैं। साथ ही एक साथी के आत्महत्या करने पर कविता ‘इस तरह नहीं’ का हृदयविदारक क्षण, आत्महंता से हटकर साहस की खोज करता है।

कवि ने मानवीय प्रवृत्तियों के रेखांकन के माध्यम से जीवन की विसंगतियों को विभिन्न बिंबों और स्वरो में भी उद्घाटित किया है। ये कविताएं आहिस्ते से जीवन के बहुत बड़े संदर्भ को समेट लेती हैं। उस दृष्टि से कविता ‘तुम’, ‘ऐसे में भी’, ‘पहचान’, ‘गंध’, ‘दुर्गंध’, ‘खून’, ‘अगलगी’, ‘चिड़ियां’, ‘कुछ लोग’, ‘ओट में’, ‘धुंआ’ उल्लेखनीय हैं। इन कविताओं में विरल से विरल दृश्य

और स्थिति को भी कवि अपनी काव्य संवेदना का अंग बना लेते हैं। कविता ‘एक दाना’ का यह दृष्टांत पठनीय है—“एक छोटा-सा दाना/संभालता है कितना रस कि/कभी सूखता नहीं स्वाद/चाहे धूप हो कितनी कड़ी।” इस कड़ी में कविता ‘अंततः’, ‘फिर भी’, ‘उस अजनबी को देखकर’, ‘तेज गाड़ी’, ‘चुप्पी’, ‘रात’ की उपस्थिति सराहनीय है। इस तरह आज की त्रासदी के प्रतिपक्ष में कवि उम्मीदों की लकीरें खींचते हैं। साथ ही ये कविताएं जीवन के हर क्षणों में विकल्प की तलाश करती हैं। वहीं कविता का आत्मनिर्णय पाठकों के हिस्से में जाता है। शंकरानंद अपने आत्मगत अनुभवों को वस्तुपरक सार्वजनीनता में भी परिवर्तित करने की काव्य-दक्षता रखते हैं। यदि सूक्ष्मता से देखा जाय, तो इन कविताओं को पढ़ते हुए, ऐसा लगता है कि पाठक स्वयं से संलाप कर रहे हैं।

शंकरानंद ऐसे कवि हैं जो मनोवृत्तियों को कविता में अंतर्वस्तु के संचालन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इस्तेमाल करने की यह प्रक्रिया बहुत चौकाने वाली तो होती ही है। साथ ही कवि कविता की आंतरिक संरचना या उसके ताने-बाने में पूरे काव्य-कौशल के साथ इस तरह संवेदनशील होकर कसते हैं कि कविता जिन कोनों-अंतरों को छूती है, वहां ये मनोवृत्तियां पूरे तात्पर्य और अर्थ-ध्वनियों के साथ बजने लगती हैं। कविता ‘चावल’, ‘हवाएं’, ‘अन्न’, ‘हवा में धूल’, ‘जब तक’, ‘कोई तारा’, ‘तस्वीर’, ‘दौड़’ इन्हीं केंद्रीय-सूत्र के साथ पाठकों के सामने आती है। प्रतिस्पर्धा से भरे युग में कविता ‘दौड़’ का लय भी जीवन के हकीकत को व्यक्त करता है।

कवि शंकरानंद का यह पहला संग्रह उम्मीदों और संभावनाओं से भरा है। इसे पढ़ते हुए यह आशा जगती है कि इस कवि को अभी और आगे जाना है। जहां उनका काव्याकाश विस्तृत होगा, अनेक प्रकाशपुंज होंगे और अंधेरों से लड़ने की उनकी क्षमता से पाठक परिचित होंगे।

दूसरे दिन के लिए/शंकरानंद/भारतीय भाषा परिषद,
36ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-700017/मूल्य :
₹ 150

विवेकानंद कॉलोनी, पूर्णियां-854301
मो. 09852888589

वाचिक शक्ति और सौंदर्य का सफल संधान

श्याम कश्यप

डा.

नामवर सिंह की आठ पुस्तकों के सेट की प्रथम चार पुस्तकों की समीक्षा, अर्सा पहले, इन पंक्तियों के लेखक ने *पुस्तक-वार्ता* में (क्रमशः अंक 30, 31, 32 एवं 33) में की थी। *हिंदी का गद्यपर्व* में नामवरजी के प्रथम प्रकाशित लेख (जनवरी, 1950) से लेकर तब तक (2008) छपे ऐसे आलेख, टिप्पणियां, भूमिकाएं और पुस्तक समीक्षाएं संकलित थीं, जिनके केंद्र में आलोचना और गद्य की विलुप्त कला है; जबकि *प्रेमचंद और भारतीय समाज तथा कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता* में उपर्युक्त विषय से संबंधित लेख, टिप्पणियां और व्याख्यानों के लिखित-संपादित रूप हैं।

चौथी पुस्तक *ज़माने से दो-दो हाथ* में (दो लेखों के अलावा) सभी व्याख्यानों और वाचिक टिप्पणियों के लिखित-संपादित रूप हैं। इधर प्रकाशित शेष चारों किताबों में दो *साहित्य की पहचान* तथा *आलोचना और विचारधारा* में भी पहले सेट की उपर्युक्त चौथी किताब की तरह व्याख्यानों और वाचिक टिप्पणियों के लिखित-संपादित रूप हैं, जबकि *सम्मुख* और *साथ साथ* में साहित्य से लेकर राजनीति तक विविध विषयों पर साक्षात्कार हैं। स्वभावतः ये चारों पुस्तकें वाचिक परंपरा के चलते जहां स्तर और गद्यकला की ऊंचाई में पिछली तीनों किताबों से उन्नीस हैं, वहीं अपने स्वरूप और मिजाज में उपर्युक्त चौथी पुस्तक से मिलती-जुलती हैं। लिखित और वाचिक में ऐसा अंतर और स्तर-भेद होता ही है। पुनरुक्ति-दोष और बड़े पैमाने पर दोहराव भी।

प्रसंगवश, इन बातों की ओर सेट के संपादक आशीष त्रिपाठी ने कुछ संकेत भी

किए हैं। अपनी भूमिका में लिखा है कि 'पुनः पुनः संपादित' करने पर भी ऐसे व्याख्यानों, वाचिक टिप्पणियों और साक्षात्कारों में नामवरजी की "भाषा टूटती दरकती रहती है। खासतौर पर वाक्य रचना में यह टूटन-दरकन स्पष्ट देखी जा सकती है। आधे अधूरे वाक्य कई बार इस तरह विन्यस्त होते हैं कि उन्हें साफ़ कर पूरे वाक्यों में बदलना या ज़रूरी न होने पर छोड़ देना ज़रूरी हो जाता है।" कहना न होगा कि 'आधे अधूरे वाक्यों और एक वाक्य में गुंथे अनेक उपवाक्यों से पैदा होने वाली प्रवाह-बाधा' को सुयोग्य और परिश्रमी संपादक द्वारा "भाषा को कसने और बातचीत को सुसंबद्ध-सुसंगठित रूप' देने की पूरी ईमानदारी कोशिशों से भी कई जगह ऐसा हो नहीं पाया। यह संभव भी नहीं था।

आशीष त्रिपाठी ने इस टूटन-दरकन का कारण बताया है : विचार निरूपण के क्रम में तात्कालिक दबाव, मनःस्थिति और आवेग की मात्रा का अंतर। आवेग को 'आवेश' भी समझा जा सकता है! हम बड़ी विनम्रता से एक अन्य कारण की ओर संकेत करने की इज़ाज़त चाहेंगे। इसका संबंध रूप की बजाय अंतर्वस्तु से है, वह भी स्वयं नामवरजी की शब्दावली में : कई बार भाषा का स्वलन विचार-स्वलन का पर्याय होता है! प्रसंगवश, ऐसा आवेश और स्वलन, एक सुनिश्चित 'स्कीम' के बावजूद तभी नज़र आता है जब संदर्भ रामविलास जी का हो! वह भी विशेष रूप से उनके ऋग्वेद पर लिखने के लिए और 'आर्यों' को (जिन्हें रामविलास जी 'नस्ल' नहीं मानते; और ऐसा मानने के लिए नामवरजी ने हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना की थी) बाहर से आने वाले आक्रमणकारी न मानने के लिए। उन्होंने इस औपनिवेशिक किंतु

अवैज्ञानिक धारणा का बहुविध और ठोस प्रमाणों के आधार पर खंडन किया है। भाषा वैज्ञानिक, पुरातात्विक और साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर।

ऐसा और भी ज़्यादा तब होता है जब नामवर जी खुद भी जानते रहते हैं कि वे ग़लत हैं, पर अपनी ज़िद के कारण मार्क्सवादी रामविलास शर्मा को आर्यसमाजी और हिंदुत्ववादी 'साबित' करने की हठधर्मिता दिखाते हैं। ऐसे में वे इसे भी नज़रअंदाज कर देते हैं कि रामविलास जी ने ऋग्वेद पर लिखा क्या है! उनके लिए तो किसी मार्क्सवादी का वेदों पर लिखना ही मानो अक्षम्य अपराध है। और 'आर्यों' को हमलावर न मानकर भारत के मूल निवासी कहना, सीधे संघ-परिवार और आर.एस.एस. के साथ खड़े होना है! नामवर जी ऐसे मौकों पर यह भी भूल जाते हैं कि पहले वे क्या कह और लिख चुके हैं। फिर वह हिंदी जाति की अवधारणा हो या हिंदी नवजागरण। स्मरणीय है कि विश्वनाथ त्रिपाठी ने रामविलास जी पर लिखे ऐसे ही तीन लेख, *वसुधा* के रामविलास शर्मा विशेषांक में, इस टिप्पणी के साथ पुनर्प्रकाशित किए थे कि ये सभी लेख एक ही नामवर सिंह के लिखे हैं। अशोक वाजपेयी ने *पूर्वग्रह* और प्रभाष जोशी ने *जनसत्ता* में अज्ञेय पर उनकी टिप्पणी पुनः-पुनः प्रकाशित कर लगभग ऐसा ही किया था।

रामविलास शर्मा के संदर्भ में ऐसे सरलीकरण पिछले सेट में भी थे और ऐसे अति-सरलीकरणों की भरमार समीक्षित सेट में भी दिखेगी। ऐसे में उनके पास यहां न तर्क है न कोई प्रमाण! रामविलास-ग्रंथि और अपनी 'स्कीम' में उन्हें इसकी शायद ज़रूरत भी नहीं। साथ साथ में संकलित दोनों 'बातचीत',

राजकुमार राकेश का साक्षात्कार (सम्मुख) और अपने 'निमित्त' का कलकत्ता-व्याख्यान (आलोचना और विचारधारा) देख लेने ही पर्याप्त होंगे। बातचीत के दौरान जब रामविलासजी बार-बार अपनी मान्यताओं को ग़लत रूप में प्रस्तुत करने और उन्हें विरूपित कर मनमाने उल्टे नतीजे निकालने की ओर ध्यान दिलाते हैं, तो नामवरजी बीच ही में बात काट-काट कर उन्हें बोलने नहीं देते।

रामविलासजी हिंदुत्ववादियों और अपनी मान्यताओं के बुनियादी फर्क को बताने की कोशिश करते हैं और अपनी मान्यता समझाने का प्रयास करते हैं, तो नामवरजी टोक-टोक कर प्रसंग बदल देते हैं। इस पर रामविलास जी 'झल्लाएंगे' नहीं तो क्या? जिसकी ओर आशीष ने भी संकेत किया है। 'आर्य' मूल निवासी हैं, तो हिंदुत्ववादियों की तरह रामविलासजी यह तो नहीं कहते कि बाकी सब 'अनार्य' और मलेच्छ हैं और उन्हें भारत से बाहर खदेड़ देना चाहिए। पर नामवरजी तो उपर्युक्त व्याख्यानों, बातचीतों और साक्षात्कारों में ऐसे ही मनमाने 'निष्कर्ष' थोपकर रामविलासजी को 'बाबरी मस्जिद' तोड़ने वालों के साथ कतारबंद कर देते हैं। ऐसी ही ग़लतबयानी या विकृतियां पकड़े जाने पर नामवरजी का वैचारिक स्वलन और फलस्वरूप भाषा की टूटन-दरकन रामविलासजी के साथ मंगलेश डबराल वाली और चंद्रबली सिंह-विश्वनाथ त्रिपाठी आदि की बातचीत देखने लायक हैं, जो क्रमशः *सम्मुख* और *साथ साथ* में भी संकलित हैं।

लेकिन ऐसी विकृतियों को छोड़कर, बल्कि उनके रहते हुए भी, न तो नामवर सिंह का महत्त्व कम होता है और न ही उनके लिखे (और बोले) का। विशेष रूप से वाचिक परंपरा की दृष्टि से तो इन चारों समीक्षित किताबों का खास महत्त्व है। साथ ही, इन बिखरे हुए व्याख्यानों, टिप्पणियों और साक्षात्कारों को इस सेट में एक जगह संकलित करने के लिए, आशीष त्रिपाठी और उनका सुचिंतित और गहन परिश्रम से युक्त संपादन-कार्य भी अतीव साधुवाद के पात्र हैं।

इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि पिछले लंबे समय से नामवर जी ने अपने व्याख्यानों के माध्यम से पूरे देश में, विशेष रूप से उत्तर भारत में, एक नए नवजागरण का अलख

जगाया है। नवजागरण, जिसका रामविलास शर्मा ने अपनी कालजयी कृतियों के जरिए, नए सिरे से सूत्रपात किया था। समीक्षित पुस्तकों में भी नामवरजी ने उत्तर-औपनिवेशिक नव-साम्राज्यवादी (मुख्यतः अमरीका के) हमलों के रूप में भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद की अप-संस्कृति तथा साहित्य-कला-संस्कृति के क्षेत्रों में उसके विचारधारात्मक आक्रमणों की बारीकियां उजागर कर उन्हें बेनकाब किया है।

दूसरी ओर, इसी नव-साम्राज्यवाद के भारतीय एजेंट के रूप में सक्रिय हिंदुत्ववादी साम्प्रदायिक और फ़ासिस्ट शक्तियों, विशेष रूप से संघ-परिवार, आर.एस.एस. और भाजपा की घातक और विध्वंसकारी नीतियों का भी खुलकर पर्दाफ़ाश किया है। इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है तमाम मार्क्सवाद-विरोधी प्रवृत्तियों, यथा सबाल्टन, उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद के विरुद्ध उनका प्रभावी प्रत्याक्रमण तथा हिंदी साहित्य में उनके असर से सक्रिय विभिन्न कलावादी-रूपवादी सिद्धांतों का मूलोच्छेदन। इस दृष्टि से पिछले सेट की चारों किताबों की तरह ही, उनकी तुलना में कुछ हल्की और स्फ़ीत होने पर भी, समीक्षित चारों पुस्तकों के इस सेट को भी विशेष रूप से उल्लेखनीय कहा जाएगा।

साहित्य की पहचान इन चारों किताबों में सर्वाधिक उल्लेखनीय है, जो दो खंडों में विभाजित है। पहले खंड में साहित्य की पहचान के मूल आस्वादपरक मार्ग को रेखांकित करते हुए नामवरजी मूल्यांकन में किसी भी तरह के विचारधारात्मक आग्रहों को एक बड़ी बाधा बताते हैं। इस खंड में हिंदी कविता से संबंधित उन्नीस व्याख्यान या टिप्पणियां हैं, जबकि दूसरे खंड में भारतीय उपन्यास की अवधारणा और आख्यान (नैरेशन) की परंपरा का उल्लेख करते हुए मुख्यतः कथा साहित्य और हिंदी कहानी तथा उसकी आलोचना के सूत्रों पर वक्तव्य दिए गए हैं। स्मरणीय है कि हिंदी में कथा-समीक्षा की विधिवत् शुरुआत नामवर जी से ही मानी जाती है। इस खंड में 'नई कहानी' और उसके बाद की कई कथा-पीढ़ियों के रचनात्मक कार्यों पर संक्षिप्त किंतु सारगर्भित टिप्पणियां की गई हैं।

हैरानी की बात है कि इन किताबों में कथा-साहित्य या कहानी की चर्चा में कहीं भी

हरिशंकर परसाई के कथा-साहित्य और उनकी व्यंग्यात्मक कहानियों का कोई ज़िक्र नहीं आता, जबकि नामवरजी परसाई जी को वही महत्त्व देते हैं जो कविता में *गजानन माधव मुक्तिबोध* को! अपवाद-स्वरूप *सम्मुख* में संकलित सुरेश पांडे के साक्षात्कार में परसाई जी का ज़िक्र आता है, जब पांडेजी इस प्रसंग में नामवरजी को घेरते हैं। लेकिन यह देखकर और भी हैरानी होती है कि हरिशंकर परसाई से संबंधित कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंश इस संकलित साक्षात्कार में नहीं हैं, जो अन्यत्र छप चुके हैं। स्मरणीय है कि यह साक्षात्कार *पहल-पुस्तिका* के रूप में भी पहले प्रकाशित हो चुका है। कहना न होगा कि परसाई जी पर आज तक कुछ भी न लिखना और कथा-साहित्य पर तमाम चर्चाओं में परसाई जी का नाम बराबर स्मृति से 'स्लिप' कर जाना वाकई में विचित्र लगता है! पर जो नहीं है, उसका क्या गम! नामवरजी को हो तो भले हो!

साहित्य की पहचान के कथा-साहित्य वाले खंड में ही पंजाबी के मशहूर कथाकार गुरदयाल सिंह की आत्मकथा के बहाने पंजाबी समाज और उसकी संस्कृति पर बोलते हुए नामवर जी ने उसे 'गोर्की से बेहतर लिखी हुई आत्मकथा' कहा है। दूसरों की छोड़ें, इससे तो शायद गोर्की के अनुवादक खुद गुरदयालजी भी सहमत नहीं होंगे! मन-ही-मन प्रसन्न भले हो लें। इसे नामवर जी का 'फ़तवा' नहीं मानना चाहिए। उद्घाटन भाषणों और लोकार्पणों-जैसे नितांत औपचारिक अवसरों पर कही गई ऐसी बातों को बहुत गंभीरता से लेना भी नहीं चाहिए। कविता वाले खंड के अधिकांश व्याख्यान और टिप्पणियां तकरीबन इसी तरह की हैं। कालिदास, कबीर, रीति-काव्य, निराला, पंतजी, महादेवी वर्मा, बच्चन, दिनकर, अज्ञेय और भारत भूषण अग्रवाल आदि पर की गई टिप्पणियों को भी इसी रोशनी में देखना चाहिए। हालांकि इनमें भी कहीं-कहीं कई नई और विलक्षण बातें बिजली की चमक की तरह कौंध जाती हैं। जैसे कि निराला और अज्ञेय के संदर्भ में।

कुछ लोगों को सत्यनिष्ठा और वस्तुपरकता का ऐसा जुनून और मारक अति-उत्साह होता है कि वे अपनी नाक काटकर दूसरों का सगुन बिगाड़ने से बाज नहीं आते! उस पर तुरा यह कि 'मार्क्सवादी'



आलोचना-दृष्टि और मूल्यांकन का सही तरीका यही है और हम तो हर तरह की 'व्यक्ति-पूजा' या ठकुरसुहाती के सख्त खिलाफ हैं! नामवरजी की उदारता और सहृदयता का पाट बड़ा चौड़ा है। ऐसे मौकों पर वे किसी का दिल नहीं दुखाते। बारात के दुल्ले ही नहीं, अन्य उपस्थितों को भी वे 'तुम सम को उदार, को दानी' वाली अपनी भलमनसाहत और शालीनता के शीतल छींटों से तारते रहते हैं। इसे उनकी कमजोरी या चतुराई के रूप में नहीं, बल्कि बड़प्पन के तौर पर लेना चाहिए। ऐसे मामले समीक्षित किताबों में भी काफी हैं और वे इनमें कई जगह मिल जाएंगे।

ऐसे तमाम मामलों में अब भला नामवर जी का क्या दोष कि कुछ साहित्य-विवेक से रहित और दिक्काल-शून्य लोगों और उनके भक्तों या प्रशंसकों का दिमाग घूम जाए; फिर वे इतराकर 'प्यादे से फर्जी भयो' की तर्ज पर टेढ़ो-टेढ़ो चलने को चरितार्थ करते हुए मन-मत्त-मयूर-सा नाचने लगे! ऐसे उपस्थितों या साक्षात्कार लेने वाले लेखकों का नामोल्लेख और उनकी एकाध रचना की तारीफ तो वे करते ही हैं, कई बार वे किन्हीं किस्मत के मारों को मुक्तिबोध के वजन का कवि या गोर्की, लू-शुन अथवा प्रेमचंद से बड़ा कहानीकार भी उसी सहजता से कह देते हैं। अब इससे कोई फूलकर अखिल भारतीय या अंतर्राष्ट्रीय गुब्बारा (कभी ग्लोब भी!) हो जाए, तो भला वे क्या करें!

वैसे भी, नामवरजी-जैसी सभा-चातुर्य की विलक्षण कला हिंदी तो क्या शायद संपूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य-कला-संस्कृति के

पूरे परिदृश्य में किसी के पास नहीं है! यह बात अलग है कि कभी-कभी वे आनंद की तरंग में अपनी इस कला को भीषण कलाबाजी की हद तक खींच देते हैं। उनका तो कुछ नहीं जाता, पर मारे बेचारे 'गुलफाम' जाते हैं! समीक्षित पुस्तकों में भी कुछेक स्थलों पर ऐसे प्रसंग मिल जाएंगे। शेष कल्पना पाठक को स्वयं करनी पड़ेगी। नामवरजी में सभा-चातुर्य का मोहक अंदाज और सहज पांडित्य तो शुरू से ही रहे हैं, पर इधर यह अतिशय सहृदयता, अतीव उदारता तथा दिवंगत, समकालीन या परवर्ती युवा और तरुण पीढ़ियों—सभी के प्रति उनका छल-छल छलकता प्यार और लाड़ वय के साथ प्रायः उत्तरोत्तर बढ़ता भी जा रहा है। इसका सम्मान करना चाहिए! इसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए!

इस सेट में *साहित्य की पहचान* जैसी ही महत्त्वपूर्ण दूसरी पुस्तक आलोचना और विचारधारा है। इसके चार खंड हैं। पहले में अपने 'निमित्त' के अवसर पर दिए दो व्याख्यान हैं, जबकि दूसरे और तीसरे खंड में सात-सात व्याख्यान हैं तथा अंतिम खंड में छह। इनमें से कुछ एकेडमिक स्टाफ कॉलेजों में पुनर्नवा और पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों में दिए व्याख्यान और जे.एन.यू. में छात्रों को दिए कक्षा-व्याख्यानों के लिखित-संपादित रूप भी हैं। विभिन्न सभा-सम्मेलनों और संगोष्ठियों में दिए व्याख्यान तो बड़ी संख्या में हैं ही। इनमें से कई मध्यप्रदेश कला परिषद, उसकी पत्रिका *पूर्वग्रह* और *भारत भवन* (भोपाल) के कार्यक्रमों में दिए गए थे।

हालांकि *प्रगतिशील लेखक संघ* ने

अमरीकी गुप्तचर एजेंसी सी.आई.ए. से जुड़ी रही अंध-कम्युनिस्ट-विरोधी संस्था *फ़ोर्ड फ़ाउंडेशन* का पैसा *भारत भवन* में आने के मुद्दे पर उसके कार्यक्रमों में भाग न लेने का प्रस्ताव पारित किया था। पर फिर भी बड़ी संख्या में प्रगतिशील और जनवादी लेखक संघों के लेखक भाग लेते रहे। अशोक वाजपेयी के इस स्पष्टीकरण के बाद भी कि फोर्ड फ़ाउंडेशन के पैसे का तथ्य लेखकों को पहले ही बता दिया जाता है। यह सुविदित तथ्य है कि इन आयोजनों में, अशोक वाजपेयी से मन-मुटाव से पहले तक, नामवर जी सबसे चहेते और लगभग 'स्टार' भाषणकर्ता रहे हैं। स्वभावतः, इस सेट की पुस्तकों में यह प्रसंग भी है। *साथ साथ* और *सम्मुख* में, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, सिर्फ साक्षात्कार और अन्य विद्वानों की सहभागिता वाली बातचीत के लिखित-संपादित रूप हैं।

कुल मिलाकर पिछले सेट से कुछ हल्का होने पर भी, यह सेट अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस वय में भी नामवर जी की ऐसी सर्जनात्मक सक्रियता हिंदी का सौभाग्य नहीं तो और क्या है!!

1. साहित्य की पहचान; 2. आलोचना और विचारधारा; 3. सम्मुख; 4. साथ साथ/ चारों पुस्तकों के लेखक : नामवर सिंह/ संपादन : आशीष त्रिपाठी/ चारों के प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य क्रमशः : ` 350, ` 450, ` 450, ` 250

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096, मो. 09891250940

‘आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास’ : प्रवहमान

एवं संश्लिष्ट चित्र

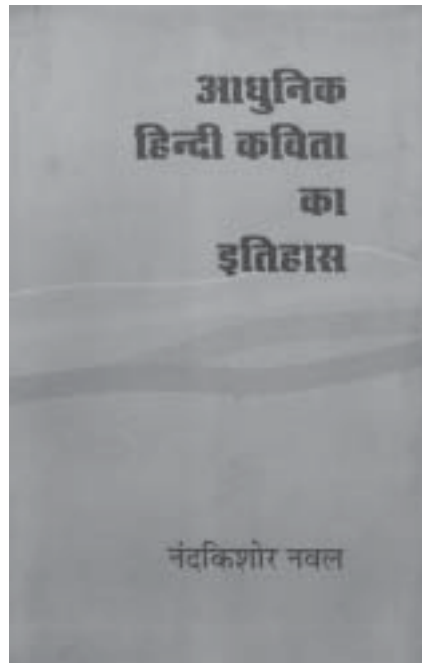
मीनू मंजरी

इ

इतिहास और साहित्य का संबंध बड़ा घनिष्ठ है। एक समय तो दोनों विषयों की विभाजक रेखा और अस्पष्ट थी, जब गिबबन के ‘द राइज एंड फॉल ऑफ रोमन एंपायर’ जैसे इतिहास ग्रंथ निश्चित रूप से उस युग की साहित्यिक धाती के तौर पर भी गिने जाते थे। भारत में भी इतिहास वृत्त साहित्यिक सुंदरता के साथ रचे और याद रखे जाते थे, जैसे कि मुगल शासकों के स्व-वृत्तांत या जीवन-वृत्त। इतिहास महत्त्वपूर्ण घटनाओं का काल-क्रमिक विवरण तो है ही, साथ में उस युग के लोक एवं समाज के ‘माइंडस्केप’ का वर्णन भी है। साहित्य उसी माइंडस्केप के किसी व्यक्ति द्वारा अनुभव करने और फिर उसे अभिव्यक्त करने से उपजता है। जो लेखक, जो कवि इस अनुभव को इतना आत्मसात कर लेता है कि जन-जन उसमें अपनी छवि देख सके, वह अपनी अभिव्यक्ति को सार्वभौम बना देता है। यही वैयक्तिक अभिव्यक्तियां, जो सार्वभौम अपील रखती हैं, क्लासिक बन जाती हैं। उस युग के इतिहास-बोध में ऐसी कृतियां अनिवार्य स्थान पा लेती हैं। डा. नंदकिशोर नवल ने अपनी पुस्तक ‘आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास’ में ऐसी ही काल की कसौटी पर खरी उतरी कृतियों को अपने व्यापक इतिहासबोध के अंतर्गत देखा-परखा है।

भारत में इतिहास की अवधारणा ‘इति-अ-हास’ के रूप में रही है, अर्थात् ऐसा ही होता आया है—कोई भी काल स्वयं में संपृक्त एवं पृथक् नहीं है, वह अपने पूर्व काल से जुड़ कर चलता है और अपने भविष्यत् काल का निर्माणकर्ता है। डॉ.

नंदकिशोर नवल ने इतिहास के प्रति यही डायक्रोनिक, बल्कि कहें तो पॉलीक्रोनिक (बहुकालिक) रूख रखते हुए आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास लिखा है। जाहिर है उनकी इतिहास दृष्टि नारियल के पेड़ की तरह सीधी-संकरी न होकर, किसी छतनार वृक्ष की तरह शाखाओं-प्रशाखाओं से युक्त है। यही कारण है कि किसी भी साहित्यिक ‘युग’ की खास ‘धारा’ का सीधा विवरण न होकर, उनकी पुस्तक एक युग के आगे-पीछे के कारकों, सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ और अन्य धाराओं का भी उल्लेख करती है। उन्होंने स्वयं भूमिका में कहा है कि उनका प्रयास ‘आधुनिक हिंदी कविता का प्रवहमान और संश्लिष्ट रूप उपस्थित करने’ का था। जहां काल के संदर्भ में उनकी दृष्टि डायक्रोनिक है, वहीं एक विशिष्ट काल में उपस्थित



विभिन्न धाराओं के प्रति उनकी दृष्टि डायालॉगिक है। ‘डायलॉगिक’ शब्द का इस्तेमाल मिखाइल बाख्तीन ने उन कृतियों के संदर्भ में किया है, जिसमें कोई एक स्वर प्रमुखता से उभरता है लेकिन अन्य स्वरों को भी नजरअंदाज नहीं किया जाता। डा. नंद किशोर नवल ने भी एक काल की मुख्यधारा के साहित्य का वर्णन तो किया ही है, साथ में गौण धाराओं और मुख्य धारा के साथ उनके संबंधों को भी परखा है। यह पाठकों, छात्रों, शोधकर्ताओं के मन में उस युग की समग्र तस्वीर प्रस्तुत करता है।

गाइल्स डेल्यूज़ और फेलिक्स गुआतारी ने 1980 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ‘आथाउजेंड प्लैटूज’ में सांस्कृतिक-सामाजिक तत्त्वों के अध्ययन के लिए ‘राइजोमेटिक’ वृद्धि की अवधारणा दी है। उनके अनुसार यदि हम किसी भी समाज में सांस्कृतिक मूल्यों और संदर्भों को किसी हायरार्की में न रखकर राइजोम की तरह क्षैतिज धरातल पर फैलता देखें तो वह अधिक वांछनीय अवस्था होगी। डॉ. नवल के लिए भी साहित्य का इतिहास सिर्फ एक शिखर से दूसरे शिखर तक ही यात्रा नहीं है, बल्कि वह एक गतिमान वृद्धि है जिसके पीछे कितने ही राजनीतिक-सामाजिक, यहां तक कि लेखक के व्यक्तिगत जीवन के कारक भी हैं। साहित्य किसी शून्य में नहीं उपजता-बसता, जो उसके इतिहास की रचना कोई घोर अवैयक्तिक मुद्रा (स्टांस) लेकर की जा सके। नवलजी का साहित्य के प्रति स्नेह इसीलिए बार-बार इस इतिहास में झलकता है।

कुल नौ निबंधों की शृंखला में उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास रखा है। इसकी दृष्टि की व्यापकता इसी बात से

स्पष्ट हो जाती है कि इन खंडों का नामकरण न तो किसी 'वाद' पर किया गया है, न ही उस युग/धारा के प्रमुख कवि पर। जिन-जिन कवियों और कविताओं से उस वक्त की काव्य परंपरा निर्मित हुई है, वे सभी इन निबंधों में सम्मिलित हैं। उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता के आरंभ में भारतेंदु हरिश्चंद्र जैसे अद्भुत एवं जाने-पहचाने कवि को रखा है। साथ ही 'प्रेमघन' और 'प्रताप नारायण मिश्र' जैसे कवियों की भी इतनी विस्तार से चर्चा है कि ब्रजभाषा कम समझने वाले नौउम्र छात्र भी इन ऐतिहासिक कृतियों को पढ़ने के लिए प्रेरित हो जाते हैं।

श्रीधर पाठक को उन्होंने इतिहास क्रम में भारतेंदु युग का अंतिम कवि न मानकर द्विवेदी युग का आरंभिक कवि माना है—पूरी तर्कपूर्ण व्याख्या के साथ। उन्होंने विभिन्न युगों के कवियों के बीच परंपरा के जुड़ते तारों को भी उदाहरण सहित दिखाया है। जैसे कि श्रीधर पाठक की चित्रात्मक, सुध्वनित भाषा के साथ निराला की काव्यभाषा का संबंध। उन्होंने पाठकजी के जागरण गीतों को भी छायावादी जागरण गीतों से जोड़ा है। इसी तरह जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा किए उषाकालीन आकाश के वर्णन को वे शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'उषा' से जोड़ते हैं। इस तरह वे नए और पुराने को एक ही लगातार चलती धार में देखते हैं। साथ ही अतिचर्चित और अचर्चित कवियों को एक बार में देखने से छात्रों, पाठकों में पुराने कवियों को पढ़ने की प्रेरणा उत्पन्न होती है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र से मैथिलीशरण गुप्त एवं उसके बाद तक राष्ट्रीयता के प्रवाह को भी नवलजी ने उदाहरण सहित दिखाया है। भारतेंदु युग के कवि अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति और भारत की दुर्दशा के द्वैध में थे। ये धाराएं कभी उनमें समानांतर चलती हैं तो कभी एक-दूसरे को काटती हुई। कभी वे सरकार से दीनों पर कृपा करने की प्रार्थना करते हैं, तो कभी भारतवासियों से उठ खड़े होने का आह्वान करते हैं। आरंभ में ये कवि अंग्रेजों की व्यवस्थित शासन प्रणाली और रेल-डाक जैसी सुविधाओं से प्रभावित हुए थे, लेकिन बाद में वृहत् तस्वीर उनके सामने उभरी और उन्हें राष्ट्रीयता का रास्ता ही गहने

योग्य लगा। साथ ही आधुनिक भारतीय कवियों की राष्ट्रीयता इतनी संकीर्ण नहीं थी कि वह साम्राज्यवाद के रास्ते पर चल पड़े। लगभग सभी कवियों के सामने राष्ट्रवाद के उपरांत वैश्विकता-उत्तर राष्ट्रवाद का आदर्श था। जैसे रवींद्रनाथ टैगोर विश्व एकता और प्रेम को मानव का उद्देश्य मानते थे, वैसे ही ये कवि भी मानव मूल्यों की परिधि राष्ट्र के बाद पूरे विश्व को मानते थे। जैसे—उन्होंने दिनकर को उद्धृत किया है—“निज से विरत/सकल मानवता के हित में अनुरत-सा/भारत!” चाहे भले ही यह उत्तरराष्ट्रवादी आदर्श कितना भी यूटोपियन लगे, लेकिन मानना होगा कि आज के अप्रत्यक्ष और आर्थिक-सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के दौर में यही वांछनीय है। यहां यह ध्यान रखना होगा कि उत्तर राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद को फांदकर नहीं आ सकता—पहले राष्ट्रवाद, फिर उत्तरराष्ट्रवाद। ये कवि भी यही दर्शाते हैं—हम अपने राष्ट्र की स्थिति सुधारें, उसे गर्वान्वित होने योग्य बनाएं, फिर विश्व की जय की बजाय विश्व का हित करने का प्रयास करें। इन्हीं आदर्शों को नवलजी ने स्थापित कृतियों की समालोचना में सामने रखा है। जैसे—यशोधरा और विष्णुप्रिया... “ये दोनों चरित्र पति भक्ति और अपनी धार्मिक मान्यता दोनों के बीच गजब के संतुलन का निर्वाह करते हैं। विरोध के साथ समन्वय का यह भाव भारतीय संस्कृति के स्पष्टीय मूल्यों में से एक है...”।

विभिन्न कृतियों में उपस्थित स्त्री-विमर्श के स्वर को भी नवलजी ने उठाया है। अनेक कवियों में राजनीतिक कंटेंट की जोरदार उपस्थिति की भी उन्होंने व्याख्या की है। अर्थात् उनकी समालोचना का आधार कोई निर्दिष्ट 'वाद' या मानदंड न होकर, कृतियों के अनुसार उसकी व्याख्या है। इसीलिए कोई कवि या कृति उनकी निगाहों में 'रिजेक्ट' नहीं हो जाता। नागार्जुन की राजनीतिक कविताएं दैनंदिन राजनीति से प्रेरित हैं तो मुक्तिबोध की राजनीति गहरे धंस कर घाव करने वाली है, रघुवीर सहाय की राजनीतिक आयरनी महीन है तो धूमिल की आग लगाने वाली—लेकिन चूंकि इन सभी का साहित्यिक दाय अपनी तरह का है, महत्त्वपूर्ण है और काल की कसौटी पर खरा है तो इतिहास में

ये सभी सकारात्मक रूप से जाने चाहिए। यही कारण है कि कतिपय आलोचकों द्वारा 'अभिजात' विशेषण को नकारात्मक रूप में प्रस्तुत कर 'अज्ञेय' जैसे कवियों को कम महत्त्वपूर्ण कर बताया गया, लेकिन नवलजी ने इस इतिहास में उनकी कविता को अपनी पूरी भव्यता में सामने रखा है। 'आधुनिक कविता का इतिहास' में कवियों और कृतियों पर कोई जजमेंट न होकर उनकी सुंदरता और प्रभाव को पाठकों के सामने रखा गया है। यदि किसी कवि के कोई अनछुए पहलू हैं तो उन्हें उजागर किया गया है। लेकिन अंततः विमर्श को खुला (ओपन एंडेड) रखा गया है—पाठक स्वयं कृतियों को पढ़ अपनी धारणा बनाने के लिए प्रेरित होते हैं। इसमें उद्धरणों के चयन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कतिपय उद्धरण को फिल्म के ट्रेलर की तरह पाठकों को पूरी कविता ढूंढ कर पढ़ने के लिए उकसाते हैं।

नवलजी ने कुछ कम चर्चित कवियों और धाराओं को भी इस इतिहास में उचित स्थान दिया है। जैसे—सियारामशरण गुप्त की कविताएं। वहीं स्वच्छंदतावादी कवियों की परंपरा को उन्होंने माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे कवियों के साथ जोड़ कर रखा है। 'पुष्प की अभिलाषा' जैसी अमर कविता के पीछे चतुर्वेदी जी की कविताओं का पूरा स्पेक्ट्रम छिप गया है, उसके प्रति नवल जी पाठकों की उत्सुकता जगाते हैं। यह उत्सुकता जागृत करना बहुत जरूरी है, क्योंकि आज हिंदी कविता की पाठकीयता या तो छात्रों की पाठ्यपुस्तकीय कविताओं तक है या फिर आलोचकों द्वारा फैशनेबल घोषित कर दिए गए कवियों तक। ऐसे में पाठकों को बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जैसे कवियों की विलक्षणता को स्वयं अनुसंधान करके पाने की प्रेरणा देना इस इतिहास-ग्रंथ की सार्थकता है।

निराला को इतिहासकार ने कविता की तीन धाराओं में रखा है। वे छायावाद में तो हैं ही, प्रगतिशील और प्रयोगवादी कविताओं का आरंभिक दौर भी निराला के बगैर पूर्ण नहीं होता। यह कवियों को कैटगराइज न करके देखने की इतिहासकार की प्रवृत्ति को दर्शाता है। उन्होंने स्थापित कवियों और कविताओं की स्थापित व्याख्याओं

से हटकर उन्हें देखने से भी गुरेज नहीं किया है। यही कारण है कि महादेवी वर्मा को मात्र पीड़ा और विषाद की रहस्यवादी कवयित्री न मानकर वे उनके अस्तित्वबोध को भी पाठकों के सामने लाते हैं। दिनकरजी की जोशीली कविताओं के साथ-साथ “लगता है, मैं कविता नहीं लिखता/ सरापा दर्द हुआ जाता हूँ” जैसी पंक्तियों को रखकर उनके कवि व्यक्तित्व को समग्रता में दर्शाते हैं। वे टूट कर आधुनिक हिंदी कविता के रत्नों को सामने लाते हैं—जैसे पंतजी की ‘कौए, बत्खें मेंढक’, भारत भूषण अग्रवाल की परंपरा पर लिखी छोटी कविता, त्रिलोचन की ‘छोटी लेकिन लेकिन चोखी कविता’—‘जीवन का खेल’ आदि। जाहिर है कविता में डूब कर छांटने पर ही ऐसी कविताएं निकल कर आती हैं। और ऐसा लगाव तभी हो सकता है जब साहित्यानुराग बड़ा गहरा हो। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में कहा गया है कि पाठक की मनोदशा ‘सहृदय’ होनी चाहिए। अच्छा साहित्य पाठक को ‘सहृदय’, यानी कि अपनी सामग्री को ग्रहण करने योग्य बना देता है। शायद अच्छा समालोचक भी अपने पाठक को अच्छे साहित्य के प्रति सहृदय बना देता है।

ऐसे इतिहास लेखन के लिए दृष्टि की उदारता के साथ गहन अध्ययन भी आवश्यक है। वह इरूडीशन (विद्वता) तो नवलजी के पास है ही, साथ ही वर्षों अध्यापन के फलस्वरूप पोडागोंजी भी है। इसी कारण कविता की विभिन्न धाराओं का संश्लिष्ट चित्रण होने के बावजूद साधारण पाठक भी कभी भ्रमित नहीं होता। बड़ी सरलता के साथ उन्होंने इन समकालिक अवधारणाओं को रखा है। वे कहते हैं कि आधुनिक जीवन के जटिलतर होते जाने के कारण आधुनिक कविता का विकास भी सरलता से जटिलता की ओर हुआ है। आधुनिक जटिल कवियों को समझने में भी यह पुस्तक सफल रही है। बल्कि कतिपय स्थानों पर तो कविता की पंक्तियों में आए शब्दों का सरलार्थ और अर्थच्छटा भी उन्होंने बताई है, ताकि पाठक रसास्वादन कर सके।

उन्होंने कवियों को सिर्फ उनके कथ्य के आधार पर नहीं परखा है। ‘उन्होंने क्या कहा है’ के साथ-साथ ‘उन्होंने यह सब कैसे

कहा है’ पर भी नवलजी ने जोर दिया है। यदि कोई पंक्ति सुंदर है तो उसे सुंदर बनाने वाले शिल्प-साधनों का भी यहां पूरा जिक्र है। जैसे—पंतजी द्वारा तितली के लिए ‘चित्र-शलभ’ का प्रयोग, सियारामशरण गुप्त द्वारा ‘पाटंबर’ जैसे शब्द का प्रयोग, बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ द्वारा अपने उपयोग के लिए ‘आरती’ शब्द को ‘आर्ति’ में परिणत कर लेना आदि। कविता को कविता बनाने में छंद-अलंकार भी अनमोल भूमिका निभाते हैं। यदि कविता केवल भावों की अभिव्यक्ति होती है, तो गद्य और पद्य में कोई अंतर नहीं होता। कई बार गद्य भी बड़ा भावभीना होता है। लेकिन कविता में भाषा को एक संरूप दिया जाता है, जिसके बिना पाठक कभी भी उसे दिल से नहीं स्वीकारेंगे। नवल जी ने जटिलतर कवियों की भाषा की ‘कविताई’ को भी अग्र स्थान दिया है, नहीं तो राजकमल चौधरी, धूमिल जैसे कवियों की रचनाएं उनके राजनीतिक, सामाजिक कटेक तक ही देखी जाती रही हैं।

दोहा, रोला, अरिल्ल, संस्कृत के अमित्राक्षर छंद का हिंदी में प्रयोग जैसे कितने ही विषयों पर इस ‘इतिहास’ में यथोचित चर्चा है। तुकांत रूप में लिखने का जयशंकर प्रसाद पर क्या प्रभाव पड़ा, इसे भी लेखक ने समझाया है। वे कहते हैं कि ‘भाषा का सौंदर्य बोध’ पूरी ‘कामायनी’ में चूर्ण-विचूर्ण होकर हीरक खंड की तरह बिखर गया है। वहीं ‘जूही की कली’ के बारे में वे बताते हैं कि “यह कवित्त नामक हिंदी के वर्णवृत्त की लय पर आधारित है”। दिनकर की परवर्ती कविताओं में तुक का निर्वाह देखकर वे कहते हैं कि “विकट दुख के आवेश में भी कवि अपने पर नियंत्रण रखता है।” ‘यशोधरा’ के संदर्भ में वे कहते हैं—‘यशोधरा का उपर्युक्त (उद्धृत) संवाद प्रंद्रह वर्णों के अमित्राक्षर छंद में रचित है जिसमें गुप्तजी की खड़ी बोली और खिलती है।’ काव्य शिल्प से पाठकों का परिचय कराना अत्यंत आवश्यक है ताकि सामान्य पाठक कविता और छद्म कविता का भेद समझ सके; जिसमें सिर्फ वाक्य का शब्द क्रम अलट-पलट कर, कुछ चतुर शब्द डालकर, यहां-वहां से वाक्य तोड़कर अलग पंक्तियों में लिख देने भर से रेडीमेड कविता तैयार हो जाती है।



साहित्य के इतिहास को साहित्यिक होना ही चाहिए। यह इसकी भाषा और शैली से जाहिर है। जैसे—हरिऔध के संदर्भ में नवलजी का यह कथन—“उनकी..उपलब्धियां भी अछोर थीं।” नवीनजी के प्रिय शब्द ‘निगोड़ी’ के बारे में उनका कहना है कि वे इस शब्द का प्रयोग इसके ‘शहजोर’ होने की वजह से किया करते थे। श्रीधर पाठक की भाषा की तुलना निराला से करते हुए वे कहते हैं—“वैसी ही अलंकृति और वैसी ही झंकृति।” जहां वे साहित्य से तुलना के उपमान नहीं पा सके, वहां वे इंटरडिसीप्लीनरी होकर विज्ञान और फिल्म जैसे क्षेत्रों से भी तथ्य लेकर काव्य-भंगिमा को स्पष्ट कर देते हैं। जैसे—निराला की ‘तुलसीदास’ के संदर्भ में वे कहते हैं कि “इसकी संरचना में हीरक परमाणुओं जैसा संघनन है।” पुनः वे कहते हैं कि इस कविता का स्थापत्य इतना दृढ़ है कि इसकी एक भी ईंट नहीं खींची जा सकती। शमशेर की कविता का जिक्र करते हुए वे इसके विकास के अंतिम चरण को हीरे जैसा कठोर बताते हैं, “जिसमें न्यूटन के अनुसार पता नहीं कितने शून्य संघनित हैं।” बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ की ‘काल्पनिक अवसर’ नामक कविता में कल्पना-प्रक्रिया के वर्णन को उन्होंने सत्यजित राय की ‘देवी’ में दिखाई गई स्वप्न-प्रक्रिया से जोड़ा है।

आधुनिक हिंदी कविता के विस्तृत और बहुरंगी, निरंतर चलते परिवृश्य को समेटने के लिए दृष्टि की बेधकता और व्यापकता अति आवश्यक है। नवलजी ने ‘आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास’ में दोनों का सार्थक उपयोग किया है।

आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास/नंदकिशोर नवल, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 550

ए-102, कैलाश, रिजर्व बैंक अधिकारी आवास, मलार्ड (पूर्व), मुंबई-400097 मो. 09835699558

‘निराशा में भी सामर्थ्य’ और समीक्षा

अविनाश मिश्र

हिं

दी आलोचना इन दिनों एक ऐसा दरवाजा हो चुकी है जिसके भीतर से होकर आने-जाने वालों का तांता लगा हुआ है। इस दरमियान नए स्पेस निर्मित हुए हैं जहां बगैर किसी रोक-टोक के युवा रचनाकार अपने हमउम्र रचनाकारों पर अपनी राय दे रहे हैं। अकादमिक आलोचना के निकम्पेपन से पूरी तरह से वाकिफ हो जाने के बाद, उसके प्रति उपेक्षा या कहेँ नाउम्मीदी का भाव है और इसके चलते उसे आए दिन कोसने की रवायत व जरूरत भी कम हुई है। कुल मिलाकर इस दृश्य ने हमें संवादवंचित होने से बचाए रखा है। कई युवा आलोचकों की एक नई जमीन विकसित करती हुई—किताबें आ रही हैं, बावजूद इसके कि हिंदी में अकादमिक आलोचना-सा अविश्वसनीय दूसरा कुछ नहीं, यह कहना एक सुखद विरोधाभास है कि इनमें से बहुत सारे युवा अकादमिक हैं। युवा आलोचक वैभव सिंह के शब्दों में कहेँ तो यह हिंदी आलोचना का अनदेखा किस्म का स्वर्ण काल है।

हिंदी में अकादमिक आलोचना अक्सर सामयिकता से परहेज करती आई है। सारे साहित्यिक जुर्म इसी आलोचकीय भाषा में संभव हुए हैं। यह अपने मूल चरित्र में कृत्रिम, पलायनवादी, जातिवादी, क्षेत्रवादी, संकीर्ण, सतही, वैचारिक दुराग्रहों और पूर्वाग्रहों से ग्रसित अंदर और बाहर दोनों तरफ से बंद है। अंदर से इसलिए क्योंकि यह इंतहाई जटिल हो रही सामयिकता में प्रवेश करना नहीं चाहती और बाहर से इसलिए क्योंकि यह नहीं चाहती कि समझदार व्यक्तित्व इसके दायरे में आएँ।

इस दृश्य में युवा कवि-आलोचक पंकज चतुर्वेदी की पांच अप्रकाशित और 52 प्रकाशित लेखों से बनी 391 पृष्ठों की पुस्तक ‘निराशा में भी सामर्थ्य’ को पढ़ना एक ऐसे आलोचकीय विवेक से गुजरना है जो सामयिक सवालों से

टकराते हुए, इतिहास में अमर या निर्जीव और निकृष्ट हो जाने के फितूर से आजाद हैं।

इस पुस्तक की भूमिका रविभूषण ने लिखी है जो मूलतः आलोचक हैं और अकादमिक भी। वे कहते हैं कि संभवतः यह पहली बार हुआ है कि किसी एक आलोचना-पुस्तक में, जो पांच खंडों के कुल 57 लेखों, पुस्तक-समीक्षाओं, टिप्पणियों आदि का संग्रह है—कविता, आलोचना, उपन्यास, आत्मकथा, नाटक, कहानी, पत्र, पत्रोत्तर, शिक्षा, शिक्षण-संस्था आदि के जरिए कई आवश्यक और सार्थक बातें कही गई हैं। 32 पृष्ठों की इस भूमिका में रविभूषण ने ‘निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण’ (दुष्टत्रयी) के इस आततायी और विध्वंसक दौर में जहां सब कुछ दांव पर लगा हुआ है—‘कला, साहित्य, संस्कृति, शिक्षा और विविध ज्ञानानुशासनों की ओर थोड़ी-बहुत उम्मीद से देखने की जरूरत है’ से शुरू करते हुए ‘निराशा में भी सामर्थ्य’ हमें निराश और हताश होने से बचाती है, हिंदी आलोचना के प्रति उम्मीद जगाती है और यह इस पुस्तक की



उपलब्धि है’ से अपनी भूमिका समाप्त की है।

भूमिका के बाद एक कवि का गद्य है, लेकिन इसका अलगपन यह है कि यह वैसा नहीं है जैसा कवियों के गद्य को प्रचारित किया जाता है। यह गद्य अपने सृजक के प्रकाशित काव्य-संसार के वैभव व दबाव से स्वतंत्र है। फिर भी यहां बहुत सारी काव्य पंक्तियां हैं, काव्य पंक्तियों वाले शीर्षक हैं, दार्शनिक सूक्तियां हैं, कविता की आंख से इतिहास को देखते हुए ‘रामचरितमानस’ की वर्तमान सांस्कृतिक भूमिका है, आलोचना का आत्म-संघर्ष है, जीवन और रचना के बीच मौजूद सृजक की स्थिति पर स्टैंड है, आत्म-निर्ममता का साहस है, एक नए देश की तलाश का प्रस्ताव है, कविता में छिपे असत्य हैं, समवेत मुक्ति की दलित आकांक्षा है, बदलती भारतीय स्त्री की कहानी है, आजादी की असफलता का शोक-गीत है, एक हिंदी शिक्षक का स्वप्न है, महाविद्यालयों का चरित्र है, इतिहास का इतिहास में हस्तक्षेप है, आग का वादा है, ‘आसन्न अतीत’ व ‘हाहाहूती’ जैसे शब्द हैं और वह ‘रीडिंग प्लेजर’ हैं आलोचना में जिसकी उम्मीद हम खो चुके हैं।

यहां पहुंचकर एक जरूरी प्रश्न यह उभरता है कि एक ऐसे समय-समाज में जहां रचना ही हाशिये पर है वहां आखिर आलोचना की जरूरत किसे है। कृष्ण बलदेव वैद एक संवाद के दौरान कृष्णा सोबती से कहते हैं—‘आलोचना की जरूरत और अहमियत पर सोचें तो आलोचना की जरूरत पाठक को लेखक से अधिक होती है क्योंकि लेखक तो अक्सर खुद ही अपना आलोचक होता है।’ वैद इस संवाद में आगे कहते हैं—‘हमारी आलोचना पुस्तकों के लोकार्पण-विमोचनों के अवसरों पर सरसरी फतवों-वक्तव्यों तक ही सीमित होकर रह गई है, और वे सब ही राजनीति और साहित्यिक राजनीति से परिचालित होते हैं, उनमें खरी-खुरदरी सच्चाई

का अंश बहुत कम होता है। बड़ी आलोचना तो एक तरफ, छोटी-छोटी अच्छी समीक्षाएं जो साहित्यिक पत्रकारिता की रूह कही जा सकती हैं, वे भी हमारे यहां दुर्लभ हैं।' यह संवाद हुए कई वर्ष गुजर चुके हैं, लेकिन दुर्भाग्य से स्थितियां अब तक नहीं बदली हैं, बल्कि और बदतर हुई हैं, भयावह और घिनौनी हुई हैं।

ऐसी साजिशों के बरअक्स 'निराशा में भी सामर्थ्य' के लेख न सिर्फ रचना की सार्थक समालोचना में संलग्न हैं, बल्कि साहित्य की आंतरिकता के विकृत होते दृश्य पर बेहद दायित्वपूर्ण ढंग से हस्तक्षेप भी करते हैं। इस पुस्तक में आलोचना की आलोचना का स्वर इतना प्रखर है कि वह इस तरह व्यक्त होता है—

'हिंदी आलोचना विगत वर्षों में ज्यादा-से-ज्यादा केंद्राभिमुख या सत्ताकांक्षी हुई है। उसकी नैतिक चिंताएं, राजनीतिक सरोकार और साहित्यिक अभिप्राय क्षीण हुए हैं और उसने अपने व्यवहार से साबित किया है कि 'लिखित शब्द' में उसकी बहुत दिलचस्पी नहीं है। वह अपनी शक्ति के प्रदर्शन और अहं की तुष्टि में इतनी गर्क है कि रचना के बारे में नया कुछ कहने के लिए न उसके पास समय है, न मानसिकता।' पंकज चतुर्वेदी यहां मंगलेश डबराल को भी उद्धृत करते हैं—'मुझे लगता है, हमारे वरिष्ठ आलोचकों का मौन एक सोचा-समझा हुआ मौन है। एक ऐसी सायास कोशिश कि हमारे गोल या गुट में जो नहीं है या जो किसी भी साहित्यिक सत्ता-प्रतिष्ठान में शामिल नहीं है उसके बारे में हम कुछ नहीं बताएंगे।'

लेकिन यहां यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि साहित्य की आंतरिकता में लेखक के हस्तक्षेप का स्वर प्रखर तो है, लेकिन उतना मुखर नहीं है, जितना साहित्य से इतर मसलों पर लिखते हुए है। लेखक आक्रामक होता है, लेकिन बेहद वैभवपूर्ण और शालीन ढंग से। यह एक बहुत आजमाया हुआ शिल्प है, जो बहुत दूर तक असर नहीं करता है, हालांकि आक्रामकता भी एक बहुत आजमाया हुआ शिल्प है, लेकिन उसमें अब भी यह गुण है कि वह यदि बेहतर तरह से बरता जाए तो कभी जाया नहीं जाता। पंकज इस पुस्तक में कई जगहों पर बगैर नाम लिए कुछ लोगों पर टिप्पणी करते हुए चलते हैं, जैसे कि वे कहते हैं—'एक कवि की टिप्पणी देखिए...', 'एक आलोचक लिखते हैं...', 'अभी हाल में एक कवि-आलोचक ने यह वक्तव्य प्रकाशित किया

है कि...', 'हिंदी के एक बेहद प्रतिबद्ध और संवेदनशील आधुनिक कवि...', 'एक प्रसिद्ध वामपंथी कवि ने इन शब्दों में...', 'एक वरिष्ठ आलोचक का यह जुमला...', 'राजधानी दिल्ली में एक कवि के यहां ठहरा था...' ये कुछ अधूरी पंक्तियां उद्धृत करने से आशय यहां यह संकेत करना है कि पंकज नामों से बचते हैं। यहां मुझे रविभूषण रचित भूमिका से यह अंश उद्धृत करना चाहिए—'पंकज में विनम्रता कुछ अधिक है। वे नाम लेकर उन कवियों-आलोचकों का प्रत्याख्यान नहीं करते, जो रचना-कर्म और आलोचना-कर्म को लगातार क्षतिग्रस्त कर रहे हैं। वे 'हिंदी साहित्य के कुछ मठाधीशों' का नाम नहीं लेते, जिनकी 'छत्रछाया' में एक अंडरवर्ल्ड काफी पनप चुका है। मंगलेश जिस तरह अपनी कविता में जोर से नहीं बोलते, उसी प्रकार पंकज भी आलोचना में जोर से बोलने से बचते हैं। शायद इसकी एक बड़ी वजह यह है कि वे कवि हैं।' यहां संभवतः यह भी संभव है कि पंकज नाम लेकर नामों का महत्त्व बढ़ाना और अपने लिखे का मूल्य घटाना नहीं चाहते। यदि ऐसा है तब इस सद्विच्छा का सम्मान करते हुए भी यह कहना जरूरी लगता है कि यह जिद लेखों में आस्वाद के स्तर पर समस्या खड़ी करती है।

तब तो और भी जब आप केवल कवियों-आलोचकों के नामों से ही बचते हैं, बाकियों का नाम लेने से आपको कोई गुरेज नहीं और तब भी जब ये लेख तात्कालिकता के दबाव से मुक्त होकर अब पुस्तकाकार प्रकाशित हैं।

कवि प्रायः गद्य के धोखे में कविताएं बुन देते हैं। ऐसा वे शरारतन नहीं आदतन करते हैं, लेकिन ये धोखे वाकई सुखद होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के पहले खंड के आखिरी लेख में यह धोखादेह स्थिति अपने चरम पर है। 'कविता की कथनी और करनी' पर बात करते हुए पंकज एक बहुत बड़ी पंक्ति कह जाते हैं। इस पंक्ति को जिसे बेशक एक काव्य पंक्ति भी कह सकते हैं, काव्यालोचना में एक टूल की तरह बरता जा सकता है। पंक्ति यह है—'कवियों की भाषा में ही उनके ईमान पढ़े जा सकते हैं।' इस पंक्ति के सहारे कई पृष्ठ रचे जा सकते हैं, लेकिन पंकज ऐसे विस्तारों से बचते हुए इसके सहारे इस लेख का एक बेहद जरूरी अनुच्छेद रचते हैं जिसे वे यह कहते हुए कि 'दुश्मन को हमारा सबसे करारा जवाब यही हो सकता है कि हम उसकी भाषा को अस्वीकार कर दें' समाप्त करते हैं।

अपने कुछ समकालीन अग्रजों के

कविता संग्रहों पर लिखते हुए पंकज ने इनकी कविता के मूल स्वर को पकड़ने की कोशिश की है, इस कोशिश में जो निष्कर्ष आए हैं, वे इस प्रकार हैं—अशोक वाजपेयी के कविता संग्रह 'दुख चिड़ीरसा है' पर लिखते हुए पंकज कहते हैं—'अशोक वोपजयी की एक बड़ी और दुर्लभ विशेषता है—उनकी आत्म-निर्मम यथार्थ-दृष्टि। जहां भी यह दृष्टि सक्रिय हुई है, आत्मकथात्मकता के बावजूद उन्होंने श्रेष्ठ कविता लिखी है।'

मंगलेश डबराल के कविता संग्रह 'हम जो देखते हैं' पर लिखते हुए—'मंगलेश डबराल इस समय हिंदी के उन कुछ कवियों में से हैं, जिनकी कविताएं हमें कई बार ज्यों-की-त्यों याद रह जा सकती हैं। इसीलिए कि वे जीवन और समाज के सिर्फ साक्षात्कार के नहीं, बल्कि मार्मिक साक्षात्कार के कवि हैं।'

राजेश जोशी के कविता संग्रह 'नेपथ्य में हंसी' पर लिखते हुए—'राजेश की कविता में वक्तृता मिलती है—इसकी नैतिकता वह अपनी संवेदना से अर्जित करते हैं। लेकिन जैसे ही जिए गए जीवन की पारदर्शी व्याकुलता से कविता छूट जाती है, तो महज एक निष्प्रभ भाषण या राजेश के ही दिए शब्द के सहारे कहें, तो एक पिटी-पिट्टाई 'नीतिकथा' बनकर रह जाती है।'

यहां इन तीन बड़े कवियों पर पंकज के कथन को उद्धृत करने का आशय केवल पंकज के काबिल-ए-तारीफ काव्यालोचकीय विवेक और पकड़ को प्रकट और स्पष्ट करना है।

निराला की एक काव्य-पंक्ति 'यह हिंदी का स्नेहोपहार' शीर्षक इस पुस्तक के चौथे खंड में हिंदी शिक्षा जगत् अपनी समग्र क्रूरताओं के साथ उपस्थित है। इस खंड में इस उपस्थिति का सारांश, अपेक्षा, स्वप्न, लक्ष्य, निष्कर्ष, भाषा, हस्तक्षेप और पक्षधरता पढ़कर इसकी दशा, दिशा और दुर्दशा समझी जा सकती है।

'आज हालत यह है कि हिंदी संसार में सच्ची जिज्ञासा, अध्यवसाय, प्रश्नाकुलता और बहुल तथा सार्थक संवाद की संस्कृति निर्मित करने के दावे के साथ जिन लोगों ने अपने सफर की शुरुआत की थी, उनका व्यवहार सर्वसत्तावादी सामंतों जैसा है। वे किसी तरह की असहमति, विरोध या आलोचना को बर्दाश्त नहीं कर पाते और ऐसा करने वालों को ठिकाने लगाते रहते हैं। नतीजा यह है कि विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग ज्यादातर उनके अयोग्य अनुयायियों से भरे पड़े हैं और सामान्य नागरिक उनसे कोई उम्मीद नहीं रखता है।

पचास करोड़ हिंदी-भाषियों के इस देश में क्या एक भी विश्वविद्यालय ऐसा बचा है, जिसकी समूची हिंदी 'फैकल्टी' पर हम वास्तविक गर्व कर सकें और हमारे नौजवानों में वहां पढ़ने की हसरत हो?' (पृ. 280)

इस दृश्य में ऐसे प्रश्न उजपते हैं कि 'शिक्षक आखिर हमें देते ही क्या हैं?' और इस पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष प्रकट होता है—'यह लालच और उपभोग का समय है। हमें वह शिक्षा चाहिए, जो ज्यादा-से-ज्यादा रुपये कमाने की तरकीब सिखाती हो। उसके जरिए हम अधिकाधिक सत्ता, सुख, सम्मान और समृद्धि चाहते हैं। इसलिए वह शिक्षा हमें नहीं चाहिए जो मानव-मूल्यों की बात करती हो, उनके संस्कारों से हमें अनुप्राणित करती हो। आखिर करुणा, दया, क्षमा, प्रेम, सत्य और अहिंसा आदि का हम करेंगे भी क्या? मूल्य तो हमें मर्यादित ढंग से रहने और चुपचाप समाज की सेवा करने के लिए विवश करेंगे। कभी शिक्षा मनुष्यता की रक्षा और विकास के लिए जरूरी एक सुंदर कार्रवाई समझी जाती थी। आज वह व्यक्तिगत तृप्ति और पोषण के संकीर्ण भौतिक मतलबों की दासी बनकर रह गई है।' (पृ. 305)

इस पुस्तक के लेखों में उद्धरण बहुत ज्यादा हैं। एक भी ऐसा लेख नहीं है जो इनसे मुक्त हो। यह एक अलग कल्पना का विषय हो सकता है कि बगैर कोटेशंस के ये लेख कैसे होते और प्रस्तुत समीक्षा भी। ये लेख अलग-अलग जगहों से संग्रहित किए गए हैं, इसलिए कोटेशंस का दोहराव भी है। लेकिन ऐसे उद्धरणों से सम्पुक्त ये लेख लेखक के अध्यवसाय की गंभीरता, वैविध्य और विस्तार से परिचित कराते हुए अपने आस्वादक को समृद्ध करते हैं। कुछ लेख तात्कालिक दबावों के तहत उपजे हैं, लेकिन इसके बावजूद इनमें अखबारीपन नहीं है। वे अपने मूल प्रभाव में अब भी बेहद प्रभावी और महत्वपूर्ण हैं। यहां आकर अब यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि 'निराशा में भी सामर्थ्य' इस दौर में क्यों पढ़ी जानी चाहिए...।

निराशा में भी सामर्थ्य, पंकज चतुर्वेदी, आधार प्रकाशन, एससीएफ-267, सेक्टर-16, पंचकूला (हरियाणा)-134113, मूल्य : ₹ 500

'पाखी', बी-107, सेक्टर-63, नोएडा, (उ.प्र.), मो. 09818791434

आलोचना

भारतीय उपन्यास पर गहन चिंतन

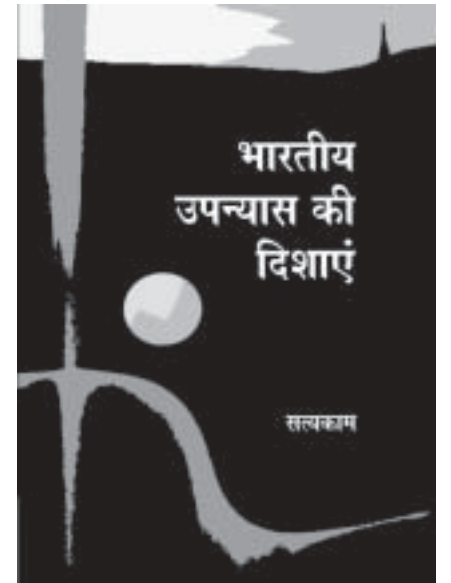
पंकज पराशर

हिं

दी क्षेत्र के कवियों-लेखकों ने इतिहास को लेकर अपनी समझ और दृष्टिकोण के मुताबिक रचना अवश्य की है, लेकिन पेशेवर इतिहासकारों ने इन रचनाओं के आधार पर किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष की निर्मिति नहीं की, जो हिंदीभाषी जनता के लिए बहुत अच्छा हुआ। वरना साहित्यिक गौरव-बोध के आधार पर लिखित इतिहास को पढ़कर निर्मित मानस बेहद खतरनाक होता है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई कविताओं, नाटकों और कहानियों में जिस तरह की गौरव-स्मृति का गायन है, उस पर तथ्य और सत्य को ध्यान में रखकर विचार करने की जगह अक्सर भावुकता में विचार किया गया। जिससे इतिहास-विवेक के साथ-साथ 'हिंदी जाति' का जीवन-विवेक भी प्रभावित हुआ। उपन्यास से निर्मित इतिहास-बोध पर बात करते हुए तकरीबन एक दशक पूर्व नामवर जी ने राजकोट में एक व्याख्यान देते हुए कहा था, 'गुजरात का जो इतिहास हमें गर्व करने का विचार देता है, वह उपन्यास संबंधी विवेचनाओं से पैदा हुआ है। जैसे कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का 'गुजरातनो नाथ', 'जय सोमनाथ', 'पृथिवी वल्लभ' ने हमारे संस्कारों में धीरे-धीरे प्रवेश पा लिया। इस इतिहास के निर्माण में उपन्यासों की बड़ी भूमिका रही है। क्या गुजरात सचमुच वैसा ही है जैसे उसके उपन्यासों के ऐतिहासिक शब्दों में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के नवलकथा में है? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह उपन्यास द्वारा लिखित इतिहास है, जो कुछ नहीं कोरी कल्पना है।' गुजरात इस बात का उदाहरण है कि जब इन कल्पनाओं को वास्तविक इतिहास मानकर जातीय स्मृति और गौरव निर्मित होता है, तो वह सत्यविरोधी ही नहीं मनुष्यविरोधी भी होता है।

हिंदी आलोचना का ध्यान कविता के मुकाबले कथा-साहित्य की ओर कम रहा है। जिसके कारण उपन्यासों को लेकर अच्छी

आलोचना कम सामने आ सकी। ऐसे में सहज ही कल्पना की जा सकती है कि भारतीय उपन्यास के समग्र परिदृश्य और स्वर की पहचान को लेकर हिंदी आलोचना का कैसा रुख रहा होगा। लेकिन कथा-साहित्य पर लगातार काम करने वाले कथा-आलोचक सत्यकाम की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'भारतीय उपन्यास की दिशाएं' में भारत में उपन्यास के उदय से लेकर समकालीन विमर्शों पर गहराई से विचार किया गया है। पारंपरिक सोच से अलग हटकर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय उपन्यास अंग्रेजी उपन्यास की नकल नहीं है। इस पुस्तक की भूमिका में वे कहते हैं, 'भारत में उपन्यास का जन्म 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। 'उपन्यास' भले ही भारतीय साहित्य के लिए नई विधा हो, परंतु कथा से भारत का पुराना रिश्ता रहा है। उपन्यास में भी एक कथा होती है और कथा की यह परंपरा महाभारत से लेकर आज तक निरंतर चलती आ रही है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि भारत में उपन्यास के जन्म के लिए अंग्रेजी साहित्य उत्तरदायी है तो मन में अनेक सवाल खड़े होते हैं।' सत्यकाम ने भूमिका में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि



हिंदी आलोचना में उपन्यास को 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' की कसौटी पर परखने की कोशिश होती रही और भारतीय कथा की परंपरा को इस संदर्भ में याद नहीं किया गया।

इससे जुड़ी हुई एक और अहम बात की ओर इशारा किया गया है कि 'द नॉवेल इन इंडिया' पुस्तक के लेखक टी.डब्ल्यू.क्लार्क ने इस बात पर बल दिया कि भारत में उपन्यास अंग्रेजी उपन्यास की नकल है और इसमें मौलिकता नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते समय इसी मान्यता को दोहराया और हिंदी के आरंभिक उपन्यासों में उन्हीं को उपन्यास माना जो अंग्रेजी ढंग से लिखे गए हों। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अनेक मान्यताओं से परवर्ती आलोचना ने अपनी असहमति जाहिर की है, जो कि नए शोध और नई 'दिशाओं' की खोज के कारण संभव हुई/होती है, लेकिन असहमति के उत्साहातिरेक के भी अपने खतरे हैं, जिसे याद रखकर ही परवर्ती आलोचना नई अर्थवत्ता प्राप्त कर सकती है। अपने समय के 'रीडिंग मशीन' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आरंभिक उपन्यासों के साथ-साथ उन कथा-कृतियों का भी पर्याप्त अवलोकन किया था, जिसे 'भारतीय' और 'भारतीय कथा-साहित्य' माना जाता है। वे जब अंग्रेजी ढंग के नॉवेल की बात करते हैं, तो यह कहने के पार्श्व में सन्निहित उनके जो प्रतिमान हैं, वह ऐसे नहीं हैं जिसे एक झटके में आसानी से खारिज कर दिया जाए।

सत्यकाम ने इस पुस्तक के पहले अध्याय 'भारतीय उपन्यास का उदय' में तमाम भारतीय भाषाओं में प्रकाशित पहले उपन्यास के लिखे जाने की पृष्ठभूमि और रूप पर पर्याप्त विचार किया है। भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना और बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत ने अन्य भारतीय भू-भाग की अपेक्षा बांग्ला साहित्य और बंगाली मानस को अधिक आलोड़ित किया। बंगला उपन्यास के उदय पर बात करते हुए सत्यकाम ने लिखा है, '1854 ई. में प्यारी चांद मित्र ने 'मासिक पत्र' नामक छोटा-सा बंगला पत्र निकाला। इसका उद्देश्य स्त्रियों का मनोरंजन तथा चरित्र निर्माण था। इसी पत्र में प्रथम भारतीय उपन्यास 'आलालेर घरेर दुलाल' के कुछ अंश प्रकाशित हुए, जो पुस्तक रूप में 1858 ई. में प्रकाशित हुआ।' भारतीय साहित्य में उपन्यास का उदय सर्वप्रथम बंगला में हुआ, उसके बाद मराठी में। 1857 ई. में बाबा पद्मनजी रचित 'यमुना पर्यटन'

नामक कृति को मराठी भाषी मराठी का पहला उपन्यास मानते हैं। बंगला, मराठी और उर्दू के बाद पंजाबी में उपन्यास का विकास हुआ। 1898 ई. में लिखित भाई वीरसिंह के 'सुंदरी' को पंजाबी का पहला उपन्यास माना जाता है।

हिंदी साहित्य में उपन्यास के उद्भव को लेकर सत्यकाम ने लिखा है, 'यद्यपि 'उपन्यास' पद का प्रथम प्रयोग 1875 में ही 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में प्रकाशित एक कहानी के लिए हो चुका था और पंडित बालकृष्ण भट्ट का 'रहस्य कथा उपन्यास' भी 'हिंदी प्रदीप' के नवंबर 1879 ई. अंक से प्रकाशित होना शुरू हो चुका था, पर 'उपन्यास' नाम से लिखित हिंदी की पहली पुस्तक राधाकृष्ण दास कृत 'निस्सहाय हिंदू' है। इसकी रचना 1881 ई. में हुई थी (यद्यपि इसका प्रकाशन 1890 ई. में हुआ था) और लेखक ने इसे 'एक क्षुद्र उपन्यास' की संज्ञा दी थी।' (पृ. 59) उपन्यास के प्रतिमान पर परखें तो यह उपन्यास बाद के उपन्यासों के मुकाबले अत्यंत साधारण कोटि का ठहरता है, लेकिन हिंदी उपन्यास के इतिहास के प्रारंभिक उपन्यास होने का गौरव इसी कृति को हासिल है।

'भारतीय उपन्यास में स्त्री विमर्श' नामक अध्याय में स्त्रियों को लेकर उपन्यासकारों की सोच और चित्रण की पड़ताल करते हुए सत्यकाम ने लिखा है, 'भारतीय नवजागरण से प्रभावित और प्रेरित होने के कारण भारतीय उपन्यास आरंभ से ही स्त्री के पक्षधर बनकर उभरे। चाहे मराठी में बाबा पद्मनजी का 'यमुना पर्यटन' हो या फिर गुजराती में गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी का 'सरस्वतीचंद्र'; सबने स्त्रियों की स्थिति का तो चित्रण किया ही, उन्हें परंपरागत शिकंजों से निकलने का रास्ता भी सुझाया गया कि महिलाएं पढ़-लिखकर और गुणी बनकर ही दासता से मुक्ति पा सकती हैं।' (पृ. 153) भारतीय साहित्य में समय और समाज की नब्ज को जिस तरह उपन्यास ने पकड़ा था, उसके मुकाबले महाकाव्य ने परंपरा, मिथक और अतीत के गौरव-गान पर अधिक बल दिया। जाहिर है इस वजह से अपनी तमाम विराटताओं के बावजूद महाकाव्य आधुनिक जीवन, आधुनिकता, सहज और सरल मानवीय मूल्यों को समझ पाने में लगातार पिछड़ता चला गया और इन्हीं गुणों के कारण 'उपन्यास' आधुनिक जीवन का महाकाव्य बनकर उभरा।

स्त्रियों की समस्याओं के साथ-साथ लोकजीवन को भी उपन्यास ने अन्य विधाओं

की तुलना में बेहतर ढंग से पकड़ने में कामयाबी हासिल की। काव्यशास्त्र द्वारा वर्णित प्रतिमाओं से आबद्ध होने के कारण महाकाव्य लोक और लोकजीवन से जुड़ नहीं पाता है, जबकि इन्हीं गुणों के कारण उपन्यास लोक और लोकजीवन से सफलतापूर्वक जुड़ता है। पश्चिम के उपन्यासों में लोक की वैसी उपस्थिति प्रायः नहीं मिलती है, जो भारतीय उपन्यास में प्रमुखता से मिलती है। ये लोकजीवन ही है जो भारतीय उपन्यासों को खांटी भारतीय उपन्यास बनाता है। सत्यकाम ने लिखा है, 'भारतीय उपन्यासों में जब भी लोकजीवन की प्रधानता होती है, उसे आंचलिकता, प्रादेशिकता, क्षेत्रीयता और न जाने किन-किन अलंकरणों से युक्त किया जाने लगता है। भारतीय उपन्यास अपने स्वरूप में न तो आंचलिक है, न ही प्रादेशिक।' (पृ. 83) किसी भी उपन्यास में किसी अंचल या क्षेत्र के मानवीय जीवन-व्यापार का ही चित्रण होता है और किसी कृति में यदि लोकजीवन का सघन चित्रण हुआ हो तो महज इस आधार पर उसे आंचलिक कहकर अलग वर्गीकरण कर देना उपयुक्त नहीं है।

'भारतीय उपन्यास में दलित विमर्श' नामक अध्याय में सत्यकाम ने 1935 ई. में प्रकाशित और लगभग विस्मृत हो चुके इंद्र बसावड़ा का उपन्यास 'घर की राह' के बहाने भारतीय उपन्यास साहित्य में दलित-विमर्श को लेकर काफी शोधपरक और तार्किक ढंग से कई मुद्दों को सामने रखा है। मराठी के दलित लेखक शरण कुमार लिंबाले के बहाने उन्होंने कई चीजों पर बहस की है, जिससे प्रायः हिंदी आलोचना में कन्नी काटने की प्रवृत्ति पाई जाती है। सत्यकाम की यह आलोचना पुस्तक भारतीय उपन्यास के प्रारंभ, विकास और कथा में अंतर्गुहित सामाजिक मुद्दे की न केवल बेहद गहराई से पड़ताल करती है, बल्कि नए तथ्यों की रोशनी में पुरानी मान्यताओं से असहमति और नए निष्कर्षों का बेहद तथ्यपरक और तर्कपूर्ण प्रस्तावना भी प्रस्तुत करती है।

भारतीय उपन्यास की दिशाएं/सत्यकाम/सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 595

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़-202002, (उ.प्र.), मो. 9634282886

अध्यापकीय होने की मुश्किलें

मूलचंद गौतम

प्रा

यः अध्यापन सृजन-प्रवाह में बाधक होता है—खासकर हिंदी लेखन में। यों अपवाद कहां नहीं होते? इस दृष्टि से आलोचना को छोड़कर अन्य विधाओं में अध्यापक लेखकों का सर्वेक्षण अनेक चौंकाने वाले तथ्य सामने ला सकता है—सृजन की गुणवत्ता के मामले में भी। आलोचना में भी अंग्रेजी एवं अन्य भाषाओं के साहित्य से परिचित आलोचकों का दर्जा अलग है। पंडिताऊ आलोचना तो केवल छात्रों तक सीमित रह गई है। इसलिए पंडित अब पौंगा पंडित बनकर रह गए हैं।

अध्यापक के लिए आलोचना कर्म जीवन-वृत्ति की तरह सुविधाजनक सहज कर्म है। पुस्तक समीक्षा उसकी नर्सरी है—यह बात अलग है कि पुस्तक समीक्षा भी गंभीर आलोचना हो सकती है, जो कि अक्सर नहीं होती। कई बार लंबी और बोझिल—अनावश्यक घटाटोप के कारण—जैसे लंबी कविता-कहानी का फैशन।

पुनरुक्ति दोष की तरह यह बात हिंदी आलोचना में बार-बार दोहराने की है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले विधिवत मान्य आलोचक हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य आलोचना की संधि-संक्रमण के बीच हिंदी के मौलिक आलोचक-अध्यापक सहित। बाकी निरे अध्यापकीय—मसलन श्यामसुंदर दास।

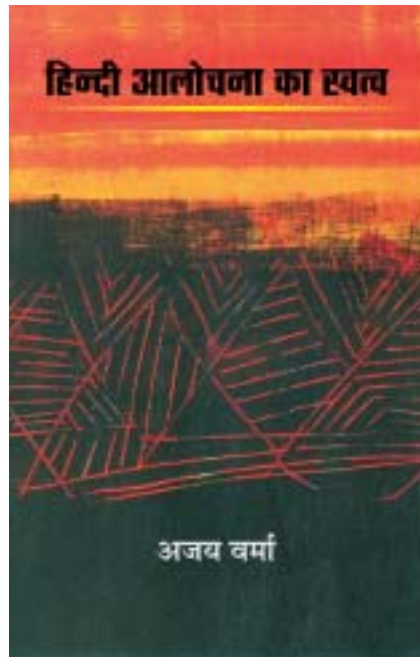
‘हिंदी आलोचना का स्वत्व’ में अजय वर्मा ने इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखकर शुक्लजी से पूर्व की आलोचना-गाथा न गाकर, सही निर्णय लिया है कि शुक्लजी ही हिंदी आलोचना पर गंभीर विमर्श के प्रस्थान बिंदु हैं। उसी मजबूरी के चलते अजय को रस-सिद्धांत की भी चर्चा करनी पड़ी है, क्योंकि

उसके मौलिक उपयोग से ही शुक्लजी की आलोचना का आधार खड़ा हुआ था। दूसरी परंपरा के साथ आलोचना की पहली परंपरा के द्वंद्व की चर्चा जरूर है लेकिन वह केवल कबीर और तुलसी तक सिमट गई है। ब्राह्मणवाद के विरोध के अति उत्साह में यह तथ्य पिछड़ गया है कि कबीर की जिस काव्यात्मक जटिलता-उलटबांसी और रहस्यवाद को शुक्लजी कविता के लिए घातक मानते थे, वह अपनी जगह आज भी कायम हैं। क्या वजह है कि सबसे ज्यादा पोलिमिक्स आलोचना में ही है? वह चाहे कबीर और तुलसी को लेकर हो या अपने-अपने सुसंगत मार्क्सवाद को लेकर? सत्यों के ऐतिहासिक संदर्भ गायब करके नए तत्त्ववाद की स्थापना और बड़े-बड़े तोपनामों के उद्धरणों के साथ अकाट्य तर्क। शुक्लजी की परंपरा में परंपरा का प्रतिवाद-प्रतिरोध। रामविलास शर्मा की जन्म शती पर ये विवाद पुरानी खुजली-दाद-छाजन की तरह

फिर उखड़े-उखाड़े गए—अखाड़ों में।

आलोचना के इस स्वत्व में आलोचक के व्यक्तिवाद और विचलनों पर कोई ध्यान दिए बगैर होने वाली उठापटक का मकसद जब आत्मप्रतिष्ठा या मठ-महंत-महामंडलेश्वरों की प्रतिष्ठा हो तो सत्य क्षत-विक्षत होता है। ऐसे में शवसाधना—शवपरीक्षा और पोस्टमार्टम—चीरफाड़ होकर रह जाती है। अब करते रहिए आप अरण्यरोदन—अमूर्तन-आरोप-प्रत्यारोप—फर्जी दलीलें। चले-चपाटे दंगल में कमजोर पहलवान को भी हो-हल्ले में जिता ले जाते हैं।

अजय वर्मा दूसरी परंपरा के ऐसे बहुत-से महत्त्वपूर्ण पड़ावों को छोड़कर सीधे साहित्य के समाजशास्त्र, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र, संरचनावाद और उत्तरसंरचनावाद के क्षेत्र में उतर आते हैं कि केवल परिचयात्मक होकर रह जाना उनकी दारुण नियति है। नाम परिगणन शैली की यही आध्यापकीय मुश्किलें, उन्हें ठहरकर गंभीरता से कुछ कहने-करने से वंचित करती हैं। इसीलिए यहां सामान्य परिचय भर है—सिद्धांत और संरचनावादियों का। हिंदी में इन धारणाओं के प्रयोगकर्ताओं की व्यावहारिक आलोचना में सफलता-असफलताओं की चर्चा के बिना यह स्वत्व सिर्फ आधा-अधूरा सिद्धांत कथन भर है। संदर्भों की भरमार के बीच और संभावना भी क्या शेष रहती है—रह सकती है? श्रम की सार्थकता इससे आगे जाने में है। वही हिंदी आलोचना का स्वत्व है। सो निरे अध्यापकीय अनुशासन से नहीं सधना।



हिंदी आलोचना का स्वत्व/अजय वर्मा/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 180

शक्तिनगर, चंदौसी, मुरादाबाद-202412 (उ.प्र.)
मो. 09412322067

आलोचकीय दृष्टि साहित्यालोचन का

सबसे बड़ा उपस्कर

देवीशंकर नवीन

बी

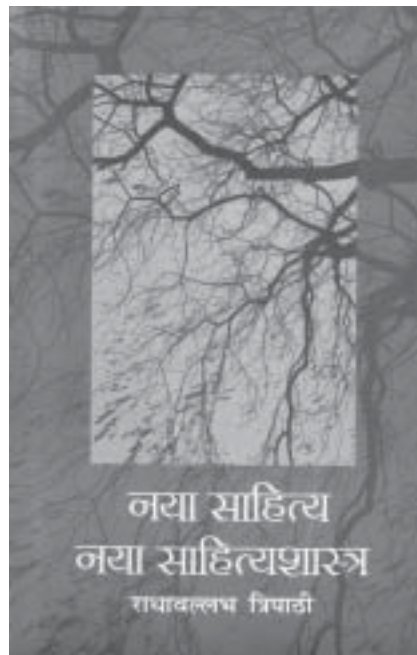
ते दशकों में भारतीय भाषाओं में अनुवाद-कार्य विपुल मात्रा में हुआ है। जाहिर है कि अनूदित कृतियां विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित भी खूब हुई हैं। हिंदी प्रकाशन इस दिशा में अपेक्षातया अधिक अग्रसर रहा है। इन प्रकाशनों में मानविकी और सामाजिक विज्ञान की पुस्तकें अधिक संख्या में अनूदित और प्रकाशित हुई हैं। साहित्यिक और चिंतनपरक ग्रंथों के अनुवाद की इस शृंखला से एक बड़ी बात यह हुई कि विचार और विचारधारा की यात्रा (जर्नी ऑफ आइडिया एंड ऑडियोलॉजी) खूब हुई। देश-देशांतर की चिंतनधारा विभिन्न भाषा और भौगोलिक परिवेश में आवाजाही करने लगी।

भारत के साहित्यालोचन की पद्धति पर इस आवाजाही का स्वाभाविक असर हुआ। साहित्यालोचन के भारतीय सूत्रों की अनदेखी करते हुए नव चिंतक समाज ने उस ओर अपना रुख कर लिया, जिधर उन्हें पराया सारा कुछ बेहतर, और अपना सारा कुछ कमतर लगने लगा। उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न अपने सूत्रों की व्याख्या पद्धति और अर्थगर्भिता को मांजने के बजाय दूसरों के उपस्करों से काम चलाना शुरू कर दिया; अपने उपस्करों को निरर्थक समझकर किनारे रख दिया। उन्हें सस्यूर, चॉम्स्की तो सार्थक और उपयोगी लगने लगे; भामह, दंडी अप्रासंगिक। अधुनातन का स्वीकार, सत्कार निश्चय ही प्रगतिशीलता का परिचायक है; पर पुरातन से अकारण और अचिंतित विमुखता दृष्टिहीनता ही कही जाएगी। अधुनातन और पुरातन साहित्यशास्त्र के सूत्रों के संगमधर्मी आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने इस दिशा में लंबे समय से महत्वपूर्ण काम किया है, जिसका एक उदाहरण उनकी

नई पुस्तक *नया साहित्य नया साहित्यशास्त्र* है।

कुल पंद्रह आलेखों के इस संकलन में लेखक ने भारतीय साहित्यशास्त्रों के सूत्रों की न केवल नई व्याख्या दी है, बल्कि नई पीढ़ी के लोगों के लिए उन सूत्रों की नई व्याख्या करते रहने की निरंतरता बनाए रखने की नई दृष्टि भी दी है। उन्होंने इस पुस्तक के प्राक्कथन में घोषणा की है कि *'पश्चिम में सस्यूर, सूसन लैंगर, चॉम्स्की आदि के प्रतिपादन तथा उत्तर-आधुनिकतावाद के संरभ के संदर्भ में संस्कृत के आचार्यों द्वारा सुनिर्मित अलंकार तत्त्व की महती पीठिका पुनः उजागर करना आज जरूरी हो गया है।'* इस घोषणा के आलोक में संकलित निबंधों में प्राचीन साहित्य की शास्त्रीय कसौटियों के आधुनिकतम उपयोग की पद्धति भी दिखाई देती है।

'लंबी कविता का एक अलंकार' शीर्षक



निबंध में आचार्य भामह द्वारा बताए गए 'भाविक' अलंकार की उपस्थिति और उपादेयता पर सूक्ष्मता से किए गए उनके विचार चकित करते हैं। विल्हण की *'चौरसुरत पंचाशिका'* से लेकर अज्ञेय की *'शेखर : एक जीवनी'* और निराला की *'राम की शक्तिपूजा'* तक का अनुशीलन करते हुए, उन्होंने प्रसंगवश निकोलाई बुखारिस, रुय्यक और आचार्य दंडी की भी चर्चा की है। तमाम उदाहरणों के सहारे लेखक ने किसी कृति के पाठ में भावक के उतरने की सावधानी और कौशल का बेहतरीन संकेत दिया है। भाविक अलंकार से कृति में प्रभाव उत्पन्न करना किसी रचनाकार के लिए बड़ा ही दुष्कर उद्यम है, इसके लिए बड़ी साधना की जरूरत होती है। विचित्रता, उदात्तता; अर्थात् अद्भुत वृत्तान्तों के समावेश, प्रसंगों के नाटकीय चित्रण और अनुकूल शब्दों के उपयोग—भाविक अलंकार के अनिवार्य तत्त्व माने गए हैं। यह बड़ा ही कठिन काम है। दरअसल, अतिशय आवेग की थरथराहट में की गई रचनाओं के शब्दों और घटनावलयों को निष्कम्प रख पाना बड़ा ही मुश्किल काम होता है। कोई भी रचनाकार अपने जीवन के यथार्थभोग को ही अपनी रचनाओं में उकेरता है। दृश्यों और घटनाओं के मौलिक अनुभव से प्रभावित अपने मन, मस्तिष्क पर काबू कर पाना और घटनावलयों के निरूपण में अपनी संवेदना से कौशल का इतना संतुलित रिश्ता रख पाना आसान नहीं है। गौरतलब है कि महाकवि निराला ने *सरोज स्मृति* कविता की रचना अपनी पुत्री की मृत्यु के लगभग दो दशक बाद की थी। उक्त कृतियों में इस तटस्थता और संवेदनशीलता का उत्कृष्ट निदर्शन दिखाते हुए आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने न केवल पुराने सूत्रों से नए साहित्य की व्याख्या

की है, बल्कि अपने ही वैचारिक सूत्रों से अपने नए साहित्य की नई और विलक्षण व्याख्या करने की दृष्टि दी है।

इस संकलन के सारे ही आलेखों में किसी कविता की-सी विलक्षणता कौंधती है। खेल-खेल की तरह लेखक ऐसी चमक पैदा करते हैं कि विचार की प्रखर किरणें फूट-फूट पड़ती हैं। अलंकार-नियोजन की तुला पर किसी भी नई-पुरानी रचना का अनुशीलन-विवेचन एक रोचक और विरल उद्यम है। काव्य-सौंदर्य और काव्य-सौष्टव की चर्चा में अलंकारों का विवेचन तो सब दिन से होता रहा है, पर सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं को मिलाकर भी ऐसे आलोचनाकर्मियों की संख्या न्यून ही होगी, जिन्होंने अलंकार का उपयोग आलोचनात्मक उपस्कर के रूप में किया हो! संकलन के पहले ही निबंध 'कविता में विरोध और विरोध की कविता' में वे 'विरोध अलंकार' की चर्चा करते हैं। भवभूति की कृति 'उत्तर रामचरित' में राम के आचरण को 'वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल' कहा गया है। इस उक्ति के सहारे वे श्रीलाल शुक्ल की 'रागदरबारी' और हरिवंश राय 'बच्चन' की कविता 'दानव का शाप' में विरोध अलंकार की उपस्थिति का संज्ञान लेते हैं, इस संदर्भ में वे अपनी धारणा को आचार्य मम्मट की मान्यता से पुष्ट भी करते हैं, कि विरोध न होने पर भी विरुद्ध रूप में प्रतिपादन से विरोध अलंकार होता है। दरअसल यह रचनाकार की प्रतिभा ही होती है जिसके कारण वह दो वस्तुओं या बिंबों में छिपे विरोध को पहचान लेता है और उसे प्रतिपादित कर देता है। इस प्रतिपादन से ही वह रचना उन वस्तुओं और बिंबों के स्थापित मानदंडों की सीमा तोड़कर उनके नए रूपों को स्पष्ट करता है और चमत्कार उपस्थित करता है। यही चमत्कार भावकों को एक तरफ नई पहचान शक्ति देता है तो दूसरी तरफ रचना को कालजयी बनाता है। अवगाहन के समय इस विरोध अलंकार के कारण भावकों के मन में रोष और करुणा, नैराश्य और सौजन्य, उदासीनता और सहानुभूति का आवागमन होता रहता है। भावक निरन्तर तटस्थ होकर मनन करने की कोशिश में तल्लीन रहते हैं, रचनाकार के कौशल से रचना में पिरोए गए संघर्ष के सूत्र, अंततः भावक के चिंतनफलक को उचितानुचित का

समर-क्षेत्र बना देता है, परिणामस्वरूप रचना की व्यंजना विराट हो जाती है। भवभूति के 'उत्तर रामचरित', या ऋग्वेद के 'कितव सूत्र', या मम्मट की धारणा, या रत्नाकर के 'हरविजय' महाकाव्य की प्रसंग-चर्चा के साथ आधुनिक काल के नए साहित्य की व्याख्या करते हुए आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने भारत के आधुनिकतावादियों और अपनी जड़ों से कटे हुए लोगों को यह बोध देने की सफल चेष्टा की है कि हमारे प्राचीन साहित्य एवं लक्षण-ग्रंथों की शाश्वतता असंदिग्ध है; आज के जटिल जीवन और जटिलतम समाज-व्यवस्था में भी उनकी प्रासंगिकता बरकरार है।

इन निबंधों की उपस्थापन शैली रोचक और रमणीय है। विलक्षण भी। लगभग सारे निबंधों की शुरुआत एक प्राचीन ग्रंथ के किसी अंश की समीक्षा से होती है, और उसी पद्धति एवं आलोचनात्मक उपस्कर से आधुनिक काल की आधुनिकतम रचना शैली की समीक्षा सामने आने लगती है। समीक्षा की यह विलक्षण शैली; आलोचना-कर्म के लिए भारतीय निजता और अपने विरासतीय उपस्करों के उपयोग की यह गर्वीली पद्धति, अत्याधुनिकता के उन झंडाबरदारों की हेकड़ी उतार देते हैं, जो यह कहते नहीं थकते कि आज के साहित्य की व्याख्या के लिए काव्य-समीक्षा के प्राच्य प्रतिमान ओछे हो गए हैं। संकलन का ऐसा ही एक जबरदस्त आलेख है—'परभावकरण अर्थात् कविता में उतरना जड़भरत का।' जड़भरत एक पौराणिक पात्र है, जो अपने आचरण और मान्यताओं के कारण अलग ही पहचान बनाता है। सुख-दुख, लाभ-लोभ, मान-अपमान से परे; आडंबर और शिष्टोक्ति से निर्लिप्त। बेलाग-बैलौस बातें करना, अलंकार के आडंबर और निरर्थक वचोवितान से परहेज रखना उसका स्वभाव है। यहां लेखक ने माना है और सच्चाई भी है कि जड़भरत का चरित्र 'प्रपंच' में रहकर भी उसे अतिक्रान्त करना और उसमें सार्थक परिवर्तन के लिए हस्तक्षेप करना है। प्रपंच की निरर्थकताओं से अपेक्षा रखने के कारण उसमें जड़ता है तो दूसरी ओर सार्थक हस्तक्षेप और उदात्त मूल्यबोध की स्थापना की दृष्टि से भरण वृत्ति है। समकालीन कविताओं की आत्मा में यह जड़भरत इसी तरह और इन्हीं विशिष्टताओं के कारण उतरता है। परभावकरण की इसी प्रवृत्ति के उल्लेख के

लिए लेखक ने भरतमुनि की उस उक्ति का उल्लेख किया है, जिसमें अभिनेता उस जीव की तरह होता है, जिसमें वह एक चोला छोड़कर दूसरे चोले में घुस रहा होता है। अमरुकशतक में इसे उदाहरण के साथ समझा जा सकता है। इन तमाम विवरणों के साथ ही लेखक यहां कविता की समझ बनाने के लिए बेहतरीन, लेकिन सहज सूत्र समझाते हैं, जो एक साथ ऋग्वेद, श्रीमद्भागवत, अमरुकशतक और त्रिलोचन शास्त्री की कविताई तक को समझने की दृष्टि देता है। वे कहते हैं कि 'कविता' में कवि का जड़भरत रूप कविता में साक्षीभाव को जन्म देता है। साक्षीभाव के बयान में निस्संगता आती है, इस निस्संगता में अवस्थित कवि भोगी और भोग्य दोनों को देखता है।' कविता में कवि के इस जड़भरत रूप की तलाश और प्राचीन सूत्र के नए उपयोग की दृष्टि देकर लेखक ने अपनी विलक्षण पहचान शक्ति का परिचय दिया है।

हिंदी समालोचना के क्षेत्र में यह दृष्टि देने के लिए आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी पीढ़ियों तक याद किए जाएंगे कि आज जब सारी ही भाषाओं के आलोचनाधर्मी लोग अणुवीक्षण पद्धति से पश्चिम की उद्घोषणाओं के बुझे हुए अलाव में समीक्षा-सूत्र की चिनगारियां ढूंढने में लिप्त हैं, आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी अपनी विरासत के सूत्रों की शृंखला दिखाते हुए आलोचना कर्म की विलक्षण दृष्टि स्पष्ट कर देते हैं। 'अवज्ञा, तिरस्कार और अस्वीकार की कविता' शीर्षक आलेख में बारहवीं शताब्दी के नव्यन्याय के तत्त्वान्वेषण की शैली से बात शुरू कर पंडितराज जगन्नाथ से लेकर निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन तक की काव्य-कला में अवज्ञा, तिरस्कार और अस्वीकार की गहनता और सूक्ष्मता ढूंढना एक विलक्षणता की ओर संकेत करता है। प्रारंभ में पंडितराज जगन्नाथ की जीवन पद्धति, विद्वता, अक्खड़पन, राजदरबार में उनके मान-सम्मान का जिक्र करते हुए समकालीनों की ईर्ष्यावृत्ति और तिरस्कार-कर्म को रेखांकित कर जिस तरह उनके काव्यांशों में अवज्ञा और तिरस्कार अलंकार की उपस्थिति का उल्लेख किया है, वह किसी रचनाकार के रचना-कौशल में स्वानुभूति के आगम का परिचायक है। विदित है कि पंडितराज जगन्नाथ की मान-प्रतिष्ठा को

देखकर उनके समकालीन पंडित लोग उनसे चिढ़े रहते थे, इस कारण उन पर चारित्रिक लांछन लगाया करते थे। तथ्य है कि वे जहांगीर और शाहजहां दोनों बादशाहों के आश्रय में रहे। दाराशिकोह से उनके अनुरागपूर्ण संबंध थे, मुगलिया शानोशौकत का उपभोग भी करते थे, संरचना के स्तर पर उनकी रचनाओं में कभी दरबार की चकाचौंध झलक उठती थी, पर वे रचनाएं अपने गहरे अर्थों में पारंपरिक बोध से भरी रहती थी। आचार्य त्रिपाठी ने उनमें जाग्रत कवित्व प्रतिभा और उद्भट आचार्यत्व का मणिकांचन योग देखा है। उनका कहना है कि 'सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य का अपने से पहले के दो हजार वर्षों की काव्यचिंतन और सौंदर्यशास्त्र की परंपरा पर सवाल खड़े करने का साहस और अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों के आधिपत्य को तोड़ने की सामर्थ्य—दोनों पंडितराज में देखी जा सकती हैं।' यह उद्धरण केवल पंडितराज जगन्नाथ की प्रशंसा के लिए नहीं है, बल्कि इसमें आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने उनके उस जुझारू मनःलोक का निदर्शन कराया है, जो काव्य में 'तिरस्कार' और 'अवज्ञा' अलंकार की परिकल्पना हेतु उनका सूत्र बना होगा। आजकल विद्वत्जन काव्य विवेचन के प्राचीन मानदंडों का तिरस्कार कर कविता से पूरे विमर्श के आधार पर काव्यालोचन करने लगे हैं; इसलिए रस और अलंकार की चिंता कम ही की जाती है; पर इस निबंध में अलंकार के सहारे किसी आधुनिक कविता की व्याख्या करने की जो पद्धति बताई गई है, वह हमें अपने ही मानदंडों पर गौरवान्वित होने का साहस देती है। लेखक ने इस तिरस्कार और अवज्ञा की कसौटी को न केवल पंडितराज जगन्नाथ के कई श्लोकों पर लागू किया, बल्कि बाणभट्ट, भर्तृहरि, अभिनवगुप्त, कबीर, निराला, हरिऔध, सुमित्रानंदन पंत, नागार्जुन और त्रिलोचन शास्त्री की पंक्तियों की व्याख्या में उसका उल्लेख किया है। सत्य है कि इस आलेख के प्रारंभ में पंडितराज जगन्नाथ के निजी जीवन और उनकी तेजस्विता की चर्चा किंचित विस्तार से की है, पर वह विस्तार हमें एक समझ बनाने की दृष्टि देता है कि किसी रचनाकार को अपनी काव्य-कला का रूप-बंध तय करने में उनका निजी जीवन किस तरह सहायक होता है। बल्कि जीवन

का भोगा हुआ यथार्थ कैसे किसी रचनाकार के कौशल को दिग्दर्शित करता है। पंडितराज जगन्नाथ के जीवन की तरह हम कबीर, निराला, पंत, हरिऔध, नागार्जुन, त्रिलोचन की जीवन-पद्धति और परीक्षित जीवन-दृष्टि पर विचार करें और तब उनकी रचनाओं में तिरस्कार और अवज्ञा को लागू कर देखें तो इन महान रचनाकारों की काव्य-दृष्टि का जायजा लेने में और भी सुविधा हो जाती है। जाहिर है कि यह 'तिरस्कार' और यह 'अवज्ञा' अकविता आंदोलन के दौर के नकार का समानार्थी नहीं है। व्यंग्य के तीखे प्रहार ने इस 'तिरस्कार' और 'अवज्ञा' अलंकार को इन कालजयी रचनाओं में प्राणवंत कर दिया है।

आशय यह नहीं है कि संस्कृत के आचार्यों द्वारा सुनिर्मित अलंकार तत्त्व की महती भूमिका इतनी महत्वपूर्ण है कि हमें दुनिया भर में चल रहे विमर्शों की कोई जरूरत नहीं; बल्कि यह पुस्तक एक शिष्ट निवेदन प्रस्तुत करती है कि आधुनिकता की आंधी में हम अपनी प्राचीन कसौटी की अवहेलना न करें, हम उसके उपयोग पर भी ध्यान दें, बल्कि कभी-कभी अपने इन प्राचीन मानदंडों से नवागत उपस्करों के सरोकार निर्मित करने की भी चेष्टा करें। 'टूटना पुनः तर्क का' आलेख में तुलसीदास की चौपाई और बिहारी के पद में असंगति अलंकार की चर्चा से बात शुरू करते हुए छठी-सातवीं शताब्दी के संस्कृत प्रहसन 'भगवदज्जुकम' में आचरण के असंगत उलटफेर की विस्तार से चर्चा हुई है और बात फिर सीधे गिरीश कर्नाड के 'हयवदन' (जहां असंगत स्थितियों के कारण मनुष्य की पहचान का वस्तुनिष्ठ सवाल उपस्थित होता है); नंदकिशोर आचार्य के 'देहांतर' (जहां ययाति के मिथक को व्यापक दृष्टि से अंकित किया गया है); मिलान कुंदेरा की कहानी, जिसमें नायिका अपने दिवंगत पति की कब्र का नवीकरण कराना भूल जाती है और कब्रिस्तान के अधिकारी कहते हैं कि बूढ़े मुर्दों का दायित्व होना चाहिए कि नए मुर्दों के लिए जगह बनाएं; मुद्राराक्षस के 'योर्स फेथफुली' (जिसमें मुर्दों को जिंदा और जीवित को मुर्दा मानकर जीवन की विडंबना प्रस्तुत की गई है) की व्याख्या की है; और यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि इस

समय समाज की विडंबनाओं, विसंगतियों को; समाज की अमानवीयता और मानवों की असामाजिकता को आज के भारतीय साहित्य के सर्जक जिस तलख जबान में आहत करने की चेष्टा कर रहे हैं; और अपनी चेष्टा में सफल हो रहे हैं; वह वस्तुतः असंगत स्थिति या असंगति अलंकार उत्पन्न कर व्यंग्य की पुरजोर चोट करते हैं; जो जटिल वर्तमान के यथार्थ को कुछ ज्यादा प्रभावी बना देते हैं।

प्राप्य से निराशा और प्राप्त में अवांछित घटकों के समावेश होने से उसके प्रति निषेध भाव की स्थिति विगत आधे से अधिक शताब्दी के भारतीय साहित्य में मुख्य तत्त्व के रूप में दिखता है। राधावल्लभ त्रिपाठी अपने विश्लेषण को पीछे की ओर कालिदास तक ले जाते हैं और *मालविकाग्निमित्र* में सूत्रधार के वक्तव्य में उस निषेध तत्त्व की पड़ताल करते हैं। यहां वे अपह्नुति अलंकार का उल्लेख करते हैं, मम्मट, भामह, भोज आदि आचार्यों का सहारा लेते हुए प्रत्यक्ष का निषेध कर अन्य की स्थापना को अपह्नुति अलंकार बताते हैं, जिसे जयदेव ने अतथ्य के आरोपन हेतु तथ्य को छिपाना कहा है। पर यहीं भर्तृहरि का सहयोग लेकर बताते हैं कि कविता का अर्थ, अर्थात् कविता में अपह्नुति का उद्देश्य अतथ्य की स्थापना नहीं है; यहां जो भी अतथ्य प्रेषित होता है, वह तथ्य की परख के लिए ही होता है। तभी तो रवींद्रनाथ टैगोर की पंक्ति 'मेरी मुक्ति की पद्धति नहीं है यह', फैज़ की पंक्ति 'दाग दाग उजाला' या 'गीत नशतर हो नहीं, मरहमे-आज़ार सही', भारतेन्दु की पंक्ति 'क्यों सखि साजन, नहि अंगरेज' में जिस 'निषेध' का तत्त्व उन्होंने ढूंढा है, वह निषेध, नकार या अतथ्य की स्थापना नहीं है। 'कविता में निषेध और निषेध की कविता' शीर्षक निबंध में उन्होंने अपह्नुति अलंकार के निषेध तत्व की खोज जिस तरह की है, वह पद्धति चमत्कृत करती है। यहां संगीत-सभा के उस प्रभावोत्कर्ष का उल्लेख किया जा सकता है कि बंद कमरे में कोई श्रेष्ठ गायक मल्हार गा दे, तो बारिश होने लगती है; दरअसल वह बारिश होती नहीं, बारिश का प्रभावोत्कर्ष उस संगीत से उत्पन्न हो जाता है, और प्रतीत होता है कि बारिश हो रही है। अपह्नुति के इस निषेध की पड़ताल से यहां लेखक ने साहित्यालोचन की वह दृष्टि दी है, जिससे एक बेहतरीन

रचना में तथ्य के निषेध और अतथ्य के आरोपन की स्थिति के बावजूद प्रभावोत्कर्ष की ऐसी शमां बंध जाती है, अंततः उस आरोपन और उस वंचना की परिणति, तथ्य की प्रतिष्ठा के रूप में ही होती है।

अलंकार और अलंकार के तत्त्वों के सहारे इस संग्रह के सभी निबंधों में आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने आज के समालोचकों को एक बेहतर विकल्प दिया है कि साहित्य के विश्लेषण-विवेचन के लिए वस्तुतः 'दृष्टि' प्राथमिक आधार होता है, 'दृष्टि' में 'तेज' न हो तो कैसा भी उपस्कर उसके समक्ष भोथरा हो जाएगा। 'दृष्टि' हो तो विषादन अलंकार की व्याख्या से शुरू होकर बात कालिदास, महाकवि बाणभट्ट और बोरिस पास्तरनाक की तुलनात्मकता और फिर 'रघुवंश' और 'हर्षचरित' या 'अभिज्ञान-शाकुंतल' और 'डॉ. जिवागो' की तुलनात्मकता तक पहुंच जाती है। विरोध, विसंगति, विषाद, वंचना, निषेध, आदि से संबद्ध अलंकारों के सहारे सामान्य स्थिति में कोई सुखकर प्रसंग तो प्रस्तुत नहीं किया जा सकता; पर इन तत्त्वों की पड़ताल करते हुए भयकारी प्रसंग हाजिर करने वाली रचनाओं का विश्लेषण रोमांचक ढंग से किया जा सकता है। 'भयानक खबर की कविता' शीर्षक निबंध में मुद्राराक्षस का नाटक 'मरजीवा', कालिदास का 'अभिज्ञान-शाकुंतल', भास का 'उरुभंग', मुक्तिबोध की कई कविताएं, का ऐसा ही अनुशीलन यहां किया है। संकलन के अन्य निबंधों में भी एस.एल.भैरप्पा, विनोद कुमार शुक्ल, सूरदास, भर्तृहरि, जायसी, धूमिल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राखलदास बंधोपाध्याय ...आदि की कृतियों की विवेचना की है।

कहा जा सकता है कि यह पुस्तक संभवतः अत्याधुनिक सोच के नए-पुराने समालोचकों को एक साथ अपने विरासत की ओर गौरवावित भाव से झांकने, अपनी आलोचकीय क्षमता की जड़ों को मजबूत करने और कई बार आयातित उपस्करों को झकझोड़ने की शक्ति देगी।

नया साहित्य नया साहित्यशास्त्र/राधावल्लभ/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ` 200

ए-2/198, फेज-5, आया नगर, एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110097, मो. : 09868110994

पगडंडियों पर चलते पांव

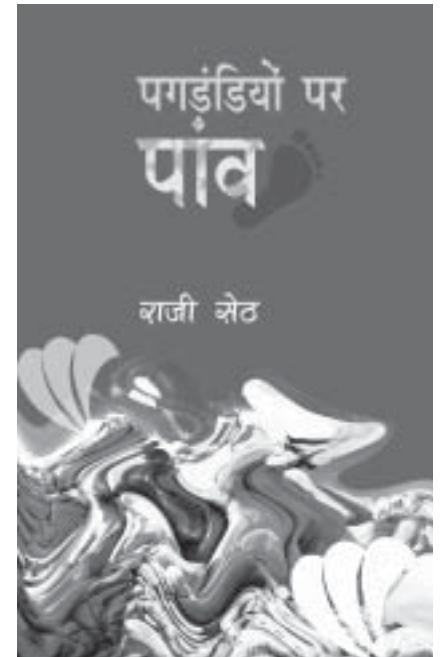
डी. एन. प्रसाद

सा

साक्षात्कार किसी को छूने की विधा है। साक्षात्कार किसी की संवेदना को स्पर्श करने की विधा है। साक्षात्कार किसी के सामने प्रत्यक्ष हो जाने की विधा है। साक्षात्कार पहेली है समझने-बूझने की भी...! साक्षात्कार खुल जा सिम-सिम भी है। साक्षात् आकार में जिसका साक्षात् हो जाए, वह साक्षात्कार इतना आसान नहीं होता, जितना समझ लिया जाता है। एक साक्षात्कार वह होता है जो जीवन की जीविका पाने के लिए होता है तथा जिसके माध्यम से युवा जीविका पाकर यौवन उत्सव के क्रमिक विकास में जीवन पाता है, और एक साक्षात्कार ईश्वर से साक्षात् दर्शन का होता है जो विभिन्न मंदिरों के माध्यम से मानव मन को सुख-संतोष देता है। लेकिन एक साक्षात्कार वह होता है जिसमें साक्षात्कार लेने वाला साक्षात्कार देने वाले के मन-कोठर को कुरेद-कुरेद कर खोल देता है और सब कुछ स्पष्ट हो जाता है, चाहे वह व्यक्ति किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो! इसमें जीवन की रचनात्मक-प्रक्रिया का संश्लेषण विश्लेषण के साथ साधारणीकरण भी हो जाता है जिससे पाठक प्रेरित, उत्सर्जित और उसमें निमज्जित भी होता है। साहित्य के क्षेत्र में साहित्य की रचनाधर्मिता को स्पष्ट रूप से देखने की सशक्त विधा साक्षात्कार है। इसलिए भी साक्षात्कार शोध की प्रक्रिया की एक प्रविधि भी है और साहित्य के संदर्भ को समझने के लिए एक अबूझ पहेली भी! जब कोई रचनाकार साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरता है तब उसका संपूर्ण जीवन और साहित्य आईना की तरह उसके सामने आ जाता है और वह उस आईना में झांककर वह सब कुछ खोल देता है जो कभी उसके मन से ओझल हो गया रहता है। इस क्रम में साक्षात्कारकर्ता उस रचनाधर्म और रचनाकार

के सुख-दुख, वेदना-संवेदना, राग-विराग, सच-झूठ, संस्कार-संस्कृति और वह सब कुछ सामने ला देता है, जिससे रचना की जीवन प्रक्रिया प्रतिपादित होती है। कहने के संश्लेषण-विश्लेषण में साक्षात्कार साहित्य और साहित्यकार को समझने-बूझने की एक सशक्त विधा का स्वरूप बन चुका है। ऐसे में रचनाधर्म को धर्मिता की तरह निवेशित करके प्रतिष्ठा प्रतिष्ठापित करने में प्राख्यात कथाकार राजी सेठ अग्रणी हैं। चाहे उनके लिए गए साक्षात्कार हों या दिए गए...! सबमें सत् हित के साथ साहित्य का उद्देश्य उभरकर आया है जो साधारणीकृत करता है जीवन में जुड़ने के लिए...

'पगडंडियों पर पांव' रखकर चलने से पहले राजी सेठ ने जो प्रसिद्ध शिक्षाविद् और रचनाधर्मी रमेश दवे के संगत में संवाद किया है वह रमेश दवे की बातचीत के माध्यम से राजी सेठ को समेकित रूप में समझने के



लिए पूर्ण है, जिसे संवेद फाउंडेशन, दिल्ली ने संगत में संवाद नाम से ही 2008 में छापा है। इस 65 पेजी पुस्तिका में 57 प्रश्न समाहित हैं। यह दो साहित्यकारों के बीच की बातचीत है जिसमें बात के माध्यम से चीत में उतरने की बात है। चीत में उतरने पर चैतन्यता स्वतःस्फूर्त हो जाती है और विषय या विषयाकार की सहज अनुभूति भी हो जाती है।

लिए गए साक्षात्कार हों या दिए गए साक्षात्कार—राजी सेठ दोनों ही अवस्थाओं में माहिर हैं। इसका प्रमाण है राजी सेठ द्वारा अज्ञेय से लिए गए साक्षात्कार 'थोड़े से अज्ञेय' शीर्षक से छपी पुस्तिका। इस 50 पेजी पुस्तिका में राजी जी ने अज्ञेय जी से 119 प्रश्न पूछ डाले हैं; तीन किशतों में पूरी हुई यह वार्ता 80 के दशक की है, परंतु अज्ञेय शताब्दी वर्ष को समर्पित इस साक्षात्कार को संवेद फाउंडेशन ने ही 2011 में एक साथ छापा है। इसमें दो प्रख्यात साहित्यकारों के प्रश्नोत्तरी से दोनों की रचनाकर्मी की आकुलता-व्याकुलता के साथ बहुआयामी सृजनात्मक मानसिकता का बोध भी होता है।

अब आएं पगडंडियों पर! 'पगडंडियों पर पांव' चलते-चलते कथाकार राजी सेठ के रचनाकर्म पर 1983 से 2012 तक विभिन्न साहित्यधर्मी सहकारों द्वारा लिए गए कुल 27 साक्षात्कारों की पगडंडियों पर चलते-चलते लगभग 30 वर्षों के बीच घटित और अनुभूत जीवन के साहित्यिक मर्म तक पहुंच जाते हैं, जिसे पढ़ना साहित्य अभिरुचि वाले पाठक के लिए और सामान्य पाठक, दोनों के लिए जीवन, साहित्य, विचार, भाषा, संस्कार और विकसित दुनिया के लिए मूल्य-मर्यादा-संवर्धन का घटक-आईना है जिसमें पाठक अपना भी जीवन चेहरा देखता है और कथाकार राजी सेठ का भी! साथ ही प्रश्नकर्ता का भी! इसमें प्रभाकर श्रोत्रिय, रमेश दवे, नासिरा शर्मा, तरसेम गुजराल, राजेंद्र परदेसी जैसे नामवर हस्ताक्षर हैं तो वाज़दा खान, रणवीर रांग्रा, सुदर्शन नारंग, बलवंत कौर, वागर्थ के संपादक हैं और अतिनूतन मिथिलेश प्रसाद, नयना आचार्य, लकी चौधरी भी हैं!

200 पृष्ठों की साक्षात्कार वाली प्रस्तुत पुस्तक में राजी सेठ के रचना संसार के अलावा समय-समय पर समकालीन आंदोलनों, विमर्शों और अनुस्यूत जीवन यथार्थ से टकराते सवालियों का बड़ा ही कौशलपूर्ण और उपयुक्त उत्तर विन्यसत है जिसमें स्त्री-विमर्श और

दलित-विमर्श भी शामिल है। इसमें स्त्री-मुक्ति के साथ पुरुष-मुक्ति, पुरुष-वर्चस्व के साथ स्त्री-वर्चस्व की बात भी उजागर हुई है। प्रभाकर श्रोत्रिय जी के एक प्रश्न के उत्तर में राजी जी का कहना है—'झगड़ा वर्चस्ववाद के विरुद्ध है, पुरुष के विरुद्ध नहीं। पुरुष के विरुद्ध होता तो हर घर में पिता, पति, पुत्र, प्रेमी, बॉस के रूप में एक शत्रु बैठा होता। सोचने की बात यह है कि स्त्री को पराधीनता की भूमिका यदि परंपरा से मिली है, तो पुरुष को वर्चस्व की भूमिका भी उसी परंपरा से मिली है। चिरकाल से दोनों इसी दायरे में बंद रहे हैं। प्रश्न दोनों की मुक्ति का है। मुक्ति एक दूसरे से नहीं, उस मानसिकता से इच्छित है, जो मनुष्य को मनुष्य की तरह समझने के विरुद्ध जाती है।' (पृ. 157) कहीं-कहीं राजनीतिक पचड़ों वाले प्रश्न भी हैं, जिसे राजी सेठ ने प्रश्नकर्ता को बड़े आत्मीय ढंग से सुलझा दिया है। अविभाजित भारत को देखने वाली राजी सेठ से विभाजन के दर्द से रू-ब-रू होने वाले प्रश्न भी हैं, जिसे राजी जी ने स्वयं प्रत्यक्षदर्शी स्वपरिवार का संगायन करके चित्र-सा उकेर दिया है। उनकी विभाजन संदर्भित कहानियां, किसका इतिहास, बाहरी लोग, रूको इंतजार हुसैन में विस्थापन का दर्द है जिससे प्रश्नकर्ता आत्मस्वीकृत भी हुए हैं।

संपूर्ण रचनाकर्म और रचनासंसार से प्रश्नकर्ताओं ने प्रश्न किए हैं। जिनका उत्तर राजी जी ने अपने परिवेश, अपने जीवन और अपने संवेदन से दिया है। 30 वर्षों के इस साक्षात्कार संकलन में कई प्रश्नकर्ताओं के प्रश्न आवृत्त भी हुए हैं जो समय के अंतराल में स्वाभाविक भी हैं हर पहले साक्षात्कार लेने वाले के लिए। इसलिए राजी जी ने उस आवृत्तिपरक उत्तर में भी अपनी कथ्य शैली, भाषा-शैली व शब्द संरचनात्मक शैली से नवीनता ला दिया है जिससे पुनरावृत्ति का दोष नहीं झलकता, बल्कि पुनर्नवा का परितोष होता है।

आंदोलनों के विषय में या किसी भी विषय में प्रश्नोत्तर को प्रश्नाकुल बना देना राजी जी की अपनी कथ्य शैली है। इसे वे राजनैतिक या किसी वाद-विवाद के लाग-लपेट से अलग सहज रूप में व्याख्यायित करती हैं—'आंदोलन तब जन्म लेते हैं, जब सामाजिक-नैतिक विषमताएं असहनीय हो जाने तक पहुंच जाती हैं। यह लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में मंशा और व्यवहार से डटे रहने की प्रतीक्षा है। आंदोलन समस्याओं की तरफ

हमारा ध्यान खींचता है। इसे विमर्श का पूर्वपक्ष कह सकते हैं। तर्क-वितर्क के खुलते जाने से यह विमर्श की सैद्धांतिकी का रूप ले लेता है।' (पृ. 123) संभवतः स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श इन्हीं आंदोलन की उपज हैं और अब आंदोलन की उक्त आंतरिकी में आदिवासी-विमर्श खड़ा हो रहा है।

बहुत बार साक्षात्कारकर्ताओं ने राजी जी से निजी प्रश्न कर डाले हैं, यहां तब कि देहमन की भाषा का प्रश्न भी रख दिए हैं। राजी जी ने अपने उत्तर कौशल से ऐसी प्रस्तुति दी है कि न उनका कहीं निजीपन आ पाया है और न देहमन की भाषा की भयावहता! साक्षात्कार लेने वाला उनकी भाव विराटता से अविच्छिन्न हो जाता है और प्रश्नोत्तर की तार्किकता से पलैट...कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि लेखन विधाओं के लेखन के बारे में प्रश्नकर्ता उनके उत्तर से अवाक रह जाते हैं—'लिखने वाला कुछ भी लिखे, इतिहास लिखे या समाजशास्त्र, लिखेगा तो संवेदना के एंटीना से।' (पृ. 117) संवेदना की आस्था राजी जी के लेखन का प्रबल पक्ष है। उनके संपूर्ण लेखन में संवेदना की सहज अनुभूति समरस प्रवाहित है। इसी शाश्वत तंतु ने उनकी रचनात्मकता को किसी खेमे में बंधने नहीं दिया। साहित्यिक दलबंदी से दूर रहकर भी उनका रचनाधर्म सबके लिए धर्मिता बनी। भले ही साहित्य आलोचकों ने उन्हें कथाकार घोषित कर दिया, परंतु उनकी कविताओं का विपुल भंडार उनकी आस्था-अनास्था की शाश्वती संवेदी गंध से पूरित है। आगामी दिनों उनकी कविताओं की पुस्तकें आएंगी तब साहित्य जगत् कवयित्री राजी सेठ की कविताओं का मूल्यांकन करेगा और उनकी संवेदना की सांद्रता से सहकार होगा। ज्यादातर साक्षात्कारकर्ता उनकी गद्यात्मक वृत्ति की परिधि से प्रश्न किए हैं जिसमें उनका उपन्यास तत्-सम लगभग सभी के प्रश्नों पर चढ़ा है। कारण, तत्-सम मनुष्य की जिजीविषा का आख्यान है। यह दार्शनिक शब्दावली सार्वभौमिक मूल्य का आग्रही है, इसलिए तत्-सम मनुष्य मन को बार-बार उकेरता है। जीवनानुभूति का संवेदनात्मक अनुभव साहित्य का दर्शन है और यही दर्शन जीवन का प्राण है। राजी जी विकल्प को असली कहने के पक्ष में इसलिए भी नहीं हैं कि—'विकल्पों की सोच से हम जैसों का मानसिक जीवन भरा पड़ा है, पर वह है तो मानसिक ही, असलियत इससे परे है (पृ. 197) इसी संघर्ष का कथा-साहित्य राजी

जी के रचना संसार से पगडंडियों पर पांव चलते-चलते प्राप्त होता है जो जीवन सत्य का सिंधु है।

संपूर्ण किताब में राजी जी की सिर्फ कविताओं से प्रश्न करने वाले मात्र एक साक्षात्कारकर्ता हैं—मजीद अहमद। इन्होंने राजी जी की प्रकाशित कई महत्वपूर्ण कविताओं से प्रश्न किया है। राजी जी निरंतर कविताएं लिखती हैं, परंतु आश्चर्य कि अभी तक कविताओं की किताब के लिए समय नहीं दे पाई हैं। उनकी कविताएं समकाल के सवाल का निजी उत्तर होती हैं। मूल्यों एवं मानकों के प्रति एक पुरजोर इशारा भी करती हैं। संकेत उनकी कविता की धार है। साक्षात्कारवाली यह पुस्तक यह बात साफ करती है कि उनका एक समृद्ध काव्य-संसार है। बल्कि छपी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। अनुवाद की चर्चा में जर्मन कवि रिल्के के पत्रों के अनुवाद की चर्चा न हो तो बात अधूरी रह जाएगी। अनुवाद साहित्य में पत्र युवा कवि के नाम एक बड़ा और प्रसिद्ध काम है। अनुवाद भी राजी जी के लिए रचना-रसायन जैसा है। यही कारण है कि एक सफल अनुवादक की मान प्रतिष्ठा से वे पूरित हैं। देश-विदेश में राजी जी की अनुदित रचनाओं का समादर हुआ है, क्योंकि इनके अनुदित साहित्य रसोद्रेक करते हैं।

संपूर्णता में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राजी सेठ के रचना-संसार और जीवन-संसार में एक साम्यता है और उनके शब्दों के गढ़न अपने हैं—भाववाचक विशेषण में भी शब्द-सृजन अपना है। पहचाना जा सकता है शब्दों की भीड़ में किए ये शब्द राजी सेठ के हैं। अक्सर राजी जी पर देर से लिखने के प्रश्न पूछे जाते हैं। ज्ञात हो कि जीवन-उत्तरार्द्ध का संपादित-कार्य ज्यादा स्थायी होता है और भी, कि चालीस पार का प्यार भी स्थायी होता है और राजी जी पर 'देर आए दुरुस्त आए' की लोकोक्ति भी चरितार्थ होती है। राजी जी ने घर और बाहर दोनों बखूबी संभाला है—घर-संसार को भी, साहित्य-संसार को भी!

पगडंडियों पर पांव/राजी सेठ/भावना प्रकाशन,
109-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-110091/मूल्य : ₹ 300

प्राध्यापक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), मो. 09450063304

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियां और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है—उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियां, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृतांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड 'हिंदुस्तानी की परंपरा' का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर

फोन : 09650101266

पात्रों के बहाने समकालीन लेखन से जवाब-तलब

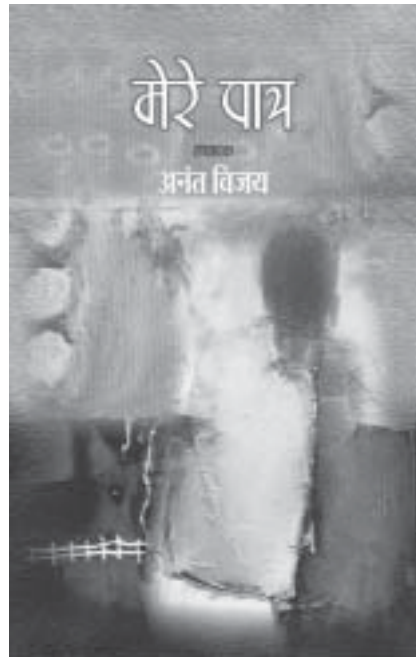
विनोद अनुपम

कि

सी लेखक के पास अपने पात्र चुनने की स्वतन्त्रता होती कहाँ है? कोई पात्र चुनकर कहानी लिखता है, तो मुझे लगता है वह कहानी नहीं चरित्र चित्रण कर रहा है। दरअसल, कहानी के कथ्य के अनुरूप पात्र स्वयं लेखक के पास आता है। कम से कम मेरे साथ तो यही होता है। इसलिए मैं पात्र चुनने की स्थिति में होता ही नहीं हूँ। .. अपने पसंदीदा पात्र की चर्चा पर जब कथाकार अवधेश प्रीत ये कहते हैं तो असहमति की गुंजाइश भी नहीं बनती, लेकिन यह भी सच है कि लेखक के हजारों पात्रों में कुछ उसके दिल के करीब ज्यादा रहते हैं, कुछ दिमाग के और निश्चित रूप से कुछ पात्र ऐसे भी होते हैं जिन्हें निश्चित रूप से वह भूल जाना चाहता होगा। अनंत विजय की पुस्तक 'मेरे पात्र' में लेखकों और पात्रों के इन्हीं संबंधों को आत्मीयता के साथ विश्लेषित करने की कोशिश की गई है।

अपनी भूमिका में अनंत विजय अरुण प्रकाश से बातचीत का खास तौर पर उल्लेख करते हैं, जो कहीं न कहीं किताब का मूड समझने में भी सहायक होती है। अनंत लिखते हैं, फोन पर कहे मुझे उनके शब्द अब भी याद हैं 'कहानी पर क्या बात करोगे पढ़े। कहानी तो अब कहानी रही नहीं वो पर्सनल स्कोर सेट करने का माध्यम बन चुकी है।...' मैं थोड़ा चौंका। मैंने उनसे पूछने की कोशिश की तो अरुण प्रकाश ने साफ तो नहीं कहा लेकिन संकेतों में अपनी बात कह दी थी। तब हिंदी में जादुई यथार्थवाद का भी डंका बज रहा था। बाद में मित्रों से बातचीत करने के बाद अरुण प्रकाश जी की बातों का संदर्भ समझ में आया। अरुण प्रकाश के अंदर इस बात को

लेकर एक कुंठा पैदा हो गई थी कि हिंदी में उनसे कम प्रतिभाशाली लोगों को ज्यादा प्रसिद्धि मिल रही है। इसी कुंठा ने उनको थोड़ा तलब भी बना दिया था। अरुण जी की कहानियाँ और उनके पात्रों में विविधता देखने को मिलती थी। बिहार की पृष्ठभूमि पर लिखी कहानी में एक पात्र को मुंबई के किसी फिल्म डायरेक्टर के खड़े होने का अंदाज दे देना अरुण प्रकाश बखूबी जानते थे। उस वक्त अरुण प्रकाश ने बेहद ही बेबाक अंदाज में कहा था कि इन दिनों किरदार दुहराए ही नहीं जा रहे बल्कि कहानियों में चेहराविहीन किरदार आ रहे हैं। कथाकार की रुचि नख-शिख वर्णन में नहीं रही। इसलिए ये किरदार विश्वसनीय नहीं हो पाते हैं। लेकिन जिस तरह से अरुण जी ने मुझे पढ़ा कहा था उसको सुनकर मजा आया था। बिहार में बेहद स्नेह से लोग इस शब्द का इस्तेमाल अपने से छोटों के लिए करते हैं।



वास्तव में अनंत विजय की यह पुस्तक पात्रों के बहाने समकालीन कथालेखन के आत्मीय भ्रमण का अवसर उपलब्ध कराती है। नासिरा शर्मा अपने प्रिय पात्र के रूप में 'सरहद के इस पार' का 'रेहान' का उल्लेख करते हुए कहती हैं, उसमें मेरे बड़े भाई और मेरे भांजे का अक्स है और उस पूरी पीढ़ी का है जो बँटवारे की लानत को झेलते रहे हैं। लेकिन वे यहीं नहीं रुकतीं, इस पात्र की पूरी निर्माण प्रक्रिया भी व्यक्त करती हैं, इस कहानी के पात्र बनने में जामिया मिल्लिया के उस परिवेश का बहुत हाथ रहा है जब एक पक्ष मेरे ईरान पर लिखे लेखों से रूठ था, दूसरा पक्ष मेरे नाम के साथ लिखे मेरे सरनेम से पहले दिन से नाक-भौंह सिकोड़ रहा था। इन दोनों पक्षों ने आपस में हाथ मिला मुझे वहाँ से उखाड़ने की कोशिश की और मुझे इस्तीफा देना पड़ा। मुझे जामिया, अपना विभाग, अपने विद्यार्थी बुरी तरह याद आते, जो टीस बनकर मुझे चुभते थे। उस टीस की पीड़ा इस कहानी में रेहान की पीड़ा बन गई।

'मेरे पात्र' में अलग अलग पीढ़ियों के समकालीन लेखन में सक्रिय कमलेश्वर, रवीन्द्र कालिया, गिरिराज किशोर, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, रंगनाथ तिवारी, शरद पगारे, धीरेन्द्र अस्थाना, अखिलेश, नमिता सिंह, संतोष दीक्षित, सुभाष शर्मा, ओमा शर्मा जैसे 34 लेखकों को शामिल किया गया है। छोटे-छोटे आलेखों में उनके अपने रचे प्रिय पात्र के साथ विश्व साहित्य के भी पसंदीदा पात्रों के बारे में जानने की कोशिश की गई है। अरुण प्रकाश कहते हैं, हार्वर्ड फास्ट के अंग्रेजी उपन्यास 'लाइफ आफ स्पार्टाकस' के नायक स्पार्टाकस ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। वह गुलाम है पर मुक्ति चाहता है। शरीर से

सुन्दर नहीं पर संसार की सुन्दरतम आत्मा उसमें वास करती है। वह गुलामों को एकजुट कर शक्तिशाली रोम साम्राज्य से लड़ता है। पराजित हो जाता है। वह मरा कि जिंदा है, कोई नहीं जानता। वह यथार्थ से स्वप्न बन जाता है। आज भी वह हर गुलाम का स्वप्न है। निर्दोष संरचना वाले ऐसे बहुआयामी किरदार कम ही बन पाते हैं। ...कतई आश्चर्य नहीं कि अधिकांश हिन्दी कथाकार विश्व साहित्य के अपने प्रिय



पात्र की तलाश विदेशी साहित्य में ही पूरी करते हैं, वहीं अवधेश प्रीत अपने प्रिय पात्र के रूप में द्रौपदी की चर्चा करते हुए कहते हैं, मुझे विश्व साहित्य का सबसे मुकम्मल स्त्री पात्र लगती है। उसका सौन्दर्य, दर्प, समर्पण और स्वाभिमान विश्व साहित्य के किसी पात्र में नहीं मिलता। वे हरिशंकर परसाई को उद्धृत करते हुए अपनी बात पूरी करते हैं, परसाई जी ने मुझसे कहा था कि 'विश्व साहित्य जरूर पढ़ो पर उससे पहले रामायण-महाभारत पढ़ लो।' महाभारत के हजारों पात्रों में से कोई भी एक दूसरे से नहीं मिलता।

अनंत विजय समकालीन लेखन पर नजर रखने वाले गंभीर समीक्षकों में गिने जाते हैं। जाहिर है जब वे किसी बात को रख रहे होते हैं वह उतनी सीधी नहीं रह जाती जितनी दिखती है, लेखकों के प्रिय पात्र जैसे विषय के बहाने भी अनंत विवाद के बिंदुओं से टकराने में गुरेज नहीं करते। शरण कुमार लिंबाले लगभग समकालीन लेखन को खारिज करते हुए कहते हैं, वर्तमान कथा साहित्य के लेखक मध्यवर्ग के हैं और वह अपने मध्यवर्ग के पात्र को बार-बार रिपीट कर रहे हैं। पढ़नेवाला और लिखनेवाला एक ही वर्ग का है तथा उस मध्यवर्ग की अपनी सीमाएँ हैं। अपने सीमित दायरे में वह काल्पनिक लेखन करता आया है। सेल्फ कंटेंड ब्लॉक में रहनेवाले वर्ग की वास्तविकता कितनी भीषण है और वह कौन-से समाज में जी रहा है, इसका पता नहीं है, बल्कि वह उसे अनदेखा कर रहा है। वर्तमान समय में हो रहे हिंसा, भ्रष्टाचार, छुआछूत, साम्प्रदायिकता आदि को आप अनदेखा नहीं कर सकते। वर्तमान कथा साहित्य में एक सीमित वर्ग का चित्रण बार-बार हो रहा है, इसलिए यह साहित्य आवर्त में फँसा है।

लेकिन वरिष्ठ लेखक और अपने समाजशास्त्रीय लेखन के लिए चर्चित सुभाष शर्मा लिंबाले से सहमत नहीं दिखते, वे कहते हैं, दलित कुल में पैदा होने मात्र से लेखन करने वाले मराठी दलित लेखकों का लेखन कमोबेस जूठन है। ऐसा अक्सर होता है कि तथाकथित उच्च जातियाँ क्रूर एवं शोषक दिखाई जाती हैं तथा निम्न जातियाँ शोषित। जबकि सच्चाई यह है कि उच्च जातियों में भी शोषित हैं और निम्न जातियों में भी शोषक हैं। सुभाष शर्मा अपने पात्रों के बहाने लेखन पर विचारधारा के दबाव का सवाल उठाते हैं। कभी कभी विचारधारा के अनावश्यक दबाव में वर्ग चरित्र तथा धर्मनिरपेक्षता किसी तरह स्थापित करने के नाम पर विभिन्न संप्रदायों के बीच खुली कटुता, हिंदू लेखकों द्वारा हिंदू समाज की संकीर्णता तथा मुस्लिम लेखकों द्वारा मुस्लिम समाज की संकीर्णता कई कहानियों में दुहराई जाती रही है। इसके अलावा आजकल दलित लेखन का जितना शोर मचाया जा रहा है, उतना उसमें स्थायित्व, गहराई एवं गंभीरता नहीं है। ...दुर्भाग्यवश कई लेखकों द्वारा इस जटिल नवयथार्थ को नजरअंदाज किया जाता रहा है अथवा इसकी सूक्ष्मता उनकी पकड़ से फिसलती जा रही है। मेरे पात्र में अनंत की यह खासियत है कि लेखकों की टिप्पणियों को पूरी ईमानदारी के साथ पाठकों तक पहुंचाने की कोशिश की है। इसीलिए किताब अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहते हुए भी हिन्दी साहित्य के विस्तृत वैचारिक परिदृश्य को पाठकों तक पहुंचाती है।

आश्चर्य नहीं कि समकालीन लेखन के सर्वाधिक चर्चित नामों में एक शिवमूर्ति कहते हैं, जो भी जेनुईन रचनाकार होगा वह दूसरों के पात्रों को नकल करके अपने पात्र नहीं रचेगा।

हर रचनाकार अपना संसार रचता है। यदि ऐसा नहीं, कोई नकल का आधार बनाता है तो वह कितने दिन टिकेगा। मुझे विश्व कथा साहित्य के जिस पात्र ने सबसे अधिक प्रभावित किया वह कोई मनुष्य न होकर एक कुत्ता है। समर्थ कथाकार जैक लंडन के उपन्यास जंगल की पुकार का नायक बक। बक नाम के इस कुत्ते का संघर्ष और उसका विकास अप्रतिम है और अप्रतिम है जैक लंडन द्वारा किया गया उसका

चित्रण। निश्चय ही यहां पर हिंदी लेखन की सीमा भी दिखाई देती है, क्या वाकई हिंदी में बक जैसे किसी पात्र का स्मरण किया जा सकता है।

अमरीक सिंह दीप शायद इसी भाव को शब्द देते हुए कहते हैं, यह सच है कि इधर लिखी जा रही ज्यादातर कहानियों के चेहरे लगभग एक जैसे हो गए हैं। उनकी अपनी कोई पृथक सुगंध नहीं है। मैं इसका मुख्य कारण बाजारवाद को मानता हूँ। जिसने व्यक्ति को वस्तु में बदल डाला है। एक नियोजित षड्यंत्र के अंतर्गत उसने सारे वादों-विवादों विचारधाराओं और सारे जीवन मूल्यों को नष्ट कर डाला है। गांधी हों या भगतसिंह, इनके व्यक्तित्व की एक अलग पहचान इनके जीवन मूल्य, आदर्शों और विचारधारा से बनी थी। हमारा मध्यवर्ग, जिसकी प्रतिध्वनि साहित्य में हमेशा सुनाई देती है, के पास आज कोई जीवन मूल्य ही नहीं रह गया है। वह पूरी तरह बाजारवाद के चंगुल में फंस चुका है। उसका चेहरा किसी कंपनी के थोक में उत्पादित प्रोडक्ट जैसा होकर रह गया है। सवाल है क्या बाजारवाद के सामने साहित्य को साहित्य कहलाने का भी हक है।

वास्तव में अनंत विजय की इस पुस्तक में लेखक ही लेखक के सामने जवाब-तलब की मुद्रा में दिखते हैं, यही है जो 'मेरे पात्र' को पठनीय ही नहीं महत्वपूर्ण भी बनाती है।

मेरे पात्र/अनंत विजय /शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/ मूल्य : ₹ 200

बी-53, सचिवालय कालोनी, कंकडवाग, पटना-800020 मो. : 09472477941

आज के समय में गांधी

फ़ज़ल इमाम मल्लिक

अ

सगर वजाहत हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। उन्होंने उपन्यास भी लिखे और लघु-कथाएं भी। अपनी लघुकथाओं में भी असगर वजाहत ने कथा के तत्त्व को बनाए रखा था और कथा साहित्य को एक नए मुकाम पर ला खड़ा किया। सफ़रनामों के ज़रिए भी असगर वजाहत ने जीवन को नए तरीक़े से देखने-परखने की कोशिश की और पाठकों से सरोकार बनाया। इन सबसे इतर असगर वजाहत ने बतौर नाटककार भी अपनी एक अलग पहचान बनाई। कभी-कभी कोई एक रचना ही किसी रचनाकार को लोकप्रियता के शिखर पर ला खड़ा करती है, असगर वजाहत के साथ भी ऐसा ही कुछ है। यह सही है कि उनके उपन्यास, कहानियां और दूसरी रचनाओं ने एक बड़ा पाठक वर्ग बनाया लेकिन अपने नाटक 'जिस लाहौर नइ देख्या ओ जन्म्याइ नइ' ने उन्हें नई पहचान दी। हालांकि 'अकि' और 'सबसे सस्ता गोश्त' नाटकों से भी उन्होंने बतौर नाटककार एक शिनाख्त तो बनाई थी, लेकिन 'जिस लाहौर नइ देख्या ओ जन्म्याइ नइ' ने उनके उस नाटककार को और विस्तार दिया। सच यह भी है कि उनकी इस नाट्यकृति ने उनकी शोहरत को पाठकों तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि एक बड़ा दर्शक वर्ग भी बनाया। 'जिस लाहौर नइ देख्या ओ जन्म्याइ नइ' में उन्होंने मज़हब के तानेबाने को केंद्र में रखकर कथा को बुना था और बताया था कि कट्टरपंथ का कोई रंग, धर्म या मज़हब नहीं होता और दहशतगर्दी के लिए हिंदू या मुसलमान होना ज़रूरी है। असगर वजाहत ने बहुत ही सलीके से नाटक के ज़रिए प्रेम और एकता की बातें बताई थीं, इनमें भावुकता कम तर्क ज़्यादा

था। इसलिए उनकी बात लोगों तक पहुंची थी और कायदे से पहुंची थी। उनकी नई नाट्य कृति 'गोडसे@गांधी.कॉम' पढ़ते हुए भी 'जिस लाहौर नइ देख्या ओ जन्म्याइ नइ' का खुमार कुछ देर तक ज़रूर तारी रहता है। 'गोडसे@गांधी.कॉम' के केंद्र में गांधी और गांधीवाद है। नाटक में महात्मा गांधी के कई पहलुओं को सामने रखने की कोशिश की गई है। जाहिर है कि गांधी के जिन आदर्शों और मूल्यों को लेकर नाटक रचा गया है वह काम आसान नहीं है, क्योंकि गांधी का जीवन-दर्शन काफी फैला हुआ है। असगर वजाहत इसका इज़हार भूमिका में करते भी हैं। भूमिका में उन्होंने लिखा है कि—'विषय इतना फैला और जटिल लगा कि उसे नाटक में समेटना सरल न था'। वे यह भी साफ़ करते हैं कि वे गांधी के भक्त नहीं हैं, इसके बावजूद उन्होंने सलीके से कथा को बुना है। यों भी गांधी या इन जैसे दूसरे



महापुरुषों पर लिखना किसी जोखिम से कम नहीं है। थोड़ी-सी असावधानी या चूक पूरी रचना पर सवाल खड़े करने के लिए काफी है। असगर वजाहत ने इसका पूरा ध्यान रखते हुए नाटक रचा है। उन्होंने नाटक में गांधी जी से जुड़े जिन प्रसंगों को खासतौर से उठाया है उनमें ब्रह्मचर्य का पालन करना, आज़ादी मिलने के बाद पार्टी को भंग कर समाजसेवा करना और अपने हत्यारे नाथूराम गोडसे को लेकर उनका नज़रिया और सोच क्या थी, शामिल है। लेकिन नाटक में एक और कथा साथ-साथ चलती है जो गांधी के जीवन-दर्शन को भी हमारे सामने रखती है। यह कथा है आज़ादी के बाद देश की राजनीतिक और सामाजिक हालात। इन हालात का ज़िक्र करते हुए नाटककार गांधी की प्रासंगिकता को हमारे सामने और भी शिद्धत के साथ रखता है। गांधी सत्ता को अंतिम आदमी तक पहुंचाना चाहते थे और इसी वजह से वे सेवा का ज़िक्र करते थे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं और सत्ता सुख भोगने का ज़रिया बन गया है। नतीजा हमारे सामने है। नाटक में गांधी का एक संवाद हमारी पूरी व्यवस्था की अक्कासी करता है। गांधी कहते हैं—'सरकार हुकूमत करती है जवाहर, सेवा नहीं करती। सरकारें सत्ता की प्रतीक होती हैं और सत्ता सिर्फ अपनी सेवा करती है...'. इस एक संवाद से आज की राजनीति का जो चेहरा है वह सामने आता है और वहां राजनीतिक दल कठघरे में खड़े दिखाई देते हैं। आज का सच यही है कि सत्ता का इस्तेमाल अपने-अपने फ़ायदे के लिए किया जाता है। राजनीति के इस ग़लीज़ चेहरे से असगर वजाहत बहुत ही बारीकी से नक़ाब हटाते हैं और सच से हमें रू-ब-रू कराते हैं। नाटक में गांधीजी के सेवाकार्य की

चर्चा भी की गई है। अपने जीवन में गांधीजी चार आदिवासी जिलों में जाकर लोगों की सेवा करते हैं और उन बातों को सही साबित करते हैं, जिसका जिक्र वे करते रहते हैं। गांधीजी ने यह सब करने के लिए न तो सत्ता का सहारा लिया और न ही व्यवस्था का। इन सबके बीच ही जवाहर लाल नेहरू का पैगाम उन तक पहुंचता है। नेहरू ने संसद के चुनाव के लिए गांधीजी से सहयोग मांगा था। तब गांधीजी उनसे कहते हैं हम तो चुनाव का समर्थन कर ही नहीं सकते। फिर वे यह भी बताते हैं कि जिन चार जिलों में मैं काम कर रहा हूँ वहां तो चुनाव हो चुके हैं। यहां मैला आंचल का कट्टर गांधीवादी पात्र बावनदास का उल्लेख भी मिलता है। गांधी जी कहते हैं कि बावनदास यहां का प्रधानमंत्री है। यह देखना कम दिलचस्प नहीं है कि जिस वक्त गांधीजी बावनदास का उल्लेख करते हैं उस वक्त वह लकड़ी चीर रहा होता है। साथियों के साथ मिलकर कुआं खोदने में लगा है, क्योंकि अवाम को पानी की सख्त ज़रूरत है। यानी जनता के नुमाइंदे को जनता के बीच, जनता के साथ मिलकर काम करते हुए दिखाकर गांधीजी के स्वावलंबन के सिद्धांत को सामने रखा जाता है। दिलचस्प बात यह है कि यहां 'अवाम' और 'सेवा' के बीच किसी व्यवस्था को नहीं माना गया है और सीधे-सीधे राजनीति को आम लोगों के हितों के तौर पर देखने की बात कही गई है। इसे यों भी कह सकते हैं कि गांधीवाद को एक विकल्प के तौर पर सामने रखा गया है। यहां गांधी जी की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है क्योंकि आज 'उनकी बनाई पार्टी' ही उनके 'स्वरोजगार' को पीछे छोड़कर विदेशी निवेश को न्योत रही है। नाटक में जल, जंगल और ज़मीन पर सबके अधिकार की बात को बहुत ही सहज ढंग से उठाया गया है। गांधी जी कहते हैं कि 'हां.. जैसे जीभ अपनी होती है...उस पर किसी का अधिकार नहीं होता...वैसे ही जल, जंगल और ज़मीन पर सबका अधिकार होता है'। आज के माहौल में यह संवाद न सिर्फ प्रासंगिक है बल्कि पूरी व्यवस्था पर भी सवाल खड़ा करने वाला है क्योंकि आज जल, जंगल और ज़मीन पर सरकार और कॉर्पोरेट घरानों का एक तरह से अधिकार है। इन अर्थों में यह प्रसंग पूरी



व्यवस्था पर एक व्यंग्य भी है।

नाटककार ने एक फंतासी भी रची है। नाटक में यह कल्पना की जाती है कि गोडसे की गोली लगने के बाद भी गांधी जी मरते नहीं हैं बल्कि ज़िंदा रहते हैं। यहां तक कि दोनों को एक ही जेल में रखा जाता है। गांधी जी के जेल जाने का वाक्या भी आज की राजनीति को कठघरे में खड़ा करता है। देश की राजनीतिक व्यवस्था को देखते हुए कई बार हम अपने आपसे यह सवाल करते हैं कि गांधी जी अगर आज ज़िंदा होते तो क्या होता, असमर वजाहत ने एक तरह से इस सवाल का जवाब अपने इस नाटक में दिया है।

नाटक में हमारी उस राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है जो देशसेवा और समाजसेवा को सही नहीं मानती है और विकास के लिए एक वैकल्पिक व्यवस्था को देशद्रोह मानती है। हमारी राजनीतिक व्यवस्था गांधी जी के साथ भी ऐसा ही सलूक करती है। समाजसेवा के ज़रिए अपने 'प्रयोग आश्रम' में विकास को अपने तरीके से धरती पर उतार लाने की कोशिश करने वाले गांधी जी को सत्ता देशद्रोही मान लेती है और उन्हें जेल में डाल दिया जाता है। उसी जेल में गोडसे भी हैं और गांधीजी जिद करके उसी वार्ड में रहते हैं, जिसमें गोडसे हैं। वहां गोडसे और गांधी जी मिलते हैं और वहां दोनों अपने-अपने तर्कों से एक-दूसरे को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। हिंदू-मुस्लिम सवालों के बीच ही कई और मुद्दों पर दोनों अपने-अपने तर्क देते हैं। गांधी जी अपने तर्क से उसे बदलने की कोशिश करते हैं। अखंड भारत, हिंदू-मुसलमान जैसे सवाल बार-बार दोनों के बीच आते हैं। गोडसे गांधी जी को हिंदू विरोधी कहता है तो गांधी जी उसे बताते हैं कि अहमदाबाद, चंपारण या दक्षिण अफ्रीका के आंदोलन क्या सिर्फ मुसलमानों के लिए थे। गांधी जी गोडसे

के 'अखंड भारत' पर सवाल खड़ा करते हुए कहते हैं कि 'तुम्हारा अखंड भारत तो सम्राट अशोक के साम्राज्य के बराबर भी नहीं' इसी क्रम में गांधी जी के हर जोड़े को गीता भेंट करने की बात सामने आती है तो गोडसे उन्हें अपना जीवनदर्शन बताते हुए कहता है कि गीता उसका जीवनदर्शन है। गांधी जी जवाब में कहते हैं—'गीता मेरा भी जीवनदर्शन है...कितनी अजीब बात है गोडसे...गीता ने तुम्हें मेरी हत्या करने की प्रेरणा दी और मुझे तुम्हें क्षमा कर देने की प्रेरणा दी...'। ऐसे ही कई प्रसंग आते हैं जहां विचारों का टकराव तो होता है, लेकिन एक नई दुनिया भी खुलती दिखाई देती है।

इससे इतर नाटक में गांधीजी के ब्रह्मचर्य पर डटे रहने को तो दिखाया ही गया है, प्रेम प्रसंग को लेकर उनके नज़रिए को सामने रखा गया है। लेकिन इन सबके मूल में उस ब्रह्मचर्य को स्थापित करना ही है, जिसका पालन गांधी बहुत ही शिद्ध के साथ करते थे। हालांकि यह प्रसंग अगर नाटक में नहीं भी होता तो नाटक पर कोई फर्क नहीं पड़ता। नाटक के अंत में गोडसे को गांधी से प्रेरित दिखाने की कोशिश की गई है और यह प्रसंग अच्छा बन पड़ा है। दरअसल अपने विचारों से गांधी ने बहुतों को बदला है, गोडसे यहां प्रतीक है उस विचारधारा का जो राष्ट्रवाद की परिभाषा अपने तरीके से लिखता है। नाटक में प्यारेलाल, जवाहरलाल, मौलाना आज़ाद और सरदार पटेल सरीखे जाने-पहचाने पात्र भी हैं। नाटक में गांधी सत्य, अहिंसा, सत्ता, सेवा, जनबल जैसे शब्दों को नए तरीके से परिभाषित करते हैं। यों इसके नाट्य मंचन को लेकर खतरे भी हैं। ये खतरे भीतरी और बाहरी दोनों हैं, देखना यह है कि कौन रंग-निर्देशक इन खतरों के बीच इस नाटक का मंचन करना चाहेगा। यों भी नाटक तब तक अधूरा रहता है जब तक कि उसका मंचन नहीं होता है।

गोडसे@गांधी.कॉम/असमर वजाहत/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ` 100

संपादकीय विभाग, जनसत्ता, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा-201301, फोन : 09868018472

जीवन की जय

नंद चतुर्वेदी

आ

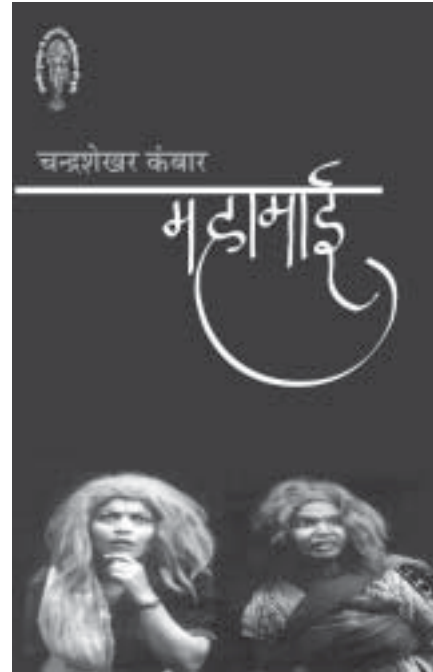
लोच्य नाटक 'महामाई' कन्नड़ भाषा के विख्यात लेखक चंद्रशेखर कंबार द्वारा लिखित है। पद्मश्री कंबार का जन्म सन् 1937 का है। उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं यथा कविता, उपन्यास, आलोचना में महत्त्वपूर्ण लेखन किया है। कंबार की लिखित पुस्तकों में सबसे ज्यादा संख्या 24 नाटकों की है, इसके अलावा 8 कविता संकलन, 14 आलोचना ग्रंथ, 6 गद्य कृतियां हैं, जो उन्हें कन्नड़ साहित्य में अतुलनीय साहित्यकार का स्थान देती हैं। उनकी उल्लेखनीय विशेषताओं के बारे में यह कहा गया है कि वे अपनी पुस्तकों में प्राचीन मिथकों, संदर्भों को नई और आज की रोशनी में पुनर्सृजित करते हैं।

'महामाई' नाटक का हिंदी अनुवाद अंग्रेजी अनुवाद के जरिए हुआ है। कन्नड़ से अंग्रेजी में अनुवाद लक्ष्मीचंद्र शेखर ने किया है और अंग्रेजी से हिंदी में सांत्वना निगम ने। सुश्री निगम बांग्लाभाषी हैं। वे 25 वर्षों से अमरीकन विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ा रही हैं।

मैं सखेद यह स्वीकार करता हूँ कि 'महामाई' नाटक पढ़ने के पहले मैंने दक्षिण की भाषाओं में से किसी एक भी भाषा का साहित्य तल्लीनतापूर्वक नहीं पढ़ा है। दरअसल हमें (हिंदीवालों को) उधर के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन की समृद्धि और सम्पन्नता का भरपूर अंदाजा नहीं है। विडंबना यह भी है कि हम उनके देवी-देवता या मिथकों या कि परंपरा, इतिहास, मंदिरों के अप्रतिम रचना-शिल्प अथवा ज्ञान-विज्ञान की पूंजी के बारे में अल्पज्ञ हैं। हम केवल अपने इतने से ज्ञान पर घमंड करते हैं कि हमारे तपस्वी राम ने उधर के दंभी रावण पर विजय पाकर असत्य के सिंहासन पर सत्य को बैठा दिया था। इस मिथक को

हम प्रतिवर्ष दशहरा से दिवाली तक अद्भुत उत्सव-धर्मिता के साथ जीवित रखते हैं। यही दंभ एक रुग्ण मनोग्रथि के रूप में हमारे मनोभावों को जकड़े रहता है। इस सीमा तक कि ज्ञान और विवेक की खिड़कियां भी नहीं खुलतीं। इस मिथक का यह दुष्प्रभाव है कि दक्षिण के लोग राम को आक्रांता मानते हैं।

बहरहाल, इस मनःस्थिति के चलते 'महामाई' नाटक का पढ़ना एक दुर्लभ और उपयोगी अनुभव है। नाटक का केंद्रीय भाव चिरंतन आशावाद है, जहां जीवन की मृत्यु पर विजय होती है। हमारी मानवीय सृष्टि की सबसे बड़ी और दुर्दांत खींचतान दरअसल जीवन और मृत्यु के बीच ही है और यही भाव विश्व की अनेक लोककथाओं में कई तरह से व्यक्त हुआ है। कन्नड़ साहित्य की लोक कथाओं में भी महामाई शेट्टी की वर्णन भाग्य की देवी के रूप में मिलता है। किंतु नाट्यकार



श्री चंद्रशेखर ने उन्हें 'महामाई' नाटक में मृत्यु की देवी की तरह प्रस्तुत किया है। संजीव शिव उनका दत्तक पुत्र है। उसे मां के आशीर्वाद से कुशल चिकित्सक होने का वरदान मिला है, जिसके कारण वह जिस रोगी को हाथ लगाएगा, वह बच जाएगा। लेकिन वह सिर्फ उन्हें ही बचा पाता है, जिन्हें मां 'शेट्टी' चाहती है। शेट्टी किसे स्वस्थ देखना और जीवित रखना चाहती है, इसके संकेत वैद्य संजीव शिव को पहले ही मिल जाते हैं। यदि वे रोगी के दाहिनी ओर आकर खड़ी होती हैं तो इसका अर्थ रोगी के उपचार की अनुमति है और यदि वे बायीं ओर खड़ी हों तो संजीव शिव उसके उपचार का साहस नहीं जुटा पाता। यही वैद्य संजीव शिव की निराशा और सीमा है। तथ्य यह है कि मां शेट्टी बेटे संजीव को शक्ति तो देती है, लेकिन आधी-अधूरी। शक्ति के निर्बाध संचालन और प्रयोग का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखती हैं। संजीव को मिली स्वतंत्रता वास्तव में छलावा है।

अंग्रेजी के शब्द काम में लें तो मां शेट्टी ही 'डी फेक्टो सोवर्निटी' है। शक्ति के 'मूलभूत अधिकार' का सवाल ही दरअसल 'महामाई' नाटक का जटिल अंतर्द्वंद्व है। प्रकारांतर से यही रूपक विश्व की महाशक्तियों के व्यवहार को व्याख्यायित करता है। कहने को लोकतंत्र और स्वाधीनता सारी दुनिया को मिली लगती है, लेकिन तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की तथा विश्वभर के वंचित, हाशिए पर धकेले लोगों की निराशा और पराधीनता भी छिपी नहीं है। नाटक को इस तरह प्रासंगिकता प्रदान करना चंद्रशेखर कंबार का महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप और अवदान है। साथ ही यह पक्ष भी उल्लेखनीय है जिसे नाटक में

‘मृत्यु दर्शन’ की तरह वर्णित किया गया है और जो जीवन के अर्थ को गंभीरतापूर्वक समझाने में सहायक होता है।

नाटक के तीन प्रमुख पात्र हैं : मृत्यु की देवी शेटिवी, उनका दत्तक पुत्र वैद्य संजीव शिव और राजकुमारी इरुवतिगे। नाटक के दृश्य अलग-अलग नामों से हैं।

नाटक ‘माता का आगमन’ दृश्य से शुरू होता है। यह संजीव शिव का औषधालय है। यहां राजविदूषक मदन तिलक छाती पर हाथ धरे कराह रहा है। दूसरे कोने में चिंता से घबराई हुई स्त्री अपने बेटे को गोद में लिए बैठी है। कमरे के बीचों-बीच कब्र खोदने वाला मारा पेट दबाए बैठा है। वैद्य संजीव शिव जब मारा की नब्ज देखता है तो मां शेटिवी उसके दाहिने ओर आकर खड़ी हो जाती है, जिसका अर्थ है उपचार की स्वीकृति। लेकिन ज्यों ही वैद्य संजीव मां शेटिवी को बच्चे के पास ले जाता है, वे उसके बायीं ओर खड़ी हो जाती हैं। इसका अर्थ है कि बच्चे की मृत्यु। संजीव स्त्री को निराश कर देता है और स्वयं भी तुच्छता का अनुभव करता है। उसे जीवन अथवा मृत्यु प्रदान करने की शक्ति माता में अंतर्निहित मालूम होने लगती है और इसी के साथ ही अपने उपचार, औषधि का व्यर्थताबोध तीव्रतर होता जाता है। आत्म-पराजय की इस स्थिति को अस्वीकार करने की मनःस्थिति में वैद्य संजीव शिव की भेंट राजकुमारी से हो जाती है, जो अपने असाध्य रोग से उकता कर मृत्यु की गुफा तक आ गई है।

संजीव शिव उसे इस गुफा में न जाने का आग्रह करता है, जिसे राजकुमारी पूरे हठ के साथ अस्वीकार कर देती है। लेकिन जब उसे संजीव शिव का वैद्य रूप नजर आता है तो वह ज़िद करती है कि वह उसे जल्दी-से-जल्दी कोई ऐसी औषधि दे दें कि उसकी तुरंत मृत्यु हो जाए। तभी संजीव ज्यों ही उसके गले में जीवन रक्षक बेल बांधने को होता है कि माई उसके बायीं ओर आकर खड़ी हो जाती है, जिसका अर्थ उपचार का निषेध है। मां का स्पष्ट संकेत पाकर भी वैद्य संजीव शिव राजकुमारी के गले में बेल बांध देता है। तब मृत्यु की देवी शेटिवी यह कहकर अंतर्धान हो जाती है “संजीव शिव तुम्हारी मां गुस्से से उबल रही है। वह चाहती है कि तुम तुरंत घर



आ जाओ।” इसी क्रम में वह भविष्यवाणी करती रहती है “बेटे, मैं तुम्हें कैसे समझाऊं? तुम्हें इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी।” नाटक ‘महामाई’ का ‘अंतर्द्वंद्व’ यहीं से प्रारंभ होता है। मृत्यु की देवी मां शेटिवी को लगता है कि वैद्य पुत्र संजीव ने उनके बायीं ओर खड़े होने पर भी राजकुमारी का उपचार प्रारंभ कर उनकी अवज्ञा की है और इधर युवा संजीव शिव को अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना उचित और आवश्यक प्रतीत होता है।

ध्यान देने की बात है कि नाटक के विस्तार में जिस तरह चंद्रशेखर जिन अनुभूतियों, संवेगों और संवेदनाओं को विन्यस्त करते हैं, वह उनकी प्रतिभा और रचना कौशल को उल्लेखनीय बनाता है। दरअसल यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती कि नाटक ‘मृत्यु’ जैसे अमूर्त और गंभीर प्रसंग पर केंद्रित है, जिसकी न रहस्यमयता क्षरित होने देनी है और न प्रासंगिकता। साथ ही दर्शकों के लिए जिसे रोचक और अर्थवान भी बनाए रखना है। निःसंदेह लेखक इस गूढ़ विषय के चिंतन पक्ष को उद्घेलित किए रहने में और वह दृश्य-सामग्री जो दर्शक को बांधे रहे, देने में कामयाब होते हैं।

नाटक के अधिकांश पात्र और मंच-दृश्य मृत्यु की सामान्य लोक धारणा के अनुकूल रहस्यात्मक हैं। मृत्यु का प्रतीक एक विकराल पक्षी है। मृत्यु का आवास अंधेरी विशाल गुफा है, कब्रें खोदने वाला मारा है, डाकिनें हैं, विक्षुब्ध वातावरण है, सजे-धजे कंकाल हैं और

अंत में मृत्यु-रूप और उसकी शाश्वतता की विशद दार्शनिक व्याख्या है। पूरे नाटक में जो रहस्य, ‘मृत्यु-यथार्थ’ विवेचित होता है वह अंतिम दृश्य में प्रभावशालीता, किंतु लंबे वक्तव्य के रूप में, व्यक्त होता है। मृत्यु का यह दर्शन भारत की दार्शनिक प्रतिभा की काव्यात्मक और मोहक अभिव्यक्ति है, जिसे सुनकर अभिभूत वैद्य शिव कहता है “मुझे मृत्यु से उतना भय नहीं, जितना मृत्युविहीन जीवन से। मैं तुम्हारा नश्वर बेटा ही बना रहना चाहता हूँ मां! जिसे एक-न-एक दिन इस लोक से विदा होना है।” (पृ. 87)

संजीव के इन शब्दों से मां शेटिवी प्रसन्न होकर विवाह के उपहारस्वरूप उसकी आयु की अवधि दुगुनी कर देती है।

जीवन के आशीर्वाद में मिली इस दुगुनी आयु के बारे में संजीव पूछते हैं ‘मुझे एक बात बताओ, क्या जीवन के इन वर्षों को मैं अपनी इच्छा के अनुसार इस्तेमाल कर सकता हूँ?’ ‘हां, कर सकते हो’।

इस स्वतंत्रता के पाते ही ‘संजीव अपना जीवन दीप उठाता है और आधा तेल राजकुमारी के जीवन दीप में डाल देता है।’

यह याद किया जा सकता है कि भारतीय नाट्य परंपरा में नाटक का ‘सुखांत’ ही अपेक्षित है। द्रष्टव्य है कि नाटक में जिस तरह आधुनिक महाशक्तियों के व्यापक दबाव से मुक्त होने का संघर्ष है, उसी तरह मृत्यु का यथार्थ भी है। मृत्यु का दर्शन ही जीवन की गहन अर्थवत्ता को समझाता है और विवेक की छवियों का विस्तार करता है। लेखक ने दोनों लक्ष्यों को साधा है।

यह भी महत्वपूर्ण है कि संजीव शिव की जीवन के प्रति अदम्य आस्था, प्रेम, करुणा ही मां शेटिवी (मृत्यु की देवी) को प्रसन्न करती है और राजकुमारी अपनी निर्धारित जीवन आयु की अवधि का उल्लंघन कर जाती है। ‘जीवन की जय’ हो जाती है।

महामाई/ चंद्रशेखर कंबार/ अनु. सांत्वना निगम, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 120

30, अहिंसापुरी, उदयपुर-313001 (राजस्थान)
टेली : 0294-2450332

विस्मृत इतिहास का पुनर्पाठ

निरंजन देव शर्मा

य

दि आपको पता चले कि आपके पुरखे किसी दूर-दराज़ के देश में व्यापार के सिलसिले में जाते थे और वहां उनकी तूती बोलती थी तो भारतीय अस्मिता

के उस स्वर्णिम कालखंड से मोह क्यों कर न होगा। व्यापारिक दृष्टि से हिंदुस्तानी इतने सक्षम और संपन्न थे कि अस्त्राखान के शासन ने उनकी गतिविधियों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए वहां एक सराय का भी निर्माण किया—हिंदी सराय। भौगोलिक और भाषागत फ़ासलों को पाटता एक सूत्र पुरुषोत्तम अग्रवाल को इस यात्रा के लिए आमंत्रित करता है, जिसे आप शुरुआत में अतिरिक्त आग्रह भी कह सकते हैं। लेकिन जब पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसे विचारक इस यात्रा पर जाते हैं तो वह यात्रा वृतांत एक खोजपरक संस्मरण के साथ ही साहित्यिक और वैचारिक यात्रा के रूप में आकार ग्रहण करता है जो धीरे-धीरे उनकी इतिहास दृष्टि का भी परिचायक बनता है।

“2009 में ‘अकथ कहानी प्रेम की’ लिखने के दौरान पढ़ा जैकगुडी की किताब ‘दी ईस्ट एंड दि वेस्ट’ में, फिर आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के ‘इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन डायस्पोरा’ में कि रूस के अस्त्राखान शहर में भारतीय व्यापारियों की अच्छी-खासी बस्ती थी, जार के दरबार में प्रभाव था। बस, उसी समय तय कर लिया था कि अस्त्राखान जाना ज़रूर है जल्दी से जल्दी।...”

यह एक ऐसा सूत्र था जो लेखक को आमंत्रित कर रहा था भारतीय व्यापार से जुड़े एक ऐतिहासिक और अलक्षित अध्याय को पुनर्चना हेतु खोजपूर्ण यात्रा के लिए।

यदि किसी देश की आत्मा किसी कवि में बसती हो तो ऐसे देश की यात्रा करके कोई भी लेखन अपने को सौभाग्यशाली क्यों कर न समझे। कवि चारेन्स के शहर आरमीनिया का ज़िक्र करते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल एक

कवि के संघर्ष और मानवता की रक्षा हेतु जीवन की यातनापूर्ण आहुति को लेखकीय श्रद्धा से याद करते हैं। पूंजीवाद की विकरालता और अमानुषिकता को ‘अश्लीलता’ शब्द से परिभाषित करते हुए वह बाज़ार से एक बुद्धिजीवी रचनाकार की लड़ाई को निरंतर संघर्ष के रूप में देखते हैं। आखिरकार एक बुद्धिजीवी विचारक ही बाज़ार की रंगीनियों के उस पार के अंधेरे की पहचान कर पाता है और उसके विरुद्ध आवाज़ उठाकर समाज को जगाने का जोखिम भरा काम भी करता है। इतिहास के पन्नों में दर्ज ऐसे सचेत रचनाकारों को नेस्तनाबूद कर देने और पूरी की पूरी जातियों के नरसंहार की नृशंस घटनाओं के हवाले से अग्रवाल जी बताते हैं कि आरमीनिया में 1920 के दौर में तुर्की के आटोमान साम्राज्य द्वारा किए गए नरसंहार को तुर्की आज भी आधिकारिक रूप से स्वीकार नहीं कर रहा। इतिहास के अनुभव बताते हैं कि काल के पन्नों में दर्ज अमानवीयता का यह बोध आने वाली पीढ़ियों की स्मृति में किसी-न-किसी रूप में दर्ज होता रहता है और मानवता के पक्ष में ऐसे हमलों के विरोध के



लिए एक बड़ा जन समुदाय सचेत रहता है।

सितंबर का महीना है। यूं तो पुरुषोत्तम अग्रवाल अपनी विभागीय यात्रा के तहत आरमीनिया कि राजधानी येरेवान पहुंचते हैं पर संकल्प मन में कुछ और ही है। यहां उपलब्ध गाड़ी के ड्राइवर आरमेन का न केवल अंग्रेजी भाषा से बल्कि यहां के इतिहास-भूगोल से परिचित होना लेखक की जिज्ञासाओं के अनुकूल बैठता है। उपलब्ध समय में देखे जा सकने वाले स्थानों के चुनाव और इतिहास में दर्ज परिवर्तनों के राज़ जानने की दृष्टि से भी।

राजसत्ता और धार्मिक आस्था का रिश्ता बहुत गहरा है। आक्रमणकारी राजसत्ताएं अपनी जड़ें जमाने के लिए चली आ रही धार्मिक परंपराओं और धार्मिक विश्वासों को नष्ट करना और अपनी आस्थाओं को आरोपित करना, लंबे समय तक अपनी जड़ें जमाने के लिए ज़रूरी समझती हैं। बहुदेववादी आरमीनियाई समाज में एकेश्वरवादी अवधारणा का आरोपण जिन स्थितियों में करने के प्रयास हुए उसे लेखक जर्नुस्त्रीवाद पर अध्ययनपरक जानकारी देने के बाद ईसाइयत का प्रभाव मानते हैं और पुरुषवादी सत्ता के वर्चस्व की स्थापना का प्रयास भी।

“...तरदात (तृतीय) ने 301 इस्वी में ईसाइयत को शासकीय धर्म घोषित कर दिया, और देवी मां संदारामेत के भव्य मंदिर को ध्वस्त करके एज्मिआजानचर्च का निर्माण किया। एकेश्वरवादी मजहबों की मिज़ाज शुरु से ही पितृसत्तात्मक रहा है, ये बहुदेववाद के ही नहीं, देवी पूजा, मातृ शक्ति पूजा के भी सख्त खिलाफ रहे हैं...”

सत्ता और समाज, और कभी-कभी केवल सत्तामुक्ति की आकांक्षा और चाह में पुराने प्रतीकों को ध्वस्त करके उन नए प्रतीकों का निर्माण करती है जिनसे उसकी अस्मिता की पहचान होती है। पुरुषोत्तम अग्रवाल विकट्री पार्क की यात्रा के दौरान यह तथ्य रेखांकित

करते हैं। सोवियत रूस के प्रभाव से मुक्त होने के बाद जहां स्टालिन की प्रतिमा थी उसका स्थान अब मां आर्मिनिया की प्रतिमा ले चुकी है और लेनिन चौक अब रिपब्लिक चौक हो चुका है।

आरमीनिया के इतिहास और समाज के निर्माण के समझने की दृष्टि तय करते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल ऐतिहासिक संघर्षों से जन चेतना के निर्माण में दो परतों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं—

“बहुदेववादी समाज के एकेश्वरवादी समाज में बदलने की परत, और समाजवाद के नाम पर कायम की गई तानाशाही और रूसी वर्चस्व से बाहर आने की परत।”

इस अध्याय में ईसायत और बहुदेववाद की चर्चा के मध्य गारनी के सूर्य मंदिर सहित स्थापत्य और कला की गवाह अनेक ऐतिहासिक इमारतों से गुजरते हुए लेखक को यह सवाल परेशान करता है कि दुनिया के इतिहास में इन भव्य इमारतों के निर्माण करने वालों को ही हम जानते हैं, उस निर्माण से जुड़े रहे कामगारों की यातना और शोषण के बारे में तथ्य नहीं के बराबर उपलब्ध हैं।

अपने अध्ययन और यात्रा के दौरान पुरुषोत्तम अग्रवाल का विचारक और आलोचक मुखर हो जाता है। एक जरूरी सवाल उठाते हुए वह कहते हैं कि यदि हिंदुओं में समुद्र पार करने की धारणा बलवती थी तो फिर—“वे उस समय की ‘सभ्य दुनिया’ के कोने-कोने में, पूरब से पश्चिम तक—वियतनाम, कम्बूचिया से लेकर रूस और इथोपिया तक पहुंच कैसे जाते थे?”

जिस मारवाड़ी समुदाय में समुद्र पार न करने जैसी रूढ़िवादिता सबसे अधिक समझी गई, कैसे उसी समाज के लोग व्यापार के सिलसिले में समुद्र पार फैले हुए थे, यह सवाल भी किताब उठाती है और इस विषय पर नए सिरे से विचार करने का सूत्र इतिहासविदों और विचारकों के समक्ष रखती है। वह भारत में सदियों से चली आ रही उस सामाजिक जड़ता पर भी प्रश्न उठाते हैं जिसमें अंतरराष्ट्रीय व्यापार के चलते बड़ी आवाजाही के बावजूद आज भी वर्ण व्यवस्था और जाति-प्रथा की जड़ें उतनी ही गहरी हैं, जितनी सदियों पहले थीं।

स्टीफन फ्रेडरिकडेल की पुस्तक ‘इंडियन मर्चेन्ट्स एंड यूरोपियन ट्रेड’ के माध्यम से पुरुषोत्तम अग्रवाल को सुरेंद्र गोपाल के बारे में जानकारी मिलती है और वह न केवल मारवाड़ी व्यापारी

बारायोव के बारे में जान पाते हैं बल्कि सुरेंद्र गोपाल का अता-पता खोजकर उनसे मुलाकात भी कर पाते हैं। यहां अरूप बनर्जी की भी एक पुस्तक का जिक्र है। इस यात्रा में हम देख पाते हैं कि यह किताब शुरुआत में रास्ते में आ गए पड़ाव पर रुकने का आभास देने वाली चंद दिनों की यात्रा नहीं है बल्कि गहरे अध्ययन से उपजे चिंतन पर आधारित यात्रा है, जो पुनः हिंदी सराय के इतिहास को खंगालने की प्रतिबद्धता के साथ समाप्त होती है।

अग्रवाल जी की फेसबुक पर सक्रियता के कुछ रोचक संदर्भ इस पुस्तक में भी जुड़े हैं, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के लोगों के दुनिया के हर हिस्से में मिल जाने की चर्चा की चर्चा में फेसबुक पर लेखक का ध्यान इस मूल सवाल की ओर जाता है कि क्यों कर सफलता की राह पर संघर्षरत पीढ़ी निराशा में अपने संघर्ष की तुलना सफलता प्राप्त कर चुके लोगों से करते हुए स्वयं को बेचारगी का भाव लिए हाशिए पर खड़ा पाती है, ऐसे में हम जनसंख्या के उस हिस्से को क्यों भूल जाते हैं जो सचमुच हाशिए पर खड़ी है।

अस्त्राखान के बारे में पहले-पहल प्राप्त जानकारी के स्रोत ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ का हवाला देते हुए लिखते हैं—

“जार मिखालइफेद्रोविच (1613-1645) के शासन-काल में भारतीय व्यापारी वोल्गा किनारे बसे हुए थे। अस्त्राखान की सराय, वहां के गवर्नर के आदेश पर, 1625 ईस्वी में बनाई गई थी। 1695 में रूस का व्यापारिक प्रतिनिधि सिमियनमेलेंकी औरंगजेब के दरबार में हाजिर हुआ था। 1722 में जार पीटर ने अस्त्राखान की यात्रा की और भारतीय व्यापारियों की समस्याएं सुनीं...”

यही वह सूत्र है जो ‘अकथ कहानी प्रेम की’ लिखने के दौरान किए गए शोध के मध्य पुरुषोत्तम अग्रवाल को हिंदी सराय की खोज से जोड़ता है। अस्त्राखान की यात्रा में भाषा और स्थानीयता जैसी समस्या तो अनिल जनविजय जैसे मित्र के साथ के चलते कोई समस्या ही नहीं रहती, समस्या जो लेखक को खलती है वह है समय की कमी की। बावजूद इस समय के जितना कुछ विवरण इस पुस्तक में आ चुका है वह खासा महत्त्वपूर्ण है और अगली यात्रा की संभावनाओं से भरपूर भी। अस्त्राखान में पहले दिन की खोज में तो लेखक के हाथ निराशा ही लगती है। समय की गति और शासन के चक्रव्यूह में उलझ कर

हिंदुस्तानी समुदाय की पहचान के अवशेष तक उन्हें नहीं मिल पाते, सिवाय उस इमारत के जिस पर लगी पट्टिका ही उस स्थान के कभी हिंदी सराय होने की गवाही देती है। यहां भी वह सराय शब्द के प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ की पहचान करते हैं—“चंगेज़ खां के पोते बातू के नाम पर सराय बातूरनाम दिया गया राजधानी को, सत्ता केंद्र को, यानी बातू का महल।” यानी अस्त्राखान की हिंदी सराय व्यापारियों के रास्ते में रात भर विश्राम करने का ठिकाना मात्र नहीं थी बल्कि हिंदी व्यापारियों की सम्पन्नता का प्रतीक थी।

इरादे अगर अटल हों तो समय की कमी भी आपको लक्ष्य तक पहुंचने से रोक नहीं सकती। हिंदी सराय की जड़ों तक पहुंचने की जो छटपटाहट लेखक में नज़र आती है वह उसे हिंदी सराय के रहस्य तक पहुंचा ही देती है। यह अस्त्राखान में उनका दूसरा दिन है। सिटीम्पूज़ियम में भी कोई सूत्र हाथ नहीं लग सका है। अब आप जा पहुंचते हैं सिटी लाइब्रेरी और यहां आपके हाथ लगता है कारू का खजाना। यहां जो दस्तावेजी विवरण पुरुषोत्तम अग्रवाल ने प्रस्तुत किए हैं और करनेव द्वारा चित्रित हिंदुओं द्वारा पूजा-अर्चना के चित्र भी, वह पाठक को एक अलग कल्पना लोक में ले जाते हैं। यह लोक अस्त्राखान में हिंदू व्यापारियों के वर्चस्व और फिर उनके पतन की तथ्यों पर आधारित कहानी से जुड़ा है। इस वृत्तांत को पुरुषोत्तम अग्रवाल शोध वृत्त या यात्रा वृत्त मानने की छूट पाठक को देते हैं। बहुत सारे शोधपरक ब्यौरे पाठक को उकता भी सकते थे पर भाषागत प्रयोग, पाठ को रोचक बनाए रखने की कला और बीच में विचारक के मुखर होने से वृत्तांत की एकरस होने से बच जाता है। आप उस विचित्र लोक में जा पहुंचते हैं, जहां सदियों पहले हजारों मील दूर पूरी की पूरी हिंदू सभ्यता अपने रीति-रिवाजों के साथ व्यापारिक वर्चस्व के बलबूते मौजूद थी, लेकिन जो हमलावर नहीं थी और न ही औपनिवेशिक ताकत, इसीलिए उसे समय बदल जाने पर पतन के दिन भी देखने ही थे।

यहां उपलब्ध जानकारी के आधार पर लेखक बताते हैं कि अस्त्राखान के सबसे धनी व्यापारी तो थे फतेचंद लेकिन इसमें सबसे रोचक वृत्तांत है मारवाड़ी व्यापारी बारायेवका—“...बीस साल के छोटे से अरसे में ही मारवाड़ी बारायेव ने जो उतार-चढ़ाव देखे, उनसे लगता है जैसे कि वह जीवन नहीं, कोई उपन्यास जी रहा था।” कुछ लोगों के जीवन का फलक

विस्मय और भाव प्रवणता से उपजी हुई कला चर्चा

प्रयाग शुक्ल

सचमुच किसी उपन्यास से कम नहीं होता। और उस जीवन को प्रस्तुत करने वाले लेखन की शैली भी किसी कथाकार की सी हो तो यह स्थापना और भी पुख्ता हो जाती है। बारायेव की सत्ता में पैठ और फिर ओरेनबर्ग के संस्थापक से व्यापारिक समझौते की पहल अस्त्राखान के गवर्नर को नागवार गुजरी और बारायेव जैसे व्यक्ति को बंदी बना लिया गया। यात्रा की इस उपलब्धि से लेखक की सारी उद्गमिता, संशय और उत्तेजना एक गहरे ठहराव में बदल जाती है—“अनिल इधर-उधर टहल रहे थे, मैं एक बैंच पर बैठा था, चुपचाप। कोई यादें नहीं, कोई बातें नहीं...इक्का-दुक्का कोई बात मन में आए भी तो बिना कोई छाप छोड़े फिसल जाए। कोई थकान नहीं, उत्तेजना भी नहीं।”

इस किताब को लिखते हुए कई और किताबों के सूत्र भी पुरुषोत्तम अग्रवाल पाठकों को देते चलते हैं। गेगहार्द मठ घूमते हुए अंबातोइको के उपन्यास ‘नेम ऑफ दी रोज’ तथा ‘बदोलिनो’, जैकगुडी की किताब, ‘द ईस्ट इन द वेस्ट’ अमिताभ घोष की ‘रिवर ऑफ स्मोक’, अनुपम मिश्र की ‘आज भी खरे हैं तालाब’, ‘मुराकामी की ‘वन क्यूपेटफॉर’ और भी न जाने कितनी किताबें। इस प्रक्रिया में एक और सवाल उन्हें परेशान करता है कि भारतीय व्यापारी धार्मिक महत्त्व की पांडुलिपियां तैयार करते थे पर अपनी यात्राओं के अनुभव और ब्यौरे क्यों नहीं लिखते थे। इस संशय में यह उम्मीद भी शामिल है कि जिन भारतीय पांडुलिपियों को वह अगली यात्रा में देख पाएंगे, कौन जाने उसमें कोई महत्त्वपूर्ण सूत्र हाथ लग जाए। फिलहाल हिंदी सराय और बारायेव के बारे में जो भी प्राथमिक जानकारी है वह गैर भारतीय दस्तावेजों के माध्यम से ही प्राप्त होती है।

यह रोमांचक और बौद्धिक यात्रा समाप्त होती है, मानवीय संवेदनाओं से भरपूर हवाई यात्रा के अंतिम पन्नों के साथ। सबसे बड़ी बात यह कि पाठकों और शोधकर्ताओं को यह किताब केवल सूत्र सूचनाएँ ही प्रदान नहीं करती बल्कि जड़वादी सोच के विपरीत नई शोधपरक दृष्टि से भी लैस करती है।

हिंदी सराय : अस्त्राखान वाया येरेवान/पुरुषोत्तम अग्रवाल/ राजकमल प्रकाशन, 1-वी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ` 395

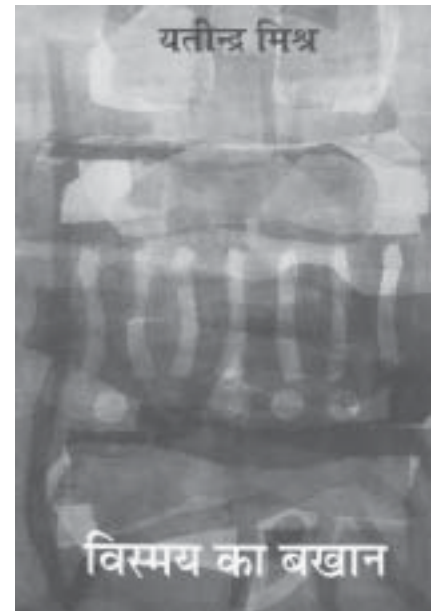
भारत भारती स्कूल, ढालपुर, कुल्लू-175101,
(हि.प्र.), मो. 981636900

यु

वा कवि-लेखक यतींद्र मिश्र उन रचनाकारों में से हैं, जिन्होंने पिछले दस-पंद्रह वर्षों में संगीत-नृत्य दुनिया में सहज भाव से साझेदारी की है, और इस साझेदारी का लाभ हिंदी को मिला है : यह साझेदारी प्रीति और परख की भी रही है। गायिका गिरिजा देवी पर, नृत्यांगना सोनल मानसिंह पर, और उस्ताद बिस्मिल्ला खां पर, क्रमशः गिरिजा, देवप्रिया, सुर की बारदारी शीर्षकों से उनकी पुस्तकें आ चुकी हैं। इन पुस्तकों के अलावा समय-समय पर संगीत-नृत्य के विविध पक्षों पर उनके लेख और टिप्पणियां पत्र-पत्रिकाओं में दिखाई पड़ते रहे हैं। इन्हीं का एक संकलन ‘विस्मय का बखान’ पुस्तक है। कोई डेढ़ बरस पहले उन्होंने ‘तहलका’ पत्रिका का एक विशेषांक भी संयोजित किया था : लता मंगेशकर पर केंद्रित। लता जी के अस्सी वर्ष पूरे करने पर इस विशांका के लिए उन्होंने लता जी का एक इंटरव्यू भी किया था : सरस, सारवान, संगीत सजग। उनका यह कामकाज यह बताता है कि कितनी लगन, प्रीति, सरसता और सहृदयता से वह कलाओं की दुनिया में पैठते रहे हैं। अयोध्या में समय-समय पर उन्होंने संगीत-नृत्य के आयोजन भी किए हैं।

संगीत-नृत्य के कई कलाकारों से उनका आत्मीय वार्तालाप, विचार-विनिमय भी होता ही रहा है, नतीजा यह कि उनका लेखन—इन विषयों पर—कई अर्थों में प्रामाणिक, संवेदनशील, जीवंत और आत्मीय भी है। वह कोरे सैद्धांतिक प्रश्नों से हटकर नए विमर्श बनाने वाला भी है। कुल मिलाकर यह कि उनका संगीत-नृत्य विषयक लेखन

एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। अगर वरिष्ठ पीढ़ी में से मुकुंद लाठ, कुंवर नारायण और अशोक वाजपेयी जैसे रचनाकारों ने संगीत-नृत्य और अन्य कला रूपों पर विचार किया और लिखा है, और इस तरह हिंदी को समृद्ध किया है, तो यह देखना जानना सुखकर है कि बाद की पीढ़ियों में से मंगलेश डबराल, यतींद्र मिश्र, उदयन वाजपेयी, शंपा शाह, संगीता गुदेचा आदि ने विभिन्न कला रूपों पर अपनी सरस और पैनी नज़र बनाए रखी है, और कई महत्त्वपूर्ण चीजें हिंदी को दी हैं। कुछ अफसोस इस बात का ज़रूर होता है कि अधिकतर हिंदी रचनाकारों-आलोचकों की ‘साहित्य केंद्रित’ दुनिया में कला-विषयक लेखों-टिप्पणियों-पुस्तकों का वैसा ‘स्वागत’ नहीं होता, जैसा होने पर स्वयं ‘साहित्य की दुनिया’ कुछ अधिक सरस-सुंदर और अर्थपूर्ण हो सकती है। कला विषयक लेखन कभी तो ‘मुख्य धारा’ से कुछ दूर



बना रहता है। कभी-कभी तो 'ओझल' भी।

यतींद्र मिश्र की नई पुस्तक 'विस्मय का बखान' में कई फुटकर लेख संकलित हैं। ये साहित्य, नृत्य, संगीत, ललित कला, नाटक, फ़िल्म आदि को एक-दूसरे से कहीं जोड़ने वाले भी हैं। प्रायः इन सभी माध्यमों की कृतियां (और कृतिकार) इनमें किसी न किसी रूप में उपस्थित होते हैं। 'विस्मय का बखान' की भूमिका में उन्होंने लिखा है : "किसी कला निर्मिति पर लिखते या विचार करते हुए हमेशा एक लेखक संशय के उन परदों के पीछे से उस अव्यक्त और उदात्त को खोजने का ही जतन करना हुआ नज़र आता है, जिसे पाने या छू भर लेने के बाद वह विस्मय के परिसर में विस्तृत होता चला जाता है। एक हद तक हमारी समस्त कलाएं और प्रदर्शनकारी निर्मितियों का समाज उसी शाश्वत को कुछ अचरज और विस्मय के साथ खोजने में व्यतीत हुई जाती हैं। इसी को पाने या पकड़ लेने की एक विनम्र कोशिश ही कलाओं के अपरिमित अमूर्तन वाले संसार में कदम रखने का उत्साह भी मुहैया कराती है। इस लिहाज़ से कला रूपों में मिलने वाले विस्मय जैसे प्रचलित संचारी भाव को व्याख्यायित करना शायद कला-विमर्श की एक नियति, और चुनौती दोनों है।"

भूमिका में प्रस्तुत इस उल्लेखनीय विचार के अतिरिक्त इसमें यतींद्र मिश्र की डायरी से कुछ टिप्पणियां भी हैं, जो बताती हैं कि कलाकारों और उनकी प्रस्तुतियों के साथ ही उनके मन में, कलाओं को लेकर उठते रहते हैं कई प्रश्न, कई विचार। और कई स्मृतियां भी घुमड़ती रहती हैं—देखी-सुनी चीज़ों की जिनके आधार पर वे फिर अपने 'मंथन' को जारी रखते हैं। मसलन, 12 जनवरी, 2004 की यह प्रविष्टि देखिए : "हुसैन के घोड़े, रामकुमार के माचू-पिचू के अमूर्त धूसर रंग, सैयद हैदर रज़ा के बिंदु और नाद का बहुरंगी अध्यात्म एवं तैयब मेहता की अनगिनत दार्शनिक मानव-आकृतियां—सभी का 'आमजन' दरअसल चित्रकला का यह विशिष्ट समाज है, जिसमें हर कृति या चरित्र एक दूसरे से निरपेक्ष



रहते हुए, एक-दूसरे के पूरक हैं। कलाओं के यह सारे उदाहरण कहीं रंगों द्वारा भविष्य की दिशा निर्धारित करते हैं, तो कहीं जीवन की जद्दोजहद से उनका सामना होता है। ये चित्र या ढेरों चरित्र कोई स्पष्टीकरण नहीं देते। वे कहां से शुरू होते हैं और कहां जाकर लुप्त, इसकी अवधारणा भी चित्र देखने वाले की अपनी अवधारणा व मनोभावना से एकात्म होती है। उन चित्रों की रेखाएं, ज्यामितिक आकार, अनगिनत प्रसन्न और उदास रंग कभी समझौता नहीं करते बल्कि विचार को एक तारतम्य देने की कोशिश भी करते हैं।"

ज़ाहिर है कि ऐसी टिप्पणियां—उनकी घुमड़न—प्रक्रिया—जहां लेखक को कलाओं की दुनिया में उतारकर, कई चीज़ों को रेखांकित करने की 'सुविधा' देती है, वहीं उनके सहभागी बने पाठक को भी वह 'विमर्श' को कुछ और आगे ले जाने के लिए उकसाती हैं। एक बार फिर दुहरा दें कि कलाओं के बीच की आवाजाही को यहां यतींद्र इस पुस्तक के लेखों-टिप्पणियों में एक ज़रूरी और उपयोगी चीज़ मानते हैं, और इसे कई तरफ से परिभाषित-रेखांकित भी करते हैं, वहीं वे स्वयं इस 'आवाजाही' के व्यक्तिगत साक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं। लेखों-टिप्पणियों के शीर्षक भी यह संकेत करने के लिए काफी हैं कि उनके सोच-विचार और देखने-सुनने के फलक पर बहुत-सी चीज़ें आती हैं : 'संगीत के रंगपटल पर अवध का समाज'; 'बाईयों का ज़माना और हिंदी फ़िल्म संगीत का आरंभिक दौर' (सन्

1925-1945) तक", 'कलाओं की पारिस्थितिकी' में 'रंग, राग और विचार', 'स्मृतियों में कहानी', 'आलाप कुसुम : पं. मल्लिकार्जुन मंसूर', 'सहज घर और असहज घराने का नागरिक : उस्ताद अमीर खां', आदि कुछ शीर्षक संगीत, नृत्य, चित्रकला के विविधवर्णी संसार में ले जाने वाले ही हैं। इस पुस्तक की एक खूबी यह भी है कि अपने समकालीन लेखक-कवि समीक्षक मित्रों के साथ 'बतकही' हो या कलाकारों के साथ, यतींद्र इस बतकही को प्रसंगानुसार अपने लेखों-टिप्पणियों में पिरोते हैं, और बताते हैं कि बतरस से जो चीज़ें 'प्रकट' होती हैं वे वास्तव में कितने काम की होती है। इसमें निर्मल वर्मा, कुंवर नारायण एवं अशोक वाजपेयी पर भी तीन लेख संकलित हैं। और कलाओं की दुनिया में इन लेखकों-कवियों की 'आवाजाही' के प्रसंग से भी यतींद्र ने कई चीज़ें उगाही हैं।

एक पुस्तक से साधारणतः यह अपेक्षा रहती है कि उसे उठाते-रखते हुए हमें पुस्तक के 'व्यक्तित्व' का भान भी लगातार होता रहेगा, और उसका एक चेहरा सामने बना रहेगा—उस 'अपेक्षा' के साथ इस पुस्तक को देखने से, हम इसके प्रति न्याय नहीं कर सकेंगे। इसके विविधवर्णी प्रसंगों के कारण। इसके लेखों के वैभिन्न्य के कारण, हमें इसे एक दूसरे प्रकार की सह-अनुभूति के साथ देखना-पढ़ना होगा और उन सूत्रों को ध्यान में रखना होगा, जो अंततः इस पुस्तक को 'जोड़ते' हैं। हम ऐसा कर सकेंगे, तो ज़ाहिर है कि यहां से प्राप्त-सामग्री का एक 'समग्र व्यक्तित्व' भी हम अपने तर्ई गढ़ सकेंगे।

और इसमें तो कोई संदेह है ही नहीं कि यतींद्र का विनम्र, भाव-भरा, सरस लेखन, अपने आप में कलाओं की दुनिया में उतरने-पैठने का एक सुंदर उदाहरण है।

विस्मय का बखान/ यतींद्र मिश्र/ वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 395

एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर-93/ए, नोएडा-201304, मो. 09810973590

भूमंडलीय परिवर्तन का परिप्रेक्ष्य प्रदान करने वाली दो महत्वपूर्ण पुस्तकें

रमेश उपाध्याय

स

माजवाद के विरोधी कुछ भी कहें, जब तक दुनिया में पूंजीवाद है, तब तक समाजवाद के भविष्य पर विचार और पुनर्विचार चलता रहेगा। दुनिया में ऐसे विचारकों की कमी नहीं है, जो समाजवाद को आवश्यक और संभव मानते हैं तथा अपनी रचनाओं से समाजवाद की संभावनाओं पर विचार करने का एक सही परिप्रेक्ष्य भी प्रदान करते हैं। ऐसे विचारकों में अन्यतम हैं समीर अमीन।

मिस्र में 1931 में जन्मे समीर अमीन का बचपन पोर्ट सईद में बीता। पढ़ाई के लिए पेरिस गए और सोलह साल की उम्र में ही वहां के कम्युनिस्ट आंदोलन में शामिल हो गए। पढ़ाई पूरी करके 1957 में काहिरा लौटे और आते ही मिस्र की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गए। अरब राष्ट्रवाद के नेता अब्दुल नासिर के शासनकाल में उन्होंने मिस्र के आर्थिक सलाहकार के रूप में काम शुरू किया। नासिर जवाहरलाल नेहरू की तरह प्रगतिशील विचारों के थे और नेहरू के साथ गुटनिरपेक्ष देशों के आंदोलन में शामिल थे। वे मिस्र की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करने के हिमायती थे, लेकिन उनकी सरकार में ऐसे लोग भरे हुए थे, जो आमूल परिवर्तन की मांग करने वाले कम्युनिस्टों के विरोधी थे। अतः नासिर की तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद उनकी सरकार के कई फैसले गैर-जनतांत्रिक किस्म के होते थे और उनकी कई योजनाएं असफल हो जाती थीं।

अंततः नासिर की सरकार कम्युनिस्टों के दमन पर उतर आई और समीर अमीन के कई मित्रों को जेल में डाल दिया गया। समीर

किसी तरह बच निकले और 1960 में उन्होंने पेरिस में शरण ली। 1963 में वे 'अफ्रीकन इंस्टीट्यूट फॉर इकॉनॉमिक प्लैनिंग एंड डेवलपमेंट' में प्रोफेसर बने और 1970 से 1980 तक उसके निदेशक रहे। साथ ही वे कई अरब और अफ्रीकी देशों के आर्थिक सलाहकार भी रहे। 1997 से वे 'वर्ल्ड फोरम फॉर ऑल्टरनेटिव्स' नामक संस्था के संचालक तथा उसकी पत्रिका के संपादक हैं।

लेखक के रूप में यों तो समीर अमीन अपनी कई पुस्तकों के लिए प्रसिद्ध हैं, जैसे 'इंपीरियलिज्म एंड अनईवन डेवलपमेंट', 'यूरोसेंट्रिज्म', 'क्लास एंड नेशन', 'दि एंपायर ऑफ केऑस', 'एंपायर एंड मल्टीट्यूड', 'बियॉड यू.एस.हेजेमनी' इत्यादि (वे स्वयं को 'स्वाधीन मार्क्सवादी' कहते हैं और उनकी आत्मकथात्मक पुस्तक का नाम है 'अ लाइफ लुकिंग फॉरवर्ड : मेमॉयर्स ऑफ इन इंडिपेंडेंट मार्किंसस्ट'), लेकिन आज की दुनिया में परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने वाली उनकी छह पुस्तकों की शृंखला विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

सोवियत संघ के विघटन के बाद हुए पूंजीवादी भूंडलीकरण से दुनिया में जो परिवर्तन हुए हैं, उनके कारणों और संभावित परिणामों पर विचार करते हुए समीर अमीन ने क्रमशः छह पुस्तकें लिखी हैं, जिनके पीछे एक साझा विचार-सूत्र यह रहा है कि आज मानव सभ्यता के समक्ष जो चुनौतियां उपस्थित हैं, उनको कैसे पहचाना जाए और कैसे विश्लेषित किया जाए। समीर अमीन अपनी इन सभी पुस्तकों में आज के बर्बरतापूर्ण पूंजीवाद या साम्राज्यवाद का मानववादी विकल्प खोजते और बताते दिखाई पड़ते हैं। अतः आज जो लोग एक बेहतर दुनिया का सपना देखते हैं और उसे साकार करने के लिए प्रयत्नशील हैं, उनके

बीच ये पुस्तकें बहुत लोकप्रिय हुई हैं। मैं इन पुस्तकों का संक्षिप्त परिचय देने के बाद उनकी दो पुस्तकों पर विस्तार से विचार करूंगा।

पहली पुस्तक 'स्पेक्टर्स ऑफ कैपिटलिज्म' (1998) में समीर अमीन ने अपने मार्क्सवादी होने को परिभाषित करते हुए कहा था कि मार्क्सवादी वह है, जिसका प्रस्थान-बिंदु मार्क्स हैं, लेकिन वह मार्क्स पर ही अथवा लेनिन और माओ पर ही रुका नहीं रह जाता। इस संदर्भ में उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद को एक नए ढंग से पढ़ने का प्रस्ताव किया था, जो 'दृष्टांतों की स्वायत्तता' पर आधारित होगा, क्योंकि दृष्टांत अपने ही एक आंतरिक तर्क के आधार पर विकसित होते हैं और आज जो इतिहास हमारे सामने है, उसका निर्माण करते हैं। समीर अमीन के अनुसार इतिहास कोई स्थिर, स्थायी अथवा निर्विकल्प वस्तु नहीं है। इतिहास में हमेशा विभिन्न संभावनाएं मौजूद रहती हैं। अतः इतिहास पर निरंतर पुनर्विचार करना तथा निरंतर उसका पुनर्लेखन किया जाना जरूरी है। अन्य इतिहासों की तरह पूंजीवाद के इतिहास पर भी यह बात लागू होती है।

दूसरी पुस्तक 'ऑब्सोलेसेंट कैपिटलिज्म' (2003) में समीर अमीन ने बीसवीं सदी के अंतिम और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के बीस वर्षों में स्थापित नए पूंजीवाद का अपना अध्ययन प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया कि पूंजीवाद पुराना पड़ चुका है, बेकार हो चुका है और इसकी जगह दुनिया में जब तक एक बेहतर व्यवस्था कायम नहीं हो जाती, तब तक यह मनुष्य, प्रकृति और समूची जनसंख्याओं के विनाश का कारण बना रहेगा। पूंजीवाद के समर्थक कुछ भी कहें, वह अपने विकास की समस्त संभावनाएं खोकर एक मृत और जड़

व्यवस्था बन चुका है, जिससे आज की दुनिया में तरह-तरह की बीमारियां और महामारियां फैल रही हैं।

तीसरी पुस्तक 'दि लिबरल वायरस' (2004) में आधुनिक काल की राजनीतिक संस्कृति पर विचार करते हुए समीर अमीन यूरोपीय और अमरीकी राजनीतिक संस्कृति की भिन्नता को सामने लाते हैं। उनके विचार से यूरोप की राजनीतिक संस्कृति वामपंथ और दक्षिणपंथ के परस्पर-विरोध पर आधारित है, इसलिए यूरोपीय राजनीति की विशेषता यह रही है कि उसका एक रूपांतरकारी पक्ष हमेशा मौजूद रहा है; जबकि अमरीका की राजनीतिक संस्कृतिक 'कंसेंसस' (सहमति) पर आधारित होने के कारण राजनीति के रूपांतरकारी पक्ष को नष्ट कर देती है। लेकिन अब यूरोप की राजनीतिक संस्कृति का भी अमरीकीकरण हो गया है और उदारवाद का वायरस सर्वत्र फैल रहा है।

चौथी पुस्तक 'बियोड यू.एस. हेजेमनी' (2006) में दुनिया की एकध्रुवीयता की धारणा का खंडन करते हुए उसकी बहुध्रुवीयता की जरूरत पर जोर दिया गया है। अमरीका के भूमंडलीय वर्चस्व, उसकी आर्थिक तथा सैनिक शक्ति, उसके साम्राज्यवादी इरादों और अखिल भूमंडल पर शासन करने के मंसूबों और प्रयासों पर विचार करते हुए समीर अमीन एकध्रुवीयता का विरोध और बहुध्रुवीयता का समर्थन करते हुए बताते हैं कि इससे दुनिया के जनगणों को वे जरूरी हाशिये हासिल होंगे, जिनमें क्रांतिकारी प्रगति की संभावना होगी।

पांचवीं पुस्तक 'दि वर्ल्ड वी विश टु सी' (2008) में समीर अमीन ने दुनिया में अब तक चले समाजवादी आंदोलनों, अब तक हुई समाजवादी क्रांतियों और उनके बाद बनी व्यवस्थाओं की सीमाओं की आलोचना की है और पूंजी के भूमंडलीय आधिपत्य के विरुद्ध 'जनगण के अंतरराष्ट्रीयतावाद' के निर्माण की जरूरत पर जोर देते हुए उसकी संभावनाओं पर विचार किया है।

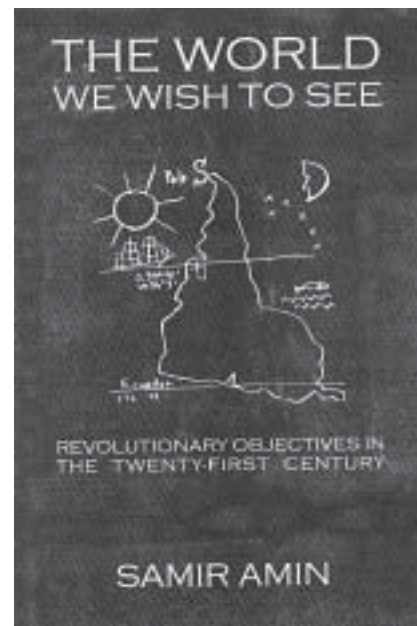
छठी पुस्तक 'फ्रॉम कैपिटलिज्म टु सिविलाइजेशन' (2010), जिसका उपशीर्षक 'रिकंस्ट्रक्टिंग दि सोशलिस्ट पर्सपेक्टिव' है, इक्कीसवीं सदी में समाजवाद के लिए किए जाने वाले संघर्ष की रणनीति पर विचार करते हुए बताती है कि दुनिया में अब तक रहे

विभिन्न प्रकार के समाजवादों से इक्कीसवीं सदी का समाजवाद भिन्न होगा।

भूमंडलीय परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य और उसकी संभावना को समझने के लिए पांचवीं और छठी दोनों पुस्तकों को एक साथ पढ़ना अधिक उपयोगी हो सकती है। अतः मैं इन दोनों पर किंचित् विस्तार से विचार करना चाहता हूँ।

दि वर्ल्ड वी विश टु सी : इस पुस्तक की मूल समस्या यह है कि 'पूंजीवाद एक विश्व-व्यवस्था है, अतः इसके शिकार लोग इसकी चुनौतियों का सामना भूमंडलीय स्तर पर संगठित होकर ही कर सकते हैं।' लेकिन इसके लिए दुनिया के विभिन्न जनगणों के बीच जो अंतरराष्ट्रीय एकजुटता होनी चाहिए, उसमें पूंजी का भूमंडलीय विस्तार और उससे जुड़ा असमान विकास हमेशा मुश्किलें पैदा करता रहा है। इसी कारण पूंजीवाद को अभी तक कोई गंभीर चुनौती नहीं दी जा सकी है और उसका प्रभुत्व कायम है। प्रश्न यह है कि इस विश्व-व्यवस्था को बदलने के लिए दुनिया के विभिन्न जनगणों के बीच एकजुटता कैसे हो। प्रस्तुत पुस्तक में समीर अमीन ने इसी प्रश्न पर विचार किया है और एक वैकल्पिक बेहतर दुनिया बनाने के उपाय भी सुझाए हैं।

यदि पूंजीवाद एक विश्व-व्यवस्था है, तो समाजवाद भी एक विश्व-व्यवस्था ही है। आज की शब्दावली में कहें, तो यदि पूंजीवादी भूमंडलीकरण संभव है, तो समाजवादी भूमंडलीकरण भी संभव है। यह कोई नया



विचार नहीं है और समाजवादी विश्व-व्यवस्था बनाने के प्रयास भी नए नहीं हैं। उनका एक इतिहास है। यह अंतरराष्ट्रीयतावाद का तथा 'इंटरनेशनल' नामक संगठनों का इतिहास है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में समीर अमीन पहले इस इतिहास को ही सामने लाते हैं, ताकि वर्तमान परिस्थिति में उससे जरूरी सबक लिए जा सकें।

'पहला इंटरनेशनल' (1864-76) बनने से पहले यूरोप में 'लीग ऑफ जस्ट' नामक एक संगठन बना था, जिसका नारा था 'सभी आदमी भाई हैं'। जब 1847 में मार्क्स और एंगेल्स उस संगठन में शामिल हुए, तो उसका पुनर्गठन किया गया। उसका नाम बदलकर 'लीग आफ कम्युनिस्ट' रखा गया और नारा दिया गया—'दुनिया के मजदूरों एक हो!' मार्क्स-एंगेल्स ने इसके लिए 1848 में एक घोषणापत्र लिखा, जो आज सारी दुनिया में 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार पूंजीपति और सर्वहारा दो ऐसे वर्ग हैं, जो राष्ट्रीय होने के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय भी हैं।

अतः साम्यवादी समाज बनाने के लिए सर्वहारा वर्ग को स्थानीय पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करने के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध भी संघर्ष करना होगा और इन दोनों प्रकार के संघर्षों में कोई अंतर्विरोध नहीं है। इस विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिए 1864 में 'इंटरनेशनल वर्किंगमैन एसोसिएशन' (अंतरराष्ट्रीय श्रमिक संघ) नामक एक संगठन बना, जिसमें मार्क्स और एंगेल्स ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। यह 'पहला इंटरनेशनल' कहलाता है। यह संगठन यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न विभिन्न देशों के सर्वहारा वर्ग को—अर्थात् उसके विभिन्न दलों, संगठनों तथा आंदोलनों को—आपस में जोड़ने का एक प्रयास था। हालांकि यह साम्यवादियों का संगठन था, पर इसमें अन्य विचारधाराओं वाले दल, संगठन और आंदोलन भी शामिल थे। दूसरे शब्दों में, इसमें 'विविधता के लिए जनतांत्रिक आदर' का सिद्धांत अपनाया गया था। समीर अमीन का कहना है कि आज के समय में अंतरराष्ट्रीय एकजुटता के लिए इससे एक जरूरी सबक सीखा जा सकता है।

'दूसरा इंटरनेशनल' (1889-1914) बिलकुल भिन्न सिद्धांतों पर आधारित था।

इसमें जो दल और संगठन शामिल थे, वे अंतरराष्ट्रीयतावाद पर कम और राष्ट्रवाद पर ज्यादा जोर देते थे। राष्ट्रवाद का समर्थन करते-करते वे साम्राज्यवाद का समर्थन करने लगते थे। मसलन, यदि उनका देश साम्राज्यवादी है, तो वे साम्राज्यवाद को यह कहकर उचित ठहराते थे कि इससे उपनिवेशों के जनगणों को उनके 'पिछड़ेपन' से निकालकर पूंजीवादी आधुनिकता के दायरे में लाया जा सकता है और वहां से उन्हें समाजवादी दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है। वे इसी को 'प्रगति' मानते थे। मगर इतिहास ने उन्हें गलत साबित किया।

'दूसरे इंटरनेशनल' की दूसरी बड़ी खामी यह थी कि इसमें 'विविधता के लिए जनतांत्रिक आदर' के सिद्धांत को छोड़कर अंतरराष्ट्रीय एकजुटता के लिए "एक देश में एक ही पार्टी सही हो सकती है" का संकीर्णतावादी सिद्धांत अपनाया गया और 'सबसे सही लाइन' लेकर चलने वाली पार्टी को ही संगठन में शामिल करने पर जोर दिया गया। इससे अंतरराष्ट्रीयतावाद मजबूत होने के बजाय कमजोर हुआ और साम्यवादी आंदोलन में जो संकीर्णतावादी प्रवृत्तियां पैदा हुईं, वे पूंजीवादी और साम्राज्यवाद की सहायक सिद्ध हुईं।

'तीसरे इंटरनेशनल' (1919-1943) में साम्राज्यवाद के विरुद्ध मजदूर वर्ग की अंतरराष्ट्रीय एकजुटता पर जोर देकर 'दूसरे इंटरनेशनल' की खामियों को दूर करने की कोशिश की गई। लेकिन 'सारी दुनिया के मजदूरों' की एकता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने में एक दिक्कत यह थी कि पश्चिमी देशों में हुई औद्योगिक क्रांति से जैसा मजदूर वर्ग वहां पैदा हुआ था, पूर्व के देशों में नहीं था, जहां औद्योगिक क्रांति नहीं हुई थी। अतः 'पश्चिम के मजदूरों' और 'पूर्व के किसानों' को एक करने की नीति अपनाई गई और फिर उनमें 'दुनिया के तमाम देशों के उत्पीड़ितों' को भी जोड़कर अंतरराष्ट्रीयतावाद के दायरे का विस्तार किया गया।

लेकिन तब तक दुनिया पूंजीवादी और समाजवादी दो खेमों में बंट चुकी थी और समाजवादी खेमे का नेतृत्व दुनिया का पहला समाजवादी देश सोवियत संघ कर रहा था। इस परिस्थिति में 'तीसरे इंटरनेशनल' को

'सारी दुनिया में समाजवाद' की जगह 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धांत को अपनाकर तथा पूंजीवादी खेमे के विरुद्ध समाजवादी खेमे के पक्ष में खड़े होकर 'प्रथम समाजवादी देश' को तथा पूरे समाजवादी खेमे को बचाने की नीति पर चलना पड़ा। इससे कई देशों के साम्यवादी दल ही नहीं, स्वयं सोवियत संघ में त्रात्स्की जैसे नेता ही सहमत नहीं थे। इसी मतभेद के चलते त्रात्स्की ने 1938 में 'चौथे इंटरनेशनल' का स्थापना की, लेकिन वह चल नहीं सका।

उस समय एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अनेक नव-स्वतंत्र देश, जो औपनिवेशिक शासन से मुक्त होकर अपना स्वाधीन विकास करना चाहते थे, इस या उस खेमे में शामिल होने के बजाय दुनिया की 'एकध्रुवीयता' के विरुद्ध 'बहुध्रुवीयता' में अपना हित देख रहे थे, ताकि वे दोनों खेमों में मोल-तोल कर सकें। इसके लिए 1955 में एशिया और अफ्रीका के देशों का एक सम्मेलन बांडुंग में हुआ, जिससे 'गुटनिरपेक्ष आंदोलन' का आरंभ हुआ। इसके नेताओं में भारत के नेहरू और मिस्र के नासिर जैसे लोग थे। इन देशों ने अपने आर्थिक विकास के लिए पूंजीवादी और समाजवादी तरीकों में से कोई एक तरीका चुनने के बजाय 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' वाला तरीका अपनाया, जो काफी हद तक सफल रहा। फिर 1966 में हवाना में एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमरीकी देशों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें से पुराने 'इंटरनेशनलों' की तर्ज पर एक 'ट्राइकांटिनेंटल' नामक गठबंधन बना। उधर शीतयुद्ध के चलते पूंजीवादी और समाजवादी दोनों खेमों की कोशिश यह थी कि इन देशों को आर्थिक और तकनीकी सहायता देकर अपनी ओर खींचा जाए। इसके गुटनिरपेक्ष आंदोलन में एक प्रकार का अवसरवाद पैदा हुआ और उसके नेताओं में सिद्धांतहीन समझाते करने की प्रवृत्ति बढ़ी।

शीतयुद्ध में पूंजीवादी खेमे की सफलता यह रही कि उसने गुटनिरपेक्ष देशों को 'पूंजीवादी विकास' के रास्ते पर डाल दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि इन देशों में स्वाधीनता की जगह परनिर्भरता की, जनतंत्र की जगह तानाशाही की, मिश्रित अर्थव्यवस्था की जगह एकाधिकारी पूंजीवाद को बढ़ावा देने की, सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करके निजी क्षेत्र

को बढ़ाने आदि की प्रवृत्तियां पैदा हुईं। यही कारण था कि जब सोवियत संघ का विघटन हो जाने पर पूंजीवादी खेमे ने शीतयुद्ध में स्वयं को विजयी घोषित करते हुए कहा कि दुनिया 'एकध्रुवीय' हो गई है और अब सारी दुनिया में हमेशा पूंजीवाद ही चलेगा, तो इन देशों के पास इसे सच मानकर पूंजीवाद से समझौता कर लेने तथा साम्राज्यवाद के आगे घुटने टेक देने के सिवा कोई चारा नहीं रहा। इसी परिस्थिति में निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों वाला वह पूंजीवादी भूमंडलीकरण शुरू हुआ, जो आज सारी दुनिया का भयानक सिरदर्द बना हुआ है।

फिर भी समीर अमीन 1955 से 1980 तक के समय को 'संघर्षों के प्रथम भूमंडलीकरण' का समय मानते हैं, जिसमें 'पूंजीवाद के इतिहास में पहली बार पृथ्वी के प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक राष्ट्र के अंदर ऐसे संघर्ष हुए, जिन्होंने पूंजीवाद के विकास की दिशा में परिवर्तन का आरंभ किया। इस दौरान 'केंद्र' के देशों ने 'परिधि' के देशों की मांगों से अपना समायोजन किया, लेकिन 1980 के बाद इसका उलटा होने लगा। अर्थात् परिधि के देश केंद्र के देशों की मांगों के अनुसार अपना समायोजन करने लगे। मगर जल्दी ही तथाकथित उभरते हुए देशों (खासकर चीन, भारत और ब्राजील) में राष्ट्रीय पूंजीवादी विकास की संभावनाएं पैदा हो गईं और दुनिया की एकध्रुवीयता का दावा खोखला मालूम होने लगा।

समीर अमीन ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को निकट से देखा है और तीसरी दुनिया के अनेक देशों के आर्थिक सलाहकार के रूप में इस यथार्थ को बखूबी समझा है कि गुटनिरपेक्षता सच्ची गुटनिरपेक्षता नहीं थी। इतना ही नहीं, पूंजीवादी और समाजवादी नाम के जो खेमे थे, उनमें समाजवादी खेमा भी सच्चा समाजवादी नहीं था, क्योंकि उसमें समाजवाद के नाम पर जो व्यवस्था बनाई गई, वह एक प्रकार की पूंजीवादी व्यवस्था ही थी, जिसे 'स्टेट कैपिटलिज्म' (राज्य का पूंजीवाद) कहा जा सकता है। दूसरे, स्वयं को समाजवादी कहने वाले इन देशों ने भी विकास का वही मॉडल अपनाया, जो पूंजीवादी देशों ने तीसरी दुनिया के देशों के सामने रखा था। वह मॉडल मानो यह कहता था कि 'केंद्र' के देश विकास की

दौड़ में आगे निकल चुके हैं और 'परिधि' के देशों को अब अपना विकास करके उनके समकक्ष पहुंचना है।

समाजवादी तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन वाले देशों को समझना चाहिए था कि विकास का यह रास्ता पूंजीवादी रास्ता है, जिस पर चलकर वे कभी भी उन देशों के समकक्ष नहीं पहुंच पाएंगे। उनके सामने विकल्प यह था कि वे कुछ और करें। अर्थात् पूंजीवादी रास्ते से भिन्न किसी और रास्ते पर चलकर समाजवाद का निर्माण करें। समीर अमीन इसे 'कैचिंग अप' (समकक्ष पहुंचने) और 'डूइंग समथिंग एल्स' (कुछ और ही करने) में से एक को चुनने की स्थिति बताते हुए कहते हैं कि समाजवादी और गुटनिरपेक्ष दोनों तरह के देशों ने अपने विकास के लिए 'कुछ और ही करने' के बजाय 'समकक्ष पहुंचने' वाला तरीका चुना। इसी का परिणाम है सोवियत संघ का विघटन और पूंजीवादी भूमंडलीकरण।

आज समाजवाद की ओर जाने वाला रास्ता लंबा और कठिन है, जबकि पूंजीवादी विकल्प चुनना आसान; लेकिन इन दोनों के बीच का संघर्ष समाप्त नहीं हो गया है। समीर अमीन के विचार से 'सभ्यताओं का संघर्ष' वास्तव में समाजवाद और पूंजीवाद के बीच का संघर्ष है और यह संघर्ष 'परिधि' के अधीनस्थ देशों में ही नहीं, बल्कि 'केंद्र' के प्रभुत्वशाली देशों में भी लगातार चल रहा है। माओ ने इस वैश्विक या भूमंडलीय संघर्ष की सही परिकल्पना की थी और इसके निकलने वाले निष्कर्षों को एक चीनी ढंग की अद्भुत सूक्ति में इस प्रकार पिरोया था कि "देशों को स्वाधीनता चाहिए, राष्ट्रों को मुक्ति चाहिए, और जनगण को क्रांति चाहिए"। लेकिन भूमंडलीय पूंजीवाद का भूमंडलीय समाजवाद में रूपांतरण एक लंबी—बहुत लंबी—प्रक्रिया है, यह बात उन लोगों, दलों और संगठनों को याद रखनी चाहिए, जो समाजवादी क्रांति को अविनाशक आवश्यक और संभव मानते हैं। दूसरी तरफ यह बात उन लोगों को भी याद रखनी चाहिए, जो इस रूपांतरण को अनावश्यक और असंभव मानते हैं।

भूमंडलीय पूंजीवाद का भूमंडलीय समाजवाद में रूपांतरण क्यों आवश्यक और संभव है, इसके कारण बताते हुए समीर अमीन कहते हैं कि सोवियत संघ के विघटन और

पूंजीवादी भूमंडलीकरण से एक नया युग शुरू हुआ है, जिसने सारी दुनिया के सामने नई चुनौतियां पेश कर दी हैं। इस नए युग की शुरुआत के साथ दूसरे विश्वयुद्ध के बाद दुनिया में बनी तीनों प्रभुत्वशाली व्यवस्थाओं—अर्थात् पूंजीवादी (कल्याणकारी राज्य वाली व्यवस्था), समाजवादी (सोवियत संघ वाली व्यवस्था) और राष्ट्रीय-लोकवादी (तीसरी दुनिया के नव-स्वतंत्र देशों वाली व्यवस्था)—का अस्तित्व समाप्त हो गया है। इनकी जगह नव-उदार पूंजीवाद की जो भूमंडलीय व्यवस्था बनी है, उसमें उत्पादन का तरीका, श्रम का स्वरूप और सामाजिक वर्गों तथा समूहों का स्तरविन्यास बदल गया है।

इससे सामाजिक रूपांतरण के लिए किए जाने वाले स्थानीय तथा भूमंडलीय संघर्षों के लिए नई चुनौतियां और साथ ही नई संभावनाएं भी पैदा हो गई हैं। चुनौतियों में सबसे बड़ी चुनौती यह है कि खत्म होता पूंजीवाद संपूर्ण मानवता का शत्रु बन गया है। हालांकि संपूर्ण भूमंडल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की उसकी नव-उदारवादी परियोजना सफल होने वाली नहीं है; क्योंकि वह तर्कहीन, ऊलजलूल और अयथार्थ है; फिर भी पूंजीवादी भूमंडलीकरण के रूप में वह सारी दुनिया में जोर-शोर से चलती नजर आ रही है। कारण यह है कि इससे पहले की तीनों व्यवस्थाएं—कल्याणकारी राज्य वाली व्यवस्था, सोवियत संघ वाली व्यवस्था और राष्ट्रीय-लोकवादी व्यवस्था—ध्वस्त हो चुकी हैं। इसी कारण दुनिया को देखने, समझने और व्यवस्थित रखने के अब तक के तमाम तौर-तरीके पुराने और लगभग बेकार हो चुके हैं। उदाहरण के लिए, अब मूल अंतर्विरोध पूंजीपति और सर्वहारा के बीच नहीं रहा, बल्कि पूंजीवाद और संपूर्ण मानवता के बीच का हो गया है, क्योंकि पूंजीवाद संपूर्ण मानवता के अस्तित्व के लिए खतरा बन गया है।

समीर अमीन इसे पूंजीवाद के 'लुप्तप्राय' होने की अवस्था कहते हैं। उनके अनुसार पूंजीवाद का कोई भविष्य नहीं है, सिवा इसके कि वह एक दूसरी दुनिया के लिए रास्ता छोड़ दे, जिसका निर्माण संभव है। लेकिन वह स्वतः ही दूसरी दुनिया के लिए रास्ता छोड़कर हट जाएगा, इसकी संभावना नहीं है। वह खुद तो डूबेगा ही, संपूर्ण मानवता, प्रकृति और

पृथ्वी को भी ले डूबेगा। अतः उसके 'लुप्तप्राय' होने का यह अर्थ नहीं है कि वह स्वतः ही लुप्त हो जाएगा। इसका अर्थ यह है कि उसकी जगह एक दूसरी, बेहतर दुनिया संभव है और उसको संभव करने के लिए इस लुप्तप्राय पूंजीवाद को हटाना जरूरी है और उसे हटाने के लिए संपूर्ण मानवता को एक लंबी और कठिन लड़ाई लड़नी होगी।

जाहिर है, यह लड़ाई दुनिया के किसी एक देश या कुछ देशों में, अथवा किसी एक क्षेत्र या क्षेत्रों में नहीं, बल्कि सारी दुनिया में लड़ी जाएगी और पूंजीवादी विश्व-व्यवस्था की जगह एक नई विश्व-व्यवस्था कायम करने के लिए लड़ी जाएगी। उस नई विश्व-व्यवस्था का नाम, जब वह बनेगी, कुछ और भी हो सकता है, लेकिन फिलहाल उसका नाम समाजवाद ही है। अतः यह लड़ाई भूमंडलीय पूंजीवाद के विरुद्ध भूमंडलीय समाजवाद के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई है। और यह लड़ाई आज की दुनिया में सर्वत्र विभिन्न प्रकार के अनेक दलों, संगठनों तथा आंदोलनों के द्वारा लड़ी जा रही है।

इतना ही नहीं, दुनिया भर के इन दलों, संगठनों और आंदोलनों को आपस में जोड़ने की एक प्रक्रिया भी शुरू हो गई है, जिसका सबसे स्पष्ट रूप 'वर्ल्ड सोशल फोरम' में दिखाई दे रहा है। हालांकि इसका नाम 'इंटरनेशनल' नहीं है, लेकिन यह उसी तरह का एक अंतरराष्ट्रीयतावादी प्रयास है। फर्क, जो वर्तमान परिस्थिति की भिन्नता से पैदा हुआ है, यह है कि 'दुनिया के मजदूरों एक हो!' की जगह यह 'लुप्तप्राय' पूंजीवाद के विरुद्ध संपूर्ण मानवता के एक होने का आह्वान कर रहा है। समीर अमीन ने प्रस्तुत पुस्तक में 'वर्ल्ड सोशल फोरम' के बारे में विस्तार से विचार किया है तथा उसकी संभावित शक्तियों और सीमाओं को स्पष्ट किया है।

समीर अमीन की यह पुस्तक उस उथल-पुथल को समझने में काफी सहायक है, जो आज बृहत्तर मध्य-पूर्व के क्षेत्र में जारी है। इसमें दिखाया गया है कि इस क्षेत्र में तीन शक्ति-समूहों के बीच राजनीतिक संघर्ष चल रहा है। एक वे, जो अपने राष्ट्रवादी अतीत की दुहाई देते हैं, लेकिन वास्तव में राष्ट्रीय-लोकवादी युग (जैसे भारत के 'नेहरू युग' की तरह मिस्र में 'नासिर युग') की नौकरशाहियों के पतनशील

तथा भ्रष्ट उत्तराधिकारी हैं। दूसरे वे, जो राजनीतिक इस्लाम की दुहाई देते हैं। और तीसरे वे, जो आर्थिक उदारवाद से मेल खाने वाली 'जनतांत्रिक' मांगों के आधार पर स्वयं को संगठित करते हैं। ('जनतंत्र की मांग' पिछले दिनों मिस्र तथा अन्य अरब-अफ्रीकी देशों में तानाशाहियों के विरुद्ध चले आंदोलनों में देखने में आई। लेकिन ये आंदोलन अपनी वांछित परिणति, अर्थात् जनतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना तक नहीं पहुंच सके।) वाम भी एक चौथे शक्ति-समूह के रूप में वहां मौजूद है, लेकिन वह कमजोर है। वाम चूंकि आम जनता के हितों को ध्यान में रखता है, इसलिए उक्त तीनों शक्ति-समूहों में से कोई भी अपनी सत्ता मजबूत कर ले, यह उसे स्वीकार नहीं है। उसे मालूम है कि ये तीनों शक्ति-समूह उन कंप्राडोर वर्गों का हित-साधन करते हैं, जो वर्तमान साम्राज्यवादी व्यवस्था से जुड़े हुए हैं। अमरीकी कूटनीति अपने लाभ के लिए इन तीनों शक्ति-समूहों को आपस में लड़ाती रहती है।

बृहत्तर मध्य-पूर्व के शासक कमोबेश अमरीका के हाथ की कठपुतली हैं। लेकिन वहां के वाम की दिक्कत यह है कि वह इन शासकों के विरुद्ध उक्त तीनों शक्ति-समूहों से गठबंधन नहीं कर सकता, इसलिए इनके मुकाबले शासकों को बेहतर समझता है। समीर अमीन के विचार से वहां वाम को आम जनता के आर्थिक और सामाजिक हितों की रक्षा के लिए, जनतंत्र के लिए तथा राष्ट्रीय संप्रभुता के लिए संघर्ष चलाना चाहिए। ये तीनों चीजें परस्पर अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं।

बृहत्तर मध्य-पूर्व का क्षेत्र आज केंद्रीय महत्त्व का क्षेत्र इस अर्थ में है कि वहां जो संघर्ष हो रहा है, वह कोई स्थानीय संघर्ष नहीं है। इसे केवल यहां के तानाशाहों के विरुद्ध यहां की जनता के संघर्ष के रूप में न देखकर आज के साम्राज्यवाद के सरगना और बाकी सारी दुनिया के जनगणों के बीच के संघर्ष के रूप में देखा जाना चाहिए। इस क्षेत्र पर उसका काबिज रहना सारी दुनिया के लिए खतरनाक है, अतः इस क्षेत्र में उसको हराना सारी दुनिया के स्वतंत्रता, संप्रभुता और वास्तविक जनतंत्र चाहने वाले जनगणों के लिए जरूरी है। इराक पर किए गए अमरीकी

हमले और कब्जे को समीर अमीन ने 'इस सदी का उसका पहला आपराधिक आक्रमण' कहा है। लगभग उसी तरह दूसरा आपराधिक आक्रमण उसने लीबिया पर किया। और पूरी आशंका है कि ऐसे आक्रमण आगे भी जारी रहेंगे, क्योंकि समीर अमीन के अनुसार अमरीका और 'नाटो' की शक्तियां पूरी पृथ्वी पर अपना सैनिक नियंत्रण कायम करना चाहती हैं।

प्रश्न उठता है : ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? समीर अमीन ने प्रस्तुत पुस्तक में एक अध्याय इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए लिखा है और उसमें एक नए 'इंटरनेशनल' की, अर्थात् 'पांचवें इंटरनेशनल' की प्रस्तावना की है। उनका कहना है कि आज की दुनिया में पूंजी का प्रभुत्व है और प्रभुत्वशाली पूंजी अपनी रणनीतियों का भूमंडलीकरण कर रही है। इसका जवाब इसके शिकार लोग अपने संघर्षों का भूमंडलीकरण करके ही दे सकते हैं।

“तो क्यों न एक नया 'इंटरनेशनल' बनाया जाए, जो पूंजी के विरुद्ध किए जा रहे दुनिया के तमाम जनगणों के संघर्षों की एकता के लिए एक कारगर ढांचा उपलब्ध करा सके?” समीर अमीन इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में देते हैं, मगर इस शर्त पर कि 'पांचवां इंटरनेशनल' दूसरे, तीसरे और चौथे 'इंटरनेशनल' जैसा नहीं, बल्कि 'पहले इंटरनेशनल' की तरह बनाया जाना चाहिए। अर्थात् यह केवल राजनीतिक पार्टियों का और वह भी 'एक देश की एक ही सही पार्टी' को शामिल करके बनाया गया संगठन नहीं होना चाहिए, बल्कि इसमें पूंजीवाद के विरुद्ध प्रतिरोध और संघर्ष करने वाले तमाम व्यक्तियों, समूहों, संगठनों और आंदोलनों को एकत्र होना चाहिए। फिर उनका जो भी मोर्चा या संगठन बने, उसमें 'विविधता के लिए जनतांत्रिक आदर' की भावना अवश्य रहनी चाहिए।

इस संदर्भ में समीर अमीन दो प्रकार की राजनीतिक संस्कृतियों की बात करते हैं—'कंसेंसस' (मतैक्य) वाली दक्षिणपंथी संस्कृतियां और 'कॉन्फ्लिक्ट' (मतभेद) वाली वामपंथी संस्कृतियां। नया 'इंटरनेशनल' बनाने के लिए मतभेद वाली संस्कृतियों को पहचानना, उन्हें आपस में जोड़ना और उनका ऐसा संगठन बनाना जरूरी है, जिसमें सब साथ चल सकें, लेकिन अपनी-अपनी विशिष्ट परिस्थितियों

के अनुसार भिन्न विचार रखने तथा भिन्न कार्यक्रम लेकर चलने की आजादी भी सबको रहे।

इस प्रकार की आजादी समीर अमीन को 'वर्ल्ड सोशल फोरम' के मंचों पर नजर आती है। उन्होंने लिखा है कि इन मंचों पर होने वाली बहसों 'पहले इंटरनेशनल' में हुई बहसों की याद दिलाती हैं। अतः आकस्मिक नहीं कि समीर अमीन ने 'वर्ल्ड सोशल फोरम' के बामाको सम्मेलन में की गई 'अपील' को 'पांचवें इंटरनेशनल' के निर्माण का आधार बताया है। बामाको पश्चिम अफ्रीकी देश माली की राजधानी है। यहां 2006 में आयोजित 'वर्ल्ड सोशल फोरम' में जो अपील की गई थी, वह 'बामाको अपील' कहलाती है। यह विस्तार से लिखा गया एक विचारणीय दस्तावेज है, जो अपने मूल और संपूर्ण रूप में ही पढ़ा जाना चाहिए। अतः यहां उसका संक्षिप्त सार प्रस्तुत करने के बजाय उसमें से उभरने वाली उस दूसरी या बेहतर दुनिया की एक झलक ही देख लेना उचित होगा—

वह दुनिया समस्त मनुष्यों तथा जनगणों की एकजुटता के आधार पर बनेगी।

वह दुनिया पूरी तरह और समूचे बतौर पर नागरिक तथा लैंगिक समानता पर आधारित होगी।

उस दुनिया में एक ऐसी सार्वभौम सभ्यता होगी, जो जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्जनात्मक विकास की पूरी संभावनाएं प्रस्तुत करेगी।

उस दुनिया में प्रकृति, पृथ्वी के संसाधन तथा कृषि-भूमि विक्रय की वस्तु नहीं होंगे।

उस दुनिया में कला, साहित्य, संस्कृति, विज्ञान, शिक्षा और स्वास्थ्य भी क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं होंगे।

उस दुनिया में जीवन की समस्त गतिविधियां पूरी तरह जनतांत्रिक होंगी और उसकी नीतियां सभी समाजों, राष्ट्रों तथा जनगणों की स्वायत्तता की रक्षा करते हुए उनकी प्रगति को सुनिश्चित करेंगी।

समीर अमीन का दृढ़ विश्वास है कि यह 'बेहतर दुनिया' अथवा 'दूसरी दुनिया' बनाना जरूरी है और बनाई जा सकती है। इस प्रकार समीर अमीन क्रांति की दो मूलभूत पूर्वापेक्षाओं 'जरूरी' और 'संभव' को आज की दुनिया में मौजूद वास्तविकताओं के रूप में देखते हैं। बेहतर या दूसरी दुनिया से उनका

अभिप्राय है भूमंडलीय समाजवाद, जिसे वे सर्वथा आवश्यक और संभव मानते हैं। इसी विचार को वे अपनी दूसरी पुस्तक 'फ्रॉम कैपिटलिज्म टु सिविलाइजेशन' में आगे बढ़ाते हैं।

फ्रॉम कैपिटलिज्म टु सिविलाइजेशन : यह पुस्तक इक्कीसवीं सदी में भूमंडलीय समाजवाद की आवश्यकता के साथ-साथ उसकी संभावना भी बताती है, लेकिन उसके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं करती। समाजवाद संबंधी भविष्यवाणियां प्रायः मार्क्स द्वारा की गई पूंजीवाद की इस परिभाषा के आधार पर की जाती हैं कि इस व्यवस्था में उत्पादन के साधनों में निरंतर सुधार होता रहता है, जिससे उत्पादन की शक्तियों का निरंतर विकास होता रहता है। इस परिभाषा से "पनचक्की ने सामंतवाद दिया, भाप के इंजन ने पूंजीवाद दिया" जैसी बातें निकलती हैं, जिनके आधार पर कहा जाता है कि आज की प्रौद्योगिकी पूंजीवाद को चला रही है, कल की बेहतर प्रौद्योगिकी इससे बेहतर व्यवस्था (समाजवाद) बनाएगी और उसे चलाएगी।

समीर अमीन इसे 'टेक्नोलॉजिज्म' (प्रौद्योगिकीवाद) कहते हैं, जिसके आधार पर यह माना जाता है कि उत्पादन की शक्तियों का विकास एक ऐसी बाहरी शक्ति है, जो एकतरफा ढंग से सामाजिक संबंधों को गढ़ती है। लेकिन समीर अमीन का कहना है कि यह अतीत के और आज के प्रभुत्वशाली बुर्जुआ चिंतन की विशेषता है और यह 'प्रौद्योगिकीवाद' आज उत्तर-आधुनिकतावाद के रूप में प्रचलित

है, जो यह बताता है कि पूंजीवाद भविष्य में नए-नए रूप धारण करता रहेगा, लेकिन दुनिया में रहेगा हमेशा पूंजीवाद ही।

समीर अमीन ऐसी भविष्यवाणियों के विरुद्ध 'अंतर्विरोधों के द्वंद्ववाद' के आधार पर आज के भूमंडलीय यथार्थ का विश्लेषण करते हुए यह बताते हैं कि—'भविष्य हमेशा खुला हुआ है' और 'स्वयं इतिहास के पहले इतिहास के कोई नियम नहीं होते' अतः किसी भी समय विभिन्न विकल्पों की संभावनाएं मौजूद रहती हैं। मार्क्स के इस कथन से कि "हमें दुनिया को सिर्फ समझना नहीं है, हमें तो इससे बदलना है" समीर अमीन पूरी सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि इसमें मौजूदा दुनिया को बदलकर जो दुनिया बनाई जानी है, उसका खाका या नक्शा भी शामिल है, जिसके आधार पर नई दुनिया को बनाया जाना है। और इसमें यह बात भी शामिल है कि उस दुनिया को बनाने वाले मनुष्य 'इतिहास की वस्तु' नहीं, बल्कि 'इतिहास के निर्माता' हैं।

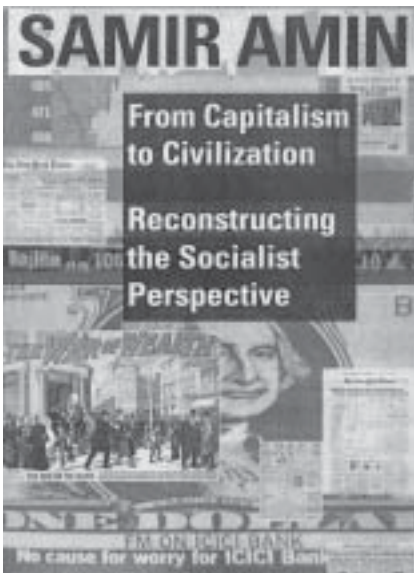
प्रस्तुत पुस्तक में मार्क्सवाद के बारे में प्रचलित कई भ्रमों का खंडन करते हुए मार्क्स को नए ढंग से पढ़ने की जरूरत पर जोर दिया गया है। उदाहरण के लिए, मार्क्सवाद को प्रायः 'श्रमिक वर्गों की विचारधारा' माना जाता है और 'श्रमिक वर्गों' में प्रायः 'उत्तर' के अर्थात् पूंजीवादी देशों के श्रमिक वर्गों को ही गिना जाता है। इस प्रकार मार्क्सवाद पूंजीवादी व्यवस्था के प्रमुख केंद्रों में स्थित 'औद्योगिक सर्वहारा' द्वारा की जाने वाली क्रांति और परिणामस्वरूप उसी की मुक्ति का विचार बनकर रह जाता है, जबकि मार्क्स ने दुनिया के सभी देशों के सभी शोषित-उत्पीड़ित लोगों की मुक्ति की बात की थी और इसके लिए वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था को ही बदलने का विचार प्रस्तुत किया था। समीर अमीन इस संदर्भ में आज के पूंजीवाद के बारे में कहते हैं कि यह केवल श्रमिक वर्ग के शोषण-उत्पीड़न की व्यवस्था नहीं, बल्कि मानवता के ही विनाश की व्यवस्था बन गया है, अतः इसके परे जाना आवश्यक हो गया है।

पूंजीवाद आरंभ से ही एक भूमंडलीय व्यवस्था है। इस ऐतिहासिक तथ्य को रेखांकित करते हुए समीर अमीन पूंजीवाद के बारे में, मार्क्सवादियों के बीच भी, प्रचलित कई भ्रमों

का खंडन करते हैं। पहला भ्रम 'विकास की अवस्थाओं' से संबंधित है, जिसके कारण यह मान लिया जाता है कि दुनिया दो तरह के देशों में बंटी हुई है। एक तरफ 'विकसित देश' हैं, जो 'केंद्र' में हैं और दूसरी तरफ 'पिछड़े हुए देश' हैं, जो अभी 'परिधि' पर पड़े हुए हैं, लेकिन चूंकि पूंजीवादी व्यवस्था विकास की एक अनिवार्य और अपरिहार्य अवस्था है, इसलिए 'परिधि' के देशों को अनिवार्यतः 'केंद्र' के देशों की भांति 'विकसित' देश बनना है। मानो यह कोई दौड़ है, जिसमें 'पिछड़ गए' देशों को तेजी से दौड़कर 'आगे बढ़े हुए' देशों को जा पकड़ना है!

विकास का यह रूपक पूंजीवाद के भूमंडलीय रूप साम्राज्यवाद द्वारा गढ़ा गया है और मार्क्सवाद से इसका कोई लेना-देना नहीं है। यह रूपक दुनिया के देशों के बीच अगड़े-पिछड़े का भेद पैदा करता है। यह पूंजीवादी व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था मानकर चलता है। यह अन्य देशों को विकसित पूंजीवादी देश बनकर अपना पिछड़ापन दूर करने के लिए कहता है। यह पूंजीवाद को निर्विकल्प बताता है और पूंजीवादी विकास के रास्ते पर चलना तथा 'केंद्र' के देशों का अनुसरण करना 'परिधि' के देशों के लिए अपरिहार्य बताता है।

समीर अमीन विकास की इस पूंजीवादी अवधारणा को नकारते हुए पूंजीवाद को एक ऐसी विश्व-व्यवस्था मानते हैं, जो शुरू से ही 'भूमंडलीय पैमाने पर पूंजी के संचय' पर आधारित रही है। इस प्रक्रिया में कुछ देशों ने दूसरे देशों को लूटकर अपना 'विकास' किया है और लूटे गए देशों को 'पिछड़ा' बनाया है। इस प्रकार 'विकास' और 'पिछड़ापन' एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः जब तक दुनिया में पूंजीवादी व्यवस्था कायम है, यह स्थिति बदलने वाली नहीं है। और इस भूमंडलीय व्यवस्था में चूंकि 'पिछड़े' देशों के लोगों का शोषण-उत्पीड़न कम होने के बजाय बढ़ना ही है, उनके मानवीय तथा प्राकृतिक संसाधनों के अपहरण और विध्वंस का सिलसिला उत्तरोत्तर अधिक विनाशकारी रूपों में जारी रहना ही है; इसलिए इस पूंजीवादी व्यवस्था को आज और अभी बदलने का प्रयास करना संपूर्ण मानवता के सामने उपस्थित एक ऐतिहासिक रूप से आवश्यक और अनिवार्य कर्तव्य है।



पूँजीवाद की इस भूमंडलीय व्यवस्था को बदलकर जिस वैकल्पिक भूमंडलीय व्यवस्था के निर्माण की बात समीर अमीन करते हैं, उसे वे समाजवाद ही कहना जरूरी समझते हैं। लेकिन वे उसे 'इक्कीसवीं सदी का समाजवाद' कहते हुए समाजवाद के उन रूपों से अलगते हैं, जो अब तक अस्तित्व में रहे हैं। वे यह नहीं बताते कि इक्कीसवीं सदी का समाजवाद 'कैसा होगा' या 'कैसा होना चाहिए'। उनका कहना है कि वह कोई बनी-बनाई 'बौद्धिक परियोजना' नहीं है, जिसे सिर्फ लागू किया जाना या अमल में लाया जाना हो। वह तो दुनिया भर के शोषित-उत्पीड़ित वर्गों के संघर्षों का परिणाम ही होगा और वे संघर्ष कैसे चलेंगे, उनके क्या रूप होंगे, यह भविष्य ही बताएगा।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि समीर अमीन भाग्यवादियों की तरह सब कुछ भविष्य पर छोड़ देना चाहते हैं। वे एक ऐसी दुनिया बनाने का प्रस्ताव करते हैं, जो सभी मनुष्यों और जनगणों की एकजुटता पर आधारित हो; जो पूर्णतः नागरिक तथा लैंगिक समानता पर आधारित हो; जो ऐसी सार्वभौम सभ्यता को जन्म दे, जिसमें जीवन के समस्त क्षेत्रों में सर्जनात्मक विकास की पूरी संभावनाएं हों, जिसमें लोगों का समाजीकरण जनतांत्रिक ढंग से हो; जिसमें पृथ्वी के समस्त प्राकृतिक संसाधनों को बाजार से अलग रखा जाए; जिसमें सांस्कृतिक उत्पादों, वैज्ञानिक ज्ञान, शिक्षा और स्वास्थ्य को भी बाजार से अलग रखा जाए; जिसमें राष्ट्रों तथा जनगणों की स्वायत्तता का सम्मान करते हुए पूर्ण जनतंत्रीकरण तथा सामाजिक प्रगति की नीतियों को बढ़ावा दिया जाए; और जिसमें 'उत्तर' तथा 'दक्षिण' के समस्त जनगण साम्राज्यवाद-विरोधी अंतरराष्ट्रीयवाद के आधार पर एकजुट हों।

इस प्रकार समीर अमीन पूँजीवाद की बर्बर व्यवस्था के विरुद्ध समाजवादी (बल्कि साम्यवादी) सभ्यता के निर्माण का प्रस्ताव करते हैं और इसके लिए वर्तमान भूमंडलीय यथार्थ को समाजवादी परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत पर जोर देते हुए जनगणों के अंतरराष्ट्रीयतावाद के पुनर्निर्माण का उपाय बताते हैं। उनके अनुसार आज का भूमंडलीय यथार्थ और उसमें निहित इक्कीसवीं सदी के समाजवाद की संभावनाएं इस प्रकार हैं—आज

की दुनिया सैनिक शक्ति के लिहाज से एकध्रुवीय है और वह 'उत्तर' के कुछ देशों के सामूहिक साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ी हुई है, जिनका नेता अमरीका है। लेकिन यह सामूहिक साम्राज्यवाद कोई अभेद्य दीवार नहीं है। इसमें दरारें हैं, इसलिए इसमें अमरीका निर्णायक रूप से हमेशा लाभ उठाते रहने की स्थिति में नहीं है। अतः यह अपनी आर्थिक कमियों और कमजोरियों को दूर करने के लिए संपूर्ण पृथ्वी पर अपना सैनिक नियंत्रण कायम करना चाहता है। उसकी इस परियोजना से 'दक्षिण' के समस्त जनगणों को खतरा है। लेकिन 'दक्षिण' के देशों ने पूँजीवादी विकास को ही विकास का एकमात्र रास्ता या तरीका मानकर अमरीकी नेतृत्व वाले सामूहिक साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़े रहने को ही अपनी नियति मान लिया है। आवश्यकता इस बात की है कि 'दक्षिण' के देश इस सामूहिक साम्राज्यवाद की गुलामी से मुक्त हों। और वे मुक्त हो सकते हैं, यदि वे उन उदारवादी विभ्रमों से मुक्त हो सकें, जिनके चलते उन्होंने स्वयं को 'पिछड़ा' हुआ मानकर 'आगे बढ़े हुए' देशों के समकक्ष पहुंचने की दौड़ में शामिल मान लिया है और यह भी मान लिया है कि इसके सिवा कोई विकल्प नहीं है। मगर विकल्प है। वे इन विभ्रमों से मुक्त होकर इस विश्व-व्यवस्था से अपना नाता तोड़ सकते हैं और अपने-अपने ढंग से अपना विकास कर सकते हैं।

लेकिन ऐसा करने के लिए उन्हें अपना एक मजबूत मोर्चा बनाना होगा और वह तभी बन सकता है, जब उनके जनगण इस प्रक्रिया में शामिल हों और वे ऐसा मोर्चा बनाने की जिम्मेदारी केवल अपने राज्यों पर न डाल दें। 'दक्षिण' के जनगणों का ऐसा मजबूत मोर्चा यूरोप, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के भी समस्त जनगणों को एक नए अंतरराष्ट्रीयतावाद की ओर ले जा सकता है। इससे दुनिया एकध्रुवीय की जगह बहुध्रुवीय बन सकती है और भूमंडलीय पूँजीवाद की जगह भूमंडलीय समाजवाद कायम करना संभव हो सकता है।

लेकिन इन संभावनाओं के मौजूद होने का मतलब यह हरगिज नहीं है कि यह सब आसानी से हो जाएगा। भूमंडलीय पूँजीवाद से भूमंडलीय समाजवाद की ओर जाने का रास्ता

विकट बाधाओं और चुनौतियों से भरा होगा। लेकिन यदि उन चुनौतियों का सामना आज के भूमंडलीय यथार्थ को इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के परिप्रेक्ष्य में देखते-समझते हुए किया जाए, तो रास्ते की समस्त बाधाओं को दूर किया जा सकता है। इसके बारे में समीर अमीन ने प्रस्तुत पुस्तक में कुछ सुझाव दिए हैं, जो इस प्रकार हैं—

लगभग तीन दशकों से अमरीकी नेतृत्व वाला साम्राज्यवादी तिगड़ा (अमरीका, यूरोप, जापान) दुनिया के तमाम जनगणों के विरुद्ध, जिनमें इस तिगड़े के जनगण भी शामिल हैं, एक जबर्दस्त आक्रामक रुख अपनाकर जनतांत्रिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं को नष्ट कर रहा है, जनतांत्रिक अधिकारों का हनन कर रहा है और जन-आंदोलनों का बर्बर दमन कर रहा है। वह अपने विरुद्ध विद्रोह कर सकने वाले देशों की सरकारों को खरीद रहा है या सैनिक आक्रमणों के जरिए उन्हें हटाकर वहां के जनगणों पर अपनी कठपुतली सरकारें थोप रहा है, जो अपने जनगणों के विरुद्ध देशी-विदेशी पूँजीपतियों की सेवा करती हैं। इस जबर्दस्त और सर्वतोमुखी आक्रमण के प्रतिरोध में जनगण जागरूक होकर संघर्ष करने लगे हैं। लेकिन अभी तक इन संघर्षों का स्वरूप स्थानीय और प्रतिरक्षात्मक ही है तथा उनमें आपसी तालमेल भी नहीं है। मसलन, भारत में दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों, अल्पसंख्यकों आदि के अधिकारों के लिए किए जाने वाले आंदोलन, किसानों और मजदूरों के आंदोलन, पर्यावरण की रक्षा आदि के लिए किए जाने वाले आंदोलन अलग-अलग चल रहे हैं। जरूरत है कि वे एकजुट होकर आज के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करें और प्रतिरक्षात्मक नहीं, बल्कि आक्रामक रुख अपनाएं।

जन-आंदोलन चलाने वाले संगठन जनतांत्रिक आधार पर एकजुट होकर परस्पर सहयोग करें और अपने-अपने सीमित लक्ष्यों के साथ-साथ सामाजिक रूपांतरण के बड़े लक्ष्य को भी ध्यान में रखें। वह बड़ा लक्ष्य 'इक्कीसवीं सदी के समाजवाद' के रूप में सबके सामने स्पष्ट होना चाहिए। चूंकि वह भूमंडलीय पूँजीवाद की जगह लेने वाला भूमंडलीय समाजवाद होगा, इसलिए स्थानीय तथा राष्ट्रीय आंदोलनों को दुनिया के समस्त जनगणों की

एकजुटता के आधार पर एक अंतरराष्ट्रीय आंदोलन खड़ा करना चाहिए।

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में आज के भूमंडलीय यथार्थ को देखते हुए विभिन्न देशों के स्थानीय जन-आंदोलनों को अपना जनतांत्रिक राजनीतिकरण करना चाहिए और मिथ्या आंदोलनों द्वारा पैदा किए जाने वाले विभ्रमों तथा भटकावों के प्रति सावधान रहना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'सिविल सोसाइटी' के नाम पर चलाए जाने वाले उन आंदोलनों से, जो सभी तरह की राजनीति को गंदी या भ्रष्ट बताते हुए राजनीति से अलग रहने की बात करते हैं। अथवा उन 'भूमंडलवादी' लोगों के विचारों से, जो कहते हैं कि दुनिया एक ग्लोबल गांव बन गई है, इसलिए अब राष्ट्र-राज्यों की कोई जरूरत नहीं रह गई है।

इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के लिए जरूरी है सारी दुनिया के जनगणों का ऐसा अंतरराष्ट्रीयतावाद, जो सभी देशों तथा उनके जनगणों की संप्रभुता और स्वायत्तता का आदर करने वाला अंतरराष्ट्रीयतावाद हो। भूमंडलीय समाजवाद भूमंडलीय पूंजीवाद की तरह सारी दुनिया को एक जैसा बनाने वाली व्यवस्था नहीं, बल्कि एक ऐसी व्यवस्था होगा, जिसमें सब देशों की संस्कृतियां और विशिष्ट जीवन-शैलियां सुरक्षित रहें तथा सृजनशील ढंग से अपने-आपको विकसित और समृद्ध बना सकें।

पूंजीवाद पतनशीलता और बर्बरता की ओर ले जाने वाली व्यवस्था है। शीत युद्ध के दौरान यह मिथ्या प्रचार किया गया था कि समाजवाद में जनतंत्र नहीं हो सकता। उस समय की समाजवादी कहलाने वाली व्यवस्था ने, जो वास्तव में सच्ची समाजवादी व्यवस्था नहीं थी, इस मिथ्या प्रचार को पुष्ट किया। लेकिन सोवियत संघ के विघटन और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद यह बात स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई है कि पूंजीवाद ही जनतंत्र का शत्रु है और सच्चा जनतंत्र समाजवाद में ही संभव है। समाजवाद की सच्ची जनतांत्रिक व्यवस्था ही दुनिया को बर्बरता से सभ्यता की ओर ले जा सकती है।

107, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063, मो. 09818244708

आत्मकथा

कुलदीप नैयर की आत्मकथा : आजाद भारत की कहानी

प्रेमपाल शर्मा

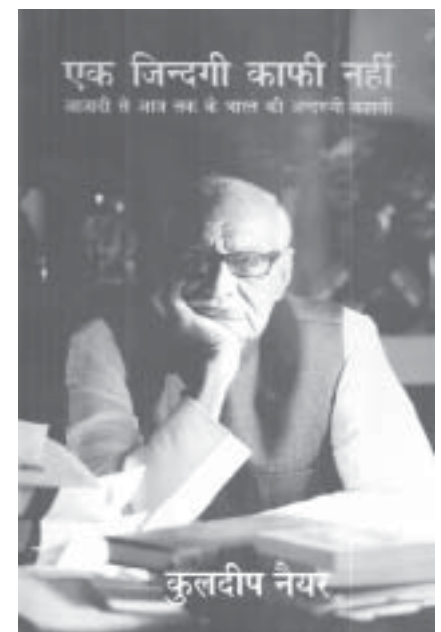
जा

ने माने पत्रकार कुलदीप नैयर की हाल ही में आत्मकथा आई है। मूल अंग्रेजी में लिखी हुई 'बियॉंड द लाइंस'। हिंदी अनुवाद का नाम रखा है 'एक जिंदगी काफी नहीं'—आजादी से आज तक के भारत की अंदरूनी कहानी। निःसंदेह हिंदी शीर्षक ज्यादा सटीक है। उनके बचपन और बंटवारे के वक्त मौजूदा पाकिस्तान से भारत आकर बसने से लेकर आज तक का वृत्तांत समेटे। पूरे बीस-बाईस वर्षों में लिखी गई इस आत्मकथा में इतिहास, राजनीति, समाज, प्रेस, सब कुछ है और बेहद कसी हुई भाषा में। इसके बावजूद भी इस उपमहाद्वीप सरीखे देश और उसमें रोज घटता घटनाचक्र इतना व्यापक और चुनौतीपूर्ण है कि पांच सौ पृष्ठ भी थोड़े लगने लगते हैं। युगांक धीर का अनुवाद हिंदी में इसे और ज्यादा पठनीय बनाता है।

कुलदीप नैयर अकेले ऐसे शख्स हैं जिनका नाम मैंने 1975 में अपने कॉलेज के दिनों में सुना था। 1975 के उन वर्षों को याद करें तो वे बड़े गहमा-गहमी के वर्ष थे। 1975 में आपात्काल से पहले जयप्रकाश आंदोलन की देश भर में रैलियां; तत्कालीन सत्ता के दांव-पेंच, धमकी और इन सबके बीच हर प्रमुख अखबार में कुलदीप नैयर की प्रखर कलम। यूनिवार्ता की स्थापना और शुरूआत करके वे स्टैट्समैन में उन दिनों काम कर रहे थे। 1977 के दौर में इंडियन एक्सप्रेस में आए। कोर्स के अलावा जिन किताबों को मैंने सबसे पहले पढ़ा होगा उसमें कुलदीप नैयर की 'द जजमेंट' और 'बिटवीन द लाइंस' थी। पाठ्यक्रम की पुस्तकों से परे जाकर देश को जानने, समझने के इतने खूबसूरत दरवाजे। उसके बाद सैंकड़ों बार कुलदीप नैयर को सुना, पढ़ा होगा। और इस पूरी पुस्तक को खत्म करने के बाद लगता है

कि वाकई वो इतनी ही बड़ी एक और जिंदगी के हकदार हैं। मेरे और मेरी आने वाली पीढ़ियों को अपनी कलम से शिक्षित, प्रशिक्षित और प्रेरणा देने के लिए। आपात्काल के साथ जैसे जयप्रकाश नारायण, जनता पार्टी का नाम जुड़ा है कुछ-कुछ वैसे ही कुलदीप नैयर का भी। इसलिए सबसे पहली बात पुस्तक में शामिल आपात्काल के प्रसंगों की।

1971 में बांग्लादेश के निर्माण के बाद तत्कालीन विपक्ष के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने भी इंदिरा गांधी की दुर्गा कहकर तारीफ की थी। इंदिरा गांधी की प्रतिष्ठा वाकई लोकप्रियता के आसमान पर थी। विपक्षी पार्टियां कमजोर तो थीं ही उनमें इतने मतभेद भी थे कि सरकार के लिए शायद ही कोई खतरा पैदा हो। ऐसे में अचानक जे.पी. की आवाज इंदिरा गांधी को बेचैन करने लगी। बकौल कुलदीप नैयर (पृ. 262) 'जे.पी. न तो संसद में थे और न दिल्ली में रहते थे। फिर भी, वे जब भी कुछ कहते थे तो लोगों



का ध्यान सहज ही उनकी तरफ खिंच जाता था। उनकी गांधीवादी पृष्ठभूमि थी और उन्होंने कोई भी सरकारी पद स्वीकार करने से इनकार कर दिया था, नेहरू के अनुरोध करने पर भी नहीं। इसलिए उनकी छवि किसी साधू-संन्यासी जैसी बन चुकी थी और सभी देशवासी उनका बहुत मान करते थे। उन्हें प्यार से 'जे.पी.' के नाम से जाना जाता था। जे.पी. ने सत्तर की उम्र पार कर लेने के बाद इंदिरा गांधी से टक्कर लेने की ठानी थी। इसका कारण था बढ़ता भ्रष्टाचार, सत्ता का दुरुपयोग, चारों तरफ बढ़ती बेरोजगारी से युवाओं में असंतोष। गुजरात में शुरू हुए नवनिर्माण आंदोलन को भी जे.पी. का समर्थन मिला और चिमनभाई सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। जे.पी. ने देश की युवा पीढ़ी को अपने आंदोलन के साथ जोड़ लिया।

इसी बीच आया 12 जून 1975 को इलाहाबाद हाईकोर्ट का फैसला। जिसमें न्यायमूर्ति जगमोहन लाल सिन्हा ने इंदिरा गांधी के चुनाव को रद्द तो किया ही उन्हें अगले छह वर्ष के लिए किसी भी संवैधानिक पद के लिए अयोग्य घोषित कर दिया। यह फैसला सोशलिस्ट नेता राज नारायण द्वारा दायर याचिका पर लिया गया था। न्यायालय ने इंदिरा गांधी के चुनाव में सत्ता के दुरुपयोग के प्रमाण अपने निर्णय में प्रस्तुत किए। कुलदीप नैयर लिखते हैं कि 'स्वयं इंदिरा गांधी अपने पद से त्यागपत्र देने को तैयार थीं लेकिन दो प्रमुख सलाहकार संजय गांधी और मुख्यमंत्री सिद्धार्थ शंकर ने उन्हें त्यागपत्र देने की बजाय इमरजेंसी लगाने की सलाह दी। संजय गांधी के बारे में कुलदीप नैयर लिखते हैं कि (पृ. 270) दून स्कूल से अधूरी पढ़ाई छोड़कर निकले और इंग्लैंड में रॉल्स कंपनी में एक मोटर मैकेनिक के रूप में शार्गिंदगी कर चुके संजय गांधी के पास कोई शैक्षणिक योग्यता नहीं थी। लेकिन वे राजनीति में आने के लिए लालायित थे। इलाहाबाद हाई कोर्ट के इस फैसले के बाद उन्हें खुलकर सामने आने का अवसर मिल गया। अपनी मां के माध्यम से वे सत्ता और पैसे की ताकत का अनुभव करना चाहते थे। इमरजेंसी से बहुत पहले से ही इंदिरा गांधी उनके साथ राजनीति पर बातचीत करने लगी थीं। कई बार संजय के साथ खाने के दौरान वे अपने बड़े बेटे राजीव गांधी का जिक्र करते हुए कहती थीं कि उसे तो राजनीति का क-ख-ग भी नहीं आता। राजीव गांधी तब तक एक

एयरलाइन में पायलट थे और किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि इंदिरा गांधी के बाद वही प्रधानमंत्री बनेंगे।

लगभग 50 पृष्ठों में तत्कालीन समय का एक-एक ब्यौरा इस पुस्तक में मौजूद है। यह भी कि 'जस्टिस कृष्ण अय्यर का पलड़ा स्वयं इंदिरा गांधी की तरफ झुका हुआ था। और यह भी कि आपात्काल घोषित करने से पहले उन्होंने न कैबिनेट की सलाह ली और न राष्ट्रपति को विश्वास में लिया।' बेहद रोमांचक पृष्ठ हैं भारतीय राजनीति के जिन्हें कुलदीप नैयर से बेहतर न कोई जानता, न लिख सकता। उन्होंने अपनी भूमिका में लिखा भी है (पृ. 10) अगर मुझे अपनी जिंदगी का कोई अहम मोड़ चुनना हो तो मैं इमरजेंसी के दौरान अपनी हिरासत को ऐसे ही एक मोड़ के रूप में देखना चाहूंगा, जब मेरी निर्दोषता को हमले का शिकार होना पड़ा था।

पुस्तक लगभग बीस अध्यायों में विभाजित है और हर अध्याय भारतीय राजनीति की एक मुख्य प्रवृत्ति को उजागर करता है। जैसे बांग्लादेश युद्ध, इमरजेंसी, चुनाव 1977, ऑपरेशन ब्लू स्टार, राजीव गांधी और वी.पी. सिंह का दौर, बाबरी मस्जिद विध्वंस, भाजपा सरकार और मनमोहन सिंह सरकार। तीन और अध्याय भी इसमें शामिल हैं। भारतीय मीडिया, मानवाधिकार और भारत-पाक संबंध। भारत-पाक संबंधों को सामान्य बनाने की उनकी सतत पहल जग जाहिर है। पुस्तक की शुरुआत ही विभाजन की उन वीभत्स घटनाओं से होती है जिनसे वे गुजरे थे। उन्हें हिंदी नहीं आती थी क्योंकि उनकी बचपन की पढ़ाई उर्दू, फारसी व अंग्रेजी में हुई थी। इसीलिए वे लगातार उर्दू को उत्तर प्रदेश, दिल्ली, बिहार, पंजाब, आंध्रप्रदेश में दूसरी भाषा बनाने की कवालत भी करते हैं। शायद ही भारतीय महाद्वीप का कोई और पत्रकार होगा जिसने इतनी हिम्मत, साफगोई और भावनात्मक स्तर पर दोनों देशों सहित बांग्लादेश, नेपाल, भूटान को भी एक महासंघ बनाने की बात की होगी। वे लिखते हैं कि 'इन संबंधों में बेहतरी मेरी चाह भी रही है और कामना भी। मेरे लिए यह प्रतिबद्धता का मामला है न कि पुरानी यादों से जुड़ी भावनाओं का। मैं उम्मीद करता हूँ कि एक न एक दिन इस क्षेत्र के सभी देश साथ मिलकर सांझे हितों के लिए काम करेंगे। दक्षिण एशिया के सभी देश यूरोपीय संघ की

तरह अपना एक सांझा संघ बनाएंगे। इससे उनकी अलग-अलग पहचान पर कोई असर नहीं पड़ेगा, लेकिन इससे उन्हें गरीबी की समस्याओं से लड़ने में मदद मिलेगी और साथ ही अमीर और बेहद गरीब देशों के बीच की खाई भी पाटी जा सकेगी। मुझे पूरा यकीन है कि एक दिन दक्षिण एशिया शांति, सद्भावना और सांझे हितों के मामले में परस्पर सहयोग की दुनिया होगी। विकास, व्यापार और सामाजिक प्रगति इन सांझे हितों में सबसे ऊपर हैं। महाद्वीप पर लंबे समय से छाप नफरत और दुश्मनी के बादलों के बीच भी मैं यही उम्मीद और कामना करता रहा हूँ। कुलदीप नैयर सही मायनों में क्षेत्र के शांतिदूत हैं।

जो व्यक्ति साठ वर्षों के समय में इतनी सक्रियता से और इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं में रहा हो उसकी तत्कालीन राजनेताओं आदि पर टिप्पणी भी गौरतलब है। नेहरू के बारे में लिखते हैं (पृ. 176) नेहरू ने आसान विकल्पों का रास्ता चुना था। ऐसे समझौते किए थे जो उन्हें नहीं करने चाहिए थे। देश का आर्थिक नक्शा बदलने में उन्होंने इतनी धीमी रफ्तार दिखाई थी कि गरीबी ने बड़ी सख्ती से देश में अपने पांव जमा लिए थे। फिर भी वे मेरे हीरो थे और मैं उनकी कमियों के लिए यह तर्क देता था कि देश को एक रखने के लिए उन्हें सभी तरह के हितों, प्रदेशों और धर्मों का ध्यान रखना पड़ता था। इसके बावजूद मुझे यह भी लगता था कि पटेल की मृत्यु और चीन के साथ लड़ाई के बीच उन्हें 12 वर्ष का समय मिला था। इस अवधि में वे देश के विकास को ज्यादा तेज रफ्तार दे सकते थे और एक कल्याणकारी राज्य की कहीं ज्यादा गहरी आधारशिला रख सकते थे। उनके विचारों में आधुनिकता और परंपरा का अनूठा संगम दिखाई देता था।

नेहरू की मृत्यु के बाद गद्दी की जोड़-तोड़ में लगे नेता और उनके कारनामे भी कम रोचक नहीं हैं। मोरारजी देसाई, लाल बहादुर शास्त्री के साथ-साथ जयप्रकाश नारायण तक का नाम उभरा था। यहां मीडिया, अखबार की भूमिका का प्रसंग भी कम रोचक नहीं है। कुलदीप नैयर लिखते हैं कि उन्होंने यू. एन.आई. की तरफ से खबर जारी की कि प्रधानमंत्री पद के लिए मोरारजी देसाई ने अपनी दावेदारी का ऐलान कर दिया है। (पृ. 178) मैंने सोचा भी नहीं था कि यह छोटी-सी

खबर मोरारजी को इतना नुकसान पहुंचा देगी जितना कि इसने पहुंचाया। सरकारी संस्था 'प्रेस इंफॉर्मेशन ब्यूरो' (पी.आई.बी.) से जुड़ा रहने के कारण मुझे छपे हुए शब्द की ताकत का इतना अंदाजा नहीं था। मोरारजी के समर्थकों का कहना था कि इससे उन्हें कम-से-कम 100 वोटों का घाटा हो गया। लोग सोचने लगे कि मोरारजी देसाई इतने महत्वाकांक्षी हैं कि अपना दावा पेश करने के लिए उन्होंने नेहरू की चिता की आग ठंडी होने की भी प्रतीक्षा नहीं की।

बाद में मुझे इस खबर के चमत्कार का अहसास जरूर हो गया था। के. कामराज संसद भवन की सीढ़ियों से उतरते हुए मेरे कान में फुसफुसाए थे, "थैंक्यू!" शास्त्री ने मुझे घर बुलाकर कहा था, "अब किसी और स्टोरी की जरूरत नहीं है। मुकाबला खत्म ही समझो!" उनके कहने का मतलब था कि पलड़ा उनके पक्ष में झुक चुका था और उनके चुने जाने में कोई संदेह नहीं रह गया था। मैंने उन्हें यह समझाने की कोशिश की कि इस खबर के पीछे किसी को फयादा या नुकसान पहुंचाने की मंशा नहीं थी। उन्होंने हॉटों पर उंगली रखकर मुझे चुप रहने का संकेत किया। बाद में, पार्टी का नेता चुने जाने के बाद उन्होंने संसद भवन की बाहरी सीढ़ियों पर सबके सामने मुझे गले से लगा लिया। जहां तक मोरारजी देसाई का सवाल था, वे जिंदगी भर यही समझते रहे कि मैंने शास्त्री की तरफदारी करते हुए ही वह खबर जारी की थी। मैं जब भी इस मामले का जिक्र करता तो वे कहते, "लोगों को इस्तेमाल करने का शास्त्री का अपना तरीका था, और लोगों को इसका पता तक नहीं चलता था।" मेरे ख्याल से मोरारजी को अपने समर्थकों को दोष देना चाहिए था, जो नेहरू की अंत्येष्टि के दिन ही सीना ठोककर उनकी दावेदारी की बात करने लगे थे। इससे बहुत से सांसद उनसे उखड़ गए थे।

जवाहर लाल नेहरू के बाद बने प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री। शास्त्री जी के बारे में कुलदीप नैयर लिखते हैं—एक निर्बल को बलवान की भूमिका सौंप दी गई थी। एक निरीह से व्यक्ति को पृथ्वी के सिंहासन पर बिठा दिया गया था। वह व्यक्ति जिसने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान टाइफाइड से ग्रस्त अपनी बेटी के इलाज के लिए पैसे न होने के कारण मौत के मुंह में जाते देखा था, अब देश का प्रधानमंत्री

था। जब कामराज योजना के अंतर्गत शास्त्री को सरकार से बाहर बैठना पड़ा था तो उन्होंने अपने भोजन को एक सब्जी तक सीमित कर दिया था, और अपनी सबसे मनपसंद सब्जी आलू खाना छोड़ दिया था क्योंकि उन दिनों आलू काफी महंगे बिक रहे थे। गरीबी ने उन्हें विनयशील बना दिया था और लोगों को यह बड़ी प्यारी खूबी प्रतीत होती थी। अहंकार, दंभ और घमंड से भरे राजनीतिज्ञों की भीड़ में उनकी विनम्रता हर किसी का मन मोह लेती थी। शास्त्री जी की मृत्यु से संबंधित कुछ प्रसंग बहुत विस्तार से पहली बार सामने आए हैं। सच और अनुमान को जन्म देते। इस पर किसी ने टिप्पणी की कि ये सच्चाई तभी सामने आती तो अच्छा रहता। अब बहुत देर हो चुकी है।

बहुत कम पत्रकारों में इतनी साफगोई और निष्पक्षता बची है। इंदिरा गांधी के पास नेहरू जैसा रुतबा तो नहीं था लेकिन फिर भी लोग उन्हें नेहरू की परंपरा की कड़ी के रूप में ही देख रहे थे। कुलदीप नैयर लिखते हैं कि उनके चुनाव पर (पृ. 211) दूसरी राजनीतिक पार्टियों की प्रतिक्रिया उम्मीद के अनुसार ही थी। दक्षिणपंथी उनके वामपंथी रुझान को लेकर आशंकित थे। जनसंघ और राजगोपालाचारी द्वारा गठित दक्षिणपंथी 'स्वतंत्र पार्टी' खुलेआम उनके रूस-समर्थक होने की बात कर रहे थे। वामपंथियों को वे मोरारजी देसाई की तुलना में कहीं ज्यादा रास आ रही थीं, हालांकि वे उनके पुराने और कटुतापूर्ण रवैये को नहीं भूले थे। कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में वे कम्युनिस्टों के प्रति बहुत ज्यादा कठोर रही थीं। उन्होंने ही नेहरू को केरल की कम्युनिस्ट सरकार को बर्खास्त करने के लिए बाध्य किया था, हालांकि विधानसभा में उनका बहुमत था। मुख्यमंत्री ई.एम.एस. नंबूदिरपाद नेहरू से मिलने के लिए शिमला तक गए थे। वहां से निराश वापस लौटने के बाद उन्होंने कहा था कि नेहरू 'नाखुश और बेबस' थे।

ऐसे ही बेजोड़ आकलन वी.पी. सिंह, मनमोहन सिंह, राजीव गांधी, अटल बिहारी वाजपेयी, आडवाणी से लेकर सारे नेताओं के हैं। कुछ बेहद रोचक प्रसंग भी हैं जैसे नेहरू की मृत्यु पर बनारस से हवन सामग्री और चंदन जैसी चीजों का इंतजाम इंदिरा गांधी के इशारे से हुआ था। विजयलक्ष्मी पंडित इससे बेहद नाराज थीं क्योंकि यह नेहरू के सिद्धांतों के खिलाफ था। एक और प्रसंग कि कैसे

इंदिरा गांधी नहीं चाहती थीं कि लाल बहादुर शास्त्री की समाधि दिल्ली में बने लेकिन जब ललिता शास्त्री ने आमरण अनशन की धमकी दी तो इंदिरा गांधी को 'जय जवान जय किसान' के साथ समाधि दिल्ली में बनानी पड़ी।

पुस्तक में ये प्रसंग विवरण भर नहीं हैं। आजाद भारत की हर सत्ता को उन्होंने बहुत करीब से देखा है, उनकी उपलब्धियों और षड्यंत्र सभी को। भाषा और वाणी के उतार-चढ़ाव के साथ ऐसी पठनीयता रचते हैं कि कहानी और उपन्यास भी असफल हो जाएं। इतिहास का निर्माण ऐसे पत्रकार लेखक ही करते हैं। वे जो खुली आंखों और कलम से उस दौर के गवाह रहे हैं। इन्हीं विवरणों से आज का राजनीति शास्त्र और कल का इतिहास लिखा जाएगा। जीवनियां भी उन सभी चरित्रों की जिन्होंने इस दौर में अपनी छाप छोड़ी। इसीलिए ऐसी किताबें इतनी ही तैयारी और धैर्य के साथ ज्यादा लिखी जानी चाहिए।

आत्मकथा लिखने में बीस-बाईस वर्ष कम नहीं होते। इसीलिए उसके जीवन दर्शन के भी कई रंग पुस्तक में झलकते हैं। 'मुझे नहीं मालूम कि जीने की कला क्या है। मैं सिर्फ जीया हूँ। कई बार सिर्फ सुबह उठकर रोजमर्रा के ढर्रे का पालन करते हुए रात को वापस बिस्तर में लेटते हुए। परिस्थितियां मुझे इस स्थिति से दूसरी स्थिति में धकेलती रही हैं और मैं उनके साथ अपना तालमेल बिठाने की कोशिश करता रहा हूँ। मैं अक्सर सोचता रहा हूँ कि जिंदगी को मैं नियंत्रित कर रहा हूँ या जिंदगी मुझे नियंत्रित कर रही है। समय एक निर्बाध नदी की तरह गुजरता रहा है, सिर्फ बहता रहा है।

लेकिन इस निर्बाध नदी की यात्रा निःसंदेह आजाद भारत का प्रामाणिक दस्तावेज है। इस देश के हर नागरिक के लिए प्रासंगिक।

एक जिंदगी काफी नहीं (बियोड द लाइंस)/ कुलदीप नैयर/ अनुवाद : युगांक धीर/ राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 600

96, कला विहार अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1, एक्सटेंशन, दिल्ली-91, फो. 011-22744596 (घर), 011-23383315 (कार्या.)

सामंती मूल्य और स्त्री संघर्ष के आयाम

जवाहर पांडेय

हिं

दी कथा साहित्य के सुपरिचित हस्ताक्षर और प्रसिद्ध समाजशास्त्री सुभाष शर्मा अपने समृद्ध लेखन की विकास यात्रा में स्त्री मात्र के सवालों से

टकराते हैं, जो वैश्विक स्तर पर उनके वांछित अधिकारों से बेदखल करता रहा है। हाल ही में प्रकाशित 'भारतीय महिलाओं की दशा' पुस्तक इस विषय पर उनके गंभीर चिंतन और ज्ञानात्मक अनुभवों पर आधारित एक विश्लेषणात्मक कृति है, जिसका अन्तिम उद्देश्य समाज में उनके वाजिब हक दिलाने की समकालीन जरूरत है। पुरुष सत्ता प्रधान भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत ही दारुण है।

पश्चिमी देशों में जहां बीसवीं सदी के आरंभ में ही सक्रिय महिला आंदोलन की शुरुआत हुई और निस्संदेह इस आंदोलन के कारण उन देशों में उसकी सामाजिक स्थिति में गुणात्मक बदलाव आया पर भारत और विकासशील दूसरे देशों की स्थिति शोचनीय रही। 1975 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया। विश्व के तमाम देशों ने महिलाओं के अधिकार के प्रति अपनी सक्रियता दिखाई पर एजेंडा में भिन्नता रही यह एक ऐतिहासिक घटना थी जब भेद-भाव मिटाकर मुख्यधारा में लाने की सकारात्मक चेष्टा की गई। स्त्री विमर्श समुचित और अनुकूल वातावरण निर्माण की प्रक्रिया है। नारी विषयक तमाम तरह के आंदोलन, विमर्श और उसके संवैधानिक अधिकार क्या समतामूलक समाज निर्माण में अपनी सकारात्मक पहल कर पाते हैं! अड़चनें क्या हैं! सभी प्रश्नों पर लेखक ने गंभीरता से विचार किया है।

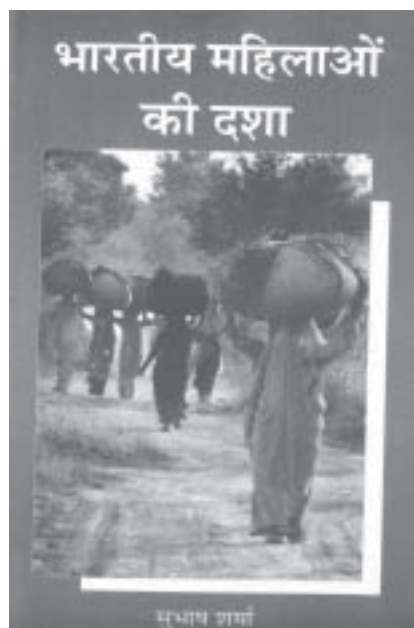
लेखकीय भूमिका के अलावा पुस्तक आठ खंडों में विन्यस्त है। यथा—महिला अधिकार मानवाधिकार है, विश्व में नारी-मुक्ति आंदोलन : एक रूप रेखा, महिलाओं का

सवाल : सैद्धांतिक पक्ष, महिलाओं की संवैधानिक एवं वैधानिक स्थिति, महिलाओं की सामाजिक स्थिति, महिलाओं की आर्थिक स्थिति, महिलाओं की राजनैतिक स्थिति, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा एवं शोषण।

नारी की वर्तमान दशा का यथार्थ घोर अमानवीय है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत अपमान, शोषण उत्पीड़न और निरंतर हिंसा किसी भी देश के लिए शर्मनाक स्थिति है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का कम प्रतिशत इस बात का भी साक्षी है कि जन्म के बाद या इस प्रौद्योगिकी युग में जन्म के पहले गर्भ में ही मार दिया जाता है। जनसंख्या प्रतिशत कम और मृत्यु दर ज्यादा उसकी नियति नहीं, वह वातावरण है जहां जीने का समुचित हक नहीं दिया जाता। सती प्रथा, बाल-विवाह, केवल ऐतिहासिक स्मृति नहीं, आज भी अनेक समाजों में यह परंपरा चली आ रही है। लड़के और लड़कियों में भेद-भाव, पालन-पोषण, खान-पान, रहन-सहन सबमें विद्यमान है। वस्तुओं की तरह बच्चियों की खरीद-बिक्री, देह-व्यापार, छेड़छाड़, बलात्कार, दहेज-हत्या

जैसे अमानुषिक कृत्य इस देश में जारी ही नहीं, भोगवाद के इस दौर में बढ़ा है। अस्तु शर्मा जी ने अपनी इस पुस्तक में मानवाधिकार की अवधारणा के भीतर उन जानकारियों को शामिल किया है, जो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इन कुप्रथाओं को दूर करने की रणनीतियां क्रियान्वित की गई है। मूल रूप से प्रमुख समस्याओं को शामिल कर उनके हितों के रक्षार्थ प्रतिबद्धताएं दिखाई गई हैं। प्रतिबद्धताओं के सच और झूठ का आकलन इस कृति में शामिल हुआ है तो बेशक इस बात का ध्यान रखा गया है कि सब कुछ कहीं हवा-हवाई तो नहीं है। अकारण नहीं कि वह कहते हैं, "महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए 9वीं योजना में पहली बार महिलाओं के लिए उपयोजना शामिल की गई जिसे 14 अधिकारियों और 7 गैर-सरकारी संगठनों के एक कार्य समूह ने महिला एवं बाल विकास विभाग के तत्वावधान में 1996 में तैयार किया था किंतु दुर्भाग्यवश वह उपयोजना शाब्दिक चमत्कार और वायदों से भरी पड़ी है। उसमें समकालीन मुद्दों की आलोचनात्मक तरीके से विवेचना नहीं की गई है और न मूर्त उपाय सुझाए गए हैं।" (पृ. 17) महिलाओं को पंचायती राज संस्थाओं तथा स्थानीय निकायों में दिए गए आरक्षण के यथार्थ का सच कुछ और है। कुछ राज्यों ने 50 प्रतिशत आरक्षण कर डाला है पर उस सत्ता का हरण पतियों, देवरों, ससुरों ने कर रखा है। लेखक की दृष्टि में महिला सम्मान का सवाल सिर्फ सामाजिक मुद्दा नहीं और ना ही वह आर्थिक मुद्दा है बल्कि राजनीतिक सवाल सबसे पहले है।

नारी आंदोलन की सार्थकता पर सतर्क दृष्टि से इस बात पर यहां चिंतन किया गया है कि जोश या आक्रोश में पुरुषों के प्रति प्रतिक्रियात्मक समझ के कारण कहीं शत्रुता का भाव नहीं पाल लिया जाए। मूलभूत समस्याओं के निदान के हिमायती सुभाष शर्मा यह मानते हैं कि महिलाओं के अधिकार का



सवाल अंततः मानवाधिकार के अंतर्गत शामिल है और इसके प्रति एक संवेदनशील विचार और अनुकूल कार्रवाई अपेक्षित है।

महिलाओं का सवाल : सैद्धांतिक पक्ष के आलोक में महिलाओं के सह-संबंधों के सवाल—जैविक, प्रकार्यात्मक, सांस्कृतिक श्रम-विभाजन, मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी और उत्तर आधुनिकतावादी सिद्धांत को दृष्टि केंद्र में रखकर समझने और समझाने की कोशिश है, जिसका उद्देश्य है महिलाओं के निज पहचान को चिह्नित कर विकास की सकारात्मक दिशा को निर्दिष्ट किया जाए और जीवन के सभी क्षेत्रों में उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया जाए।

लेखक ने जोर देकर कहना चाहा है कि विश्व में अमेरिका पहला देश रहा है, जहां नारी मुक्ति आंदोलन 19वीं सदी में शुरू हुआ, किंतु उस आंदोलन की परिणति दो विपरीत रूपों में दिखाई पड़ी। विकास की दृष्टि से इसकी प्रगति व्यावसायिक प्रशासन/प्रबंधन, राजनीति में बढ़ती भागीदारी, सांस्कृतिक मूल्य, शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में भेदभावपूर्ण व्यवहारों के प्रति नए कानून और अन्य हितों की रक्षा में सफलता ऐतिहासिक उपलब्धि रही किंतु पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्र में इतनी गिरावट आई कि स्वयं का ही जीवन सवालियों के घेरे में आ गया और पारिवारिक विघटन होने लगा।

इन दिनों स्त्री विमर्श करने वाले उत्साही चिंतक भारतीय संविधान और कानून को अपर्याप्त मानकर उसकी खिल्ली उड़ाने से नहीं हिचकते और अपने कथ्य के पक्ष में अनेक दलील प्रस्तुत करते हैं। इन चिंतकों के अनुसार मौजूदा विधान, संविधान कानून स्त्रियों को भयभीत अधिक करता है, सुरक्षा की गारंटी कम देता है जिसे 'लॉ अगेस्ट वूमन' कहा जाता है। इस कथन के पीछे मूल तर्क यह है कि तमाम न्यायशास्त्रों के कानून पुरुष-हित को ध्यान में रखकर किए गए हैं। नारी संबंधी अधिकांश कानून धर्मशास्त्र पर आधारित हैं जो पुरुषों द्वारा निर्मित हैं।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संघठन (संयुक्त राष्ट्र) की एक रिपोर्ट के अनुसार—“दुनिया की 98 प्रतिशत पूंजी पर पुरुषों का कब्जा है। पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पाने में औरतों को और हजार वर्ष लगेगे।” स्त्री विमर्श की कोई सकारात्मक पहल हो सकती है तो यही कि इस मिथक को हर हाल में तोड़ना ही होगा। लिजलिजी भावुकता से उसकी सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति और

राजनैतिक स्थिति का जायजा लिया जा सकता है। सकारात्मक बदलाव इस ढांचे में संभव नहीं दिखता। लेखक ने इस पुस्तक में इन तीनों स्थितियों को अलग-अलग अध्यायों में गंभीरता से विश्लेषित किया है।

स्त्री-मुक्ति आंदोलन में विकास का मुद्दा आर्थिक विकास से गहरे संबंधित है। आर्थिक अध्याय के अंतर्गत लेखक ने आंकड़े सहित उसकी आर्थिक भागीदारी का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। उच्च प्रशासनिक सेवा से लेकर न्यायिक सेवा के क्षेत्र में महिलाओं की अल्प भागीदारी निराशाजनक है और यह स्थिति सोचने को मजबूर करती है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी महिला विकास की यात्रा इतनी ठहरी-ठहरी क्यों है। पुस्तक में दिए गए आंकड़े (राज्यवार) उन दावों को एकबारगी खारिज करते हैं—जो मानते हैं कि महिला विकास की उपलब्धियां संतोषजनक हैं। बतौर लेखक—सरकार द्वारा निरंतर पर्याप्त भागीदारी सुनिश्चित नहीं करने का दुखद परिणाम माना जा सकता है। कल तक यह माना जाता था—स्त्री-शिक्षा एवं तकनीकी शिक्षा के अभाव के कारण लक्ष्य दूर है। पर आंकड़े सच के दूसरे पक्ष की ओर संकेत करते दिखते हैं। यह सही है कि भारतीय समाज में भाषा और जाति का विभेद है। जीवन शैली अलग-अलग है, पर कहीं-न-कहीं एकसूत्रता के बीज भी दिखाई देते हैं। लेखक ने सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक जटिलताओं को केंद्र में रखकर उन तत्त्वों की खोज की है जो उनके विकास के मार्ग को अवरुद्ध करते हैं। राजनीतिक इच्छा शक्ति उसके विकास की राह में बड़ा रोड़ा है। राजनैतिक स्थितियों का लेखा-जोखा इस पुस्तक की रचना के केंद्र में है। इसके हवाले से बार-बार यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि कमजोर इच्छा शक्ति के कारण लोकसभा और विधान मंडल में महिला नेतृत्व अपेक्षाकृत कम है। अपवाद की तरह कुछ राज्यों ने पंचायतों में पचास प्रतिशत महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की है, जिसमें बिहार न सिर्फ एक राज्य है बल्कि इस श्रेणी का पहला राज्य सिद्ध हुआ है जिसने आगे बढ़कर पहल की है। 33% आरक्षण का मामला कुतर्कों और पूर्वाग्रहों के कारण स्थगित है। अवसर मिले तो राजनीतिक अभिव्यक्ति खुलकर सामने आए। संकट और भी है। महिला शोषण का एक बड़ा आधार उसके विरुद्ध हिंसात्मक कार्रवाई है, समाज से अधिक घरेलू हिंसा अवश्य ही चिंता का विषय है। लेखक ने कई

अध्ययनों से स्पष्ट किया है कि अशिक्षित परिवारों में हिंसात्मक घटनाएं अधिक होती हैं। स्त्री की आर्थिक निर्भरता, उनकी अशिक्षा और अज्ञानता प्रमुख कारण है। हिंसा और शोषण के प्रमुख सामाजिक आधार—सतीप्रथा, विधवापन, वेश्यावृत्ति, देहेज प्रथा, कन्या भ्रण हत्या, डायन-प्रथा आदि हैं।

निष्कर्षतः महिला सशक्तीकरण और मुक्ति आंदोलन के क्षेत्र में इस पुस्तक का अपना विशिष्ट महत्त्व है। जैसे तो हिंदी के रचनात्मक साहित्य में स्त्री विमर्श को केंद्र में रखकर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं किंतु समाजशास्त्रीय दृष्टि से स्त्री विमर्श के लेखन का अभाव है खासकर कानून और संविधान को केंद्र में रखकर पुस्तक लेखन का अकाल है—कुछ अपवादों को छोड़कर। सूक्ष्म और जटिल आयामों को स्पर्श करने की कोशिश से लेखक बचते रहे हैं। इस अभाव को यह पुस्तक दूर करने में सक्षम है। विश्वस्तर पर नारी विमर्श की चेतना को आधार बनाकर भारतीय महिला-विमर्श का आकलन संभव नहीं है क्योंकि यहां की जमीनी हकीकत कुछ और बयां करती है। वर्गीय दृष्टि से भारतीय महिलाओं में भेद है। शहरी उच्च वर्ग, शिक्षित मध्य वर्ग और ग्रामीण अशिक्षित महिलाओं, दलितों-पिछड़ों और अल्पसंख्यकों की स्थिति इतनी भिन्न रही है कि एक ही खांचे में रखकर स्थितियों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। हिंदी में स्त्री-विमर्श सरलीकरण और सतहीकरण का शिकार है। लेखक सुभाष शर्मा ने कतिपय गैर-पारंपरिक एप्रोच की विधियां अपनाकर उसके यथार्थ को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का एक ऐतिहासिक कार्य किया है। पुस्तक में 90 तालिका की सहायता से यथार्थपरक मूल्यांकन किया है। यह मात्र सैद्धांतिक बहस तक नहीं सिमटी है बल्कि ठोस विश्लेषण और अनेक प्रकार के सुझावों से समाविष्ट है।

देश में इन दिनों चल रहे तमाम नारीवादी आंदोलन और इससे संबंधित सरकारी गैर सरकारी संस्थाओं तथा व्यक्तियों के लिए यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी और सार्थक है जो एक तार्किक परिणति और विमर्श की ओर ले जाती है।

भारतीय महिलाओं की दशा/ सुभाष शर्मा/ आधार प्रकाशन प्रा.लि., एस.सी.एफ, 267, सेक्टर-16, पंचकूला (हरियाणा)-134113/ मूल्य : ₹ 550

303, चंचल अपार्टमेंट, नेहरू नगर, पाटलीपुत्र, पटना-800013, मो. 09431887703

चिंतामुक्त जीवन-शैली और अनुपम गद्य-शैली का अनोखा कॉकटेल : 'ग़ालिब छुटी शराब'

हरजेंद्र चौधरी

हिं

दी के आत्मकथात्मक तथा संस्मरण साहित्य के संदर्भ में मोटे तौर पर यह बात कही जा सकती है कि संस्मरणकार अपने व्यक्तित्व के नकारात्मक पक्ष को, अपनी कमीनगी और घटियापन को या तो छुपा जाता है या फिर उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करता है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि वह अपने संपर्क में आए लोगों की कमीनगी और कमियों पर तो उंगली और कलम उठाता है, पर खुद को पाक-साफ रूप में पेश करता है। हिंदी के धुरंधरों के दिल-दिमाग पर जो थोथे नैतिक आग्रह और दबाव पंजे गड़ाए बैठे रहते हैं, उनकी जकड़न में वह अपने-आपको नहीं उघाड़ पाता। उसके भीतर, उसके अवचेतन में कोई एक खाप पंचायत सदा सक्रिय रहती है। अपनी इज्जत बचाने के चक्कर में अधिकतर आत्मकथा-लेखक और संस्मरणकार जाने-अनजाने 'ऑनर किलिंग' जैसा अपराध करते पाए जा सकते हैं। 'रचनात्मक खुलापन और रचनात्मक ईमानदारी' की हत्या करते हैं। अपने अहम् को चोट पहुंचाना उन्हें किसी भी तरह गवारा नहीं है; उनके लेखन से दूसरों का सम्मान-स्वाभिमान आहत होता हो तो हो! यदि कोई संस्मरणकार साहित्यिक खेमेबाजी में संलग्न रहा हो तो उसका लेखन ज़्यादा ही कीचड़-उछालू हो जाता है। दूसरों के प्रति 'उग्र' और आक्रामक होने वाले तो बहुत मिल जाएंगे, पर 'अपनी खबर' लेने वाले हिंदी में कम ही मिलेंगे।

हिंदी संस्मरण-साहित्य की 'मिथ्या आत्म-मंडन' वाली इस 'पाठक-भ्रमाऊ', 'पाठक-खिझाऊ' परंपरा-पृष्ठभूमि में यदि 'ग़ालिब छुटी शराब' (रवींद्र कालिया) जैसी

'पाठक-लुभाऊ' रचना पढ़ने को मिले तो ऊबे हुए पाठक-समूह के मन का मौसम सुहाना हो जाना स्वाभाविक है। दूसरों पर हंसना, व्यंग्य कसना सरल है, पर खुद पर हंसना और व्यंग्य कसना 'गरल' है, जिसे पीना हरेक के बस की बात नहीं है। उसके लिए मोटा जिगरा चाहिए। अगर जिगरा मोटा और मज़बूत हो तो शराब और 'गरल' दोनों को झेल जाता है। रचनाकार रवींद्र कालिया का जिगरा सचमुच बहुत मोटा और मज़बूत है। 'अपनी खबर' लेना एक दुःसाध्य काम है। इस पुस्तक में कालिया जी ने पांडे बेचन शर्मा 'उग्र' की तरह 'अपनी खबर' लेने में कहीं भी कंजूसी नहीं बरती। अपने लालचों, स्वार्थी विपथगमन-विचलनों और अपने 'सांवरे कारनामों' को लेखक ने न तो छुपाया है, न

ही उनका औचित्य खोजा है। मनुष्य आंतरिक रूप से न पूरी तरह सफ़ेद होता है, न पूरी तरह कालिमायुक्त; वह 'सांवरा' ही हो सकता है। अच्छाई-बुराई का गाढ़ा-पतला 'मिक्सचर'! 'ग़ालिब छुटी शराब' लेखक के निजी अनुभवों की रोशनी में मानवीय जीवन के वैविध्य व मनुष्य के स्वभाव की अनेक-पक्षता-अनेक-स्तरीयता को तर्कपूर्ण ढंग से उघाड़ती है। यह पुस्तक व्यक्ति के मूलभूत रुझान और उसके जीवन-क्रम के बीच की पारस्परिकता और अन्योन्याश्रिता का एक प्रामाणिक दस्जावेज़ कही जा सकती है।

तेईस अध्यायों में विभाजित इस पुस्तक की समूची संस्मरण-शृंखला सहज ही गहरी जीवन-दृष्टि के सूत्र में पिरोई गई है। व्यक्ति की मूल प्रकृति-प्रवृत्ति उसके जीवन की दिशा-गति निर्धारित-परिचालित करने में महत्वपूर्ण और प्रायः प्रमुख भूमिका निभाती है। जीवन में घटित होने वाले संयोगों और बदलते हालात की बारी बाद में आती है। इस बात के अनेक उदाहरण यहां मौजूद हैं। स्वयं संस्मरणकार की प्रवृत्ति विद्रोह, विचलन, स्व-संकल्प और आत्मनिर्णय की रही है। बचपन में जालंधर के आर्यसमाजी आदर्शों और निषेधों वाले पारिवारिक परिवेश में पलने वाले कालिया कॉलेज तक पहुंचते-पहुंचते शराब-सिगरेट आदि के विकट निषेधों को तोड़कर घुटन से मुक्ति पाने का सुख भोगने लगे थे तो सुदर्शन फाकिर असफल प्रेम के परिणामस्वरूप शराबी और शायर बना था। कपिल मल्होत्रा जैसा ज़हीन, पढ़ाकू युवक पारिवारिक उथल-पुथल के कारण नींद की गोलियां खा-खाकर मरा। पर "इस अवसाद को महज उसकी निजी समस्याओं से जोड़कर देखना शायद मुनासिब न होगा। अगर ऐसा होता तो इस कुंभीपाक



में वह अकेला होता। दूसरे लोग भी इस महामारी के शिकार हो रहे थे।...जालंधर उन दिनों पंजाब के बुद्धिजीवियों का काबा हुआ करता था। गिंजबर्ग कलकत्ता आया था, मगर उसकी छाया जालंधर पर भी पड़ रही थी।... स्वाधीनता-संघर्ष के दौरान पश्चिमी विचारधारा का सर्वथा निषेध था, सिर्फ देश को आज़ाद कराने की धुन थी। देश आज़ाद हो गया तो समाज में जैसे शून्यता भर गई। इस शून्यता को पश्चिम की चिंतन-पद्धति भरने लगी।” (पृ. 40) युवाओं में नशाखोरी के बढ़ते चलने के पीछे तत्कालीन मोहभंग भी एक बहुत बड़ा कारण था। कालिया जी ने अपनी नब्ज़ टटोलने के साथ-साथ अपने समय की और अपने समकालीनों की नब्ज़ टटोलकर पिछले अनेक दशकों की, या कहें कि बीती अर्धशती की सेहत का जायजा लिया है।

विद्रोह और विचलन की प्रवृत्ति का एक परिणाम ‘मयनोशी’ के रूप में सामने आया। साठोत्तरी कथा-लेखन भी वहीं से फूटा। मदिरापान और साहित्यिक लेखन कंधे से कंधा मिलाकर चलते रहे। लेखन की सेहत बेहतर बनी रही, पर 1997 आते-आते लेखक की सेहत बुरी तरह गड़बड़ा गई। 13 अप्रैल, 1997 को बैसाखी की जो शाम आई, वह लेखक के स्व-संकल्प और आत्मनिर्णय की परीक्षा की घड़ी बन कर आई थी। और कालिया जी ने अकस्मात और हठात् मदिरापान से मुक्ति पाने का चमत्कार कर दिखाया। “मैं तय कर चुका था कि अब और नहीं पिऊंगा। इस ज़िंदगी में छककर पी ली है। अपने हिस्से की तो पी ही, अपने पिता के हिस्से की भी पी डाली। यही नहीं, बच्चों के भविष्य की चिंता में उनके हिस्से की भी पी गया।...मैं एक ऐसा पंछी था जो सूरज ढलते ही चकहने लगता था, धीरे-धीरे वह चहचहाट बंद हो गई। मेरी फ़ितरत बदल गई, दोस्त बदल गए, प्रेमिकाएं बदल गईं।...अब राजा बेटे किस्म के दोस्तों के संग ज़्यादा समय बीतने लगा। शरीफ़, ईमानदार और वफ़ादार किस्म के दोस्तों के बीच न जाने क्यों मेरा दम घुटता है।...सच तो यह है कि आज भी मेरा मन शराबियों के बीच ज़्यादा लगता है।” (पृ. 17, 20) दृढ़ निश्चय के साथ लिए गए निर्णय और अकुंठ भाव से की गई आत्मस्वीकृतियों के फलस्वरूप क्रमशः यह पुस्तक अस्तित्व में आई और

बहुत लोकप्रिय हुई। ‘हंस’ में धारावाहिक प्रकाशन के बाद वाणी प्रकाशन से पुस्तक छपी। अभी हाल ही में इसे भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है। ज्ञानपीठ-संस्करण में अंतिम चार पृष्ठ पाठकों-समीक्षकों-आलोचकों की प्रतिक्रियाओं को समर्पित हैं।

‘अपनी खामियों और कमीनगियों पर ध्यान’ देने और खुद को काफी ‘स्वार्थी किस्म का इंसान’ स्वीकार करके लेखक ने पाठकों के समक्ष ‘कन्फ़ेशन’ करने का साहस दिखाया है। अपने समय और समकालीनों की नब्ज़ टटोलने के क्रम में शहरों, स्थानों तथा साहित्यिक आंदोलनों और साहित्यकारों के स्वभावों-प्रभावों का सहज परंतु गहरा विश्लेषण प्रस्तुत करके रवींद्र कालिया ने इस पुस्तक को बहुत विशिष्ट और मूल्यवान उपलब्धि का दर्जा देने के पुष्ट आधार पेश कर दिए हैं। पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। संक्षिप्तता का निर्वाह करने के लिए नीचे कुछ उद्धरण लिए जा रहे हैं।

शहरों के स्वभावों की भिन्नता को कालिया जी ने इस तरह विश्लेषित-प्रस्तुत किया है: “उन दिनों *जालंधर* में ऐसा वातावरण था कि हम लोग साहित्य में ही जीते थे। साहित्य पढ़ते, सुनते और ओढ़ते।” (पृ. 36) “फ़ाकिर का यह चैम्बर पंजाब की साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का स्नायु-केंद्र था। विभाजन के बाद जालंधर ही पंजाब की सांस्कृतिक राजधानी के रूप में विकसित हुआ था।” (पृ. 35) “भारत-चीन युद्ध चल रहा था जब मुझे डी.ए.वी. कॉलेज *हिसार* में लेक्चररशिप मिली थी।...धूल उड़ाती सड़कें, बंजर धरती और हड़ी-पसली तोड़ने लगी बस-सेवाएं सबसे पहले आतंकित करतीं। कहने को *हिसार* में दो डिग्री कॉलेज थे, मगर शहर देखकर लगता था कि यहां कोई हाई स्कूल भी न होगा।...रात को जंगली जानवरों के रोने की आवाज़ें आतीं। रात के टिकते ही सियारों का सामूहिक रोदन शुरू हो जाता और भोर तक चलता।...रुदालियों की परंपरा कुछ ऐसे ही माहौल में शुरू हुई होगी। विलाप करने के लिए यह आदर्श स्थान था।” (पृ. 49) “*इलाहाबाद* अपेक्षाकृत एक कठिन और बददिमाग़ शहर है। यहां जड़ें जमाना बहुत मुश्किल काम है, लेखक के लिए ही नहीं, प्रकाशक के लिए भी।...भारती *इलाहाबाद* को

लेकर बहुत सशक्त रहा करते थे। वह अकसर कहा करते थे कि यह एक ऐसा शहर है जो दूर रहने पर हांट करता है और पास जाने पर सांप की तरह डसता है।...असहमति, विरोध, अस्वीकार और आक्रामकता *इलाहाबाद* का मूल तेवर है।” (पृ. 157) “अगर जन्त का रास्ता *इलाहाबाद* से होकर जाएगा तो मैं जहन्नुम में जाना पसंद करूंगा।’ मिर्जा ग़ालिब ने अपने एक ख़त में *इलाहाबाद* के बारे में अपनी राय ज़ाहिर की थी।” (पृ. 155) “*इलाहाबाद* में *रानी मंडी* की जिस इमारत में मेरा ग़रीबख़ाना, शराबख़ाना, कारख़ाना और इबादतख़ाना था, स्वाधीनता से पूर्व राष्ट्रीयता महत्त्व का पत्र ‘अभ्युदय’ वहीं से प्रकाशित, मुद्रित और संपादित होता था।...रानी मंडी को नगर का ज्वलन बिंदु (इग्नीशन प्वाइंट) कहा जा सकता है। यह बिंदु किसी भी समय गंगा-जमुनी का उत्कृष्टतम और निकृष्टतम उदाहरण पेश कर सकता है। विजयादशमी पर मुसलमान पौराणिक चौकियों की झांकी देखने के लिए पंक्तिबद्ध खड़े नज़र आएंगे, भगवान राम के रथ का शृंगार भी मुसलमान कारीगर ही करेंगे तो हिंदू तो हिंदू परिवार भी उसी निष्ठा से अलम और दुलदुल पर श्रद्धा-सुमन चढ़ाते देखे जा सकते हैं।...शहर पर जब फितनों का भूत सवार होता है तो दंगे का पहला पत्थर भी इसी मुकाम से उठता है। यकायक बम और कड़ों का आतंक छा जाता है।” (पृ. 161)

साहित्यिक परिदृश्यों और साहित्यकारों पर कुछ टिप्पणियां देखिए। “उन दिनों अधिसंख्य लेखकों की रचनाओं में आर्यसमाजी मानसिकता का पुट कुछ ज़्यादा ही रहता था, जबकि उनके कर्म में यह नदारद था। शायद यही वजह थी कि हिंदी कहानी में भाषा, संवेदना और कथ्य के स्तर पर कहीं कोई परिवर्तन लक्षित होता, तो ये लोग आक्रामक हो उठते।” (पृ. 89) “कहानी के केंद्रीय विधा के रूप में स्थापित हो जाने से ‘परिमल’ के खेमे में बहुत खलबली थी। कहानी समय के मुहावरे, वास्तविकता के प्रामाणिक अंकन तथा सामाजिक परिवर्तन के संक्रमण की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गई थी। ‘परिमल’ काव्य की ऐंद्रजालिक और व्यक्तिवादी रोमानी बौद्धिकता को कहानी पर आरोपित करके कुछ कवि कहानीकारों—कुंवर नारायण, रघुवीर

सहाय, सर्वेश्वर तथा कुछ कहानीकार कवियों—निर्मल वर्मा आदि को नए कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित कराने के प्रयत्न में था। आज मुझे लगता है कि यह अकारण नहीं कि ‘परिमल’ एक भी सफल कथाकार उत्पन्न नहीं कर पाया। श्रीलाल शुक्ल अपवाद हैं जबकि वे भी अपने को परिमिलियन नहीं मानते।...‘परिमल’ की पूरी मानसिकता व्यक्तिवादी थी, जो कहानी की समाजोन्मुख धारा में एक नगण्य-सा द्वीप बनकर रह गई थी।” (पृ. 95) “मैंने जीवन में जो कुछ भी पाया है कथा लेखन के कारण। जितना भी भारत देखा, कहानी ने दिखा दिया। ज़िंदगी में शादी से लेकर नौकरियां और छोकियां तक, गर्ज यह कि जो कुछ भी मिला, कहानी के माध्यम से ही। कहानी ओढ़ना-बिछौना होती गई, ज़रियामाश बन गई। कहानी ने नौकरियां दिलवाई तो छुड़वाई भी। कहानी ने ही प्रैस के कारोबार में झोंक दिया। कहानी के कारण घाट-घाट का पानी पीने का ही नहीं, घाट-घाट का दारू पीने का भी अवसर मिला।” (पृ. 98) “उन दिनों दिल्ली में लेखकों की कई जमातें थीं। एक जमात साधन-सम्पन्न लेखकों की थी और एक जमात फकीर लेखकों की। एक दुनिया अफसर लेखकों की और एक दुनिया मातहत लेखकों की। एक वर्ग समर्पित लेखकों का और एक शौकिया लेखकों का। हर कोई इस दौड़ में शामिल था।” (पृ. 98-99) “उन दिनों योगेश गुप्त दरियागंज का गोर्की था। कुछ दौर ही ऐसा था कि हर शहर का अपना गोर्की होता था। दिल्ली चूकि महानगर था, इसलिए दिल्ली के कई गोर्की थे। भूषण बनमाली बल्लीमारान का गोर्की था तो शक्तिपाल केवल लाजपतनगर का।” (पृ. 104) “राकेश, कमलेश्वर और यादव नई कहानी के राजकुमार थे, जिन्होंने कहानी के शहंशाहों को धूल चटाकर सिंहासन पर कब्जा कर लिया। लग रहा था कि वे किसी बिजनेस इंस्टीट्यूट से मार्केटिंग का डिप्लोमा लेकर कथा-क्षेत्र में उतरे हैं।...दरियागंज उन दिनों साहित्य की राजधानी था।...‘हंस’ का जन्म पुनर्जन्म नहीं हुआ था, मगर राजेंद्र जी के पेट में आ चुका था।...योगेश गुप्त उन दिनों राजेंद्र यादव का मैत्रेयी पुष्पा था और कुछ लोग उसे छोटा जैनेंद्र भी कहते थे।” (पृ. 104-105) शराब पीकर ‘कै’ करने के अनेक

किस्से और ‘कै’ के विविध रूपों-प्रकारों के विवरण का निष्कर्ष देखिए—“मैं तो इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि कै करना कहीं अच्छा है, बजाय इसके कि यह कै लेखन के रूप में की जाए।” (पृ. 174) “भैरव जी ने साठोत्तरी पीढ़ी के कथाकारों को हरामियों की पीढ़ी कह दिया था। ...तय पाया गया कि...हम तीन यानी ज्ञान, दूधनाथ और मैं भैरव का घेराव करें। रात के लगभग दस बज चुके थे जब हम लोग लूकरगंज स्थित भैरव दादा के निवास पर पहुंचे।

“‘कहानी के स्तालिन को जगाओ। कुछ हरामी उनसे मिलने आए हैं।’ ज्ञान ने ललकारा। जवाब में घर की सारी बत्तियां गुल हो गई।” (पृ. 219-220) “यह इलाहाबाद की खासियत है कि यहां सबको सबके बारे में सब कुछ मालूम रहता है। बतरस यहां का मूल रस है।...इसी खुसुर-पुसुर से मुझे पता चला था कि भैरव जी जितने प्रगतिशील हैं, उससे बड़े स्वर्ण-प्रेमी हैं। वह हर माह सोना ज़रूरत खरीदते हैं, चाहे एक ग्राम ही क्यों न खरीदें!...वे सुनारों के यहां छिपकर जाते, जैसे किसी तवायफ़ के यहां जा रहे हों।...मुझे लगता है कि लगातार संघर्ष करते-करते असुरक्षा की भावना ने उन्हें स्वर्ण-प्रेमी बना दिया था। शायद इसी भावना के तहत वह छद्म नाम से ‘उसकी अंगड़ाई’ जैसे फुटपाथी उपन्यास भी लिख दिया करते थे। ये सब बातें मुझे भैरव जी की शिष्य मंडली ने ही बताई थीं...।” (पृ. 223)

उपर्युक्त उद्धरणों से तत्कालीन साहित्यिक परिदृश्य व साहित्यकारों में व्याप्त अंतर्विरोधों और दोगलेपन का भी खुलासा होता है। बहुविध कुंठाओं से ग्रस्त अनेक धुरंधरों की कथनी-करनी-लेखनी में ज़मीन-आसमान का अंतर दिखाई पड़ता है। पर रवींद्र कालिया ने अपनी खामियों को स्वीकार तथा प्रकट करके प्रकारांतर से अनेक अन्यों के दोगलेपन को लताड़ने का काम किया है। कुछ उदाहरण देखें। “यह सोचकर आज भी ग्लानि में आकंठ डूब जाता हूँ कि मां अपनी दवा के लिए पैसे देतीं तो मैं निस्संकोच ले लेता। वक्त ज़रूरत उनके हिसाब में गड़बड़ी भी कर लेता। कहना ग़लत न होगा, बड़ी तेज़ी से मेरा नैतिक पतन हो रहा था।” (पृ. 20) “मेरी मां की चिता जब धू-धूकर कर

जल रही थी, तो मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं जेब से सिगरेट का नया पैकेट जलाकर राख कर दूँ, जो मैंने श्मशान घाट पर जाने से ज़रा पहले मंगवाया था। सिगरेट मंगवाते समय भी मुझे बहुत ग्लानि और गहरा अपराधबोध हुआ था। अवसाद के उन मर्मांतक क्षणों में भी मैं अपनी क्षुद्र लालसाओं से ऊपर नहीं उठ पाया था।” (पृ. 280) “श्मशान से दो ही रास्ते फूटते हैं, एक अध्यात्म की ओर हरिद्वार जाता है और दूसरा मयखाने की तरफ़। मैं दूसरे रास्ते का ही पथिक रहा हूँ।” (पृ. 290) “मैं पहली फुर्सत में दारू का स्टॉक खरीदकर कुछ दिनों के लिए निश्चिंत हो जाता। घर में दारू का अभाव मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता था।...देखा जाए तो मद्यपान ही मेरे जीवन की एकमात्र सच्चाई थी। मद्यपान एक सामाजिक कर्म है, समाज से कटकर मद्यपान नहीं किया जा सकता। जो लोग ऐसा करते हैं, वे आत्मरति करते हैं। वे पद्य की रचना तो कर सकते हैं, गद्य की नहीं।” (पृ. 18)

‘ग़ालिब छुटी शराब’ मदिरापान की चार दशक लंबी परंपरा की गद्यात्मक परिणति है। रवींद्र कालिया की सेहत बिगड़ी तो हिंदी गद्य परंपरा के चेहरे पर ताज़गी भरा नया निखार आया। यह पुस्तक सद्य-स्नात, सद्य-युवा गद्य का अनोखा नमूना है। इस गद्य का सौंदर्य नैसर्गिक है, बनावटी मेकअप से निःसृत नहीं। पंजाब का अल्हड़, खिलंदड़ा स्वभाव यहां आत्मव्यंग्य और व्यंग्य के रूप में फूटा है। ठोस जीवन-अनुभवों से फूटे इस गद्य में ध्वन्यात्मकता के साथ-साथ दृश्यात्मकता का जादू भी पाठक के सिर चढ़कर बोलता है। इसकी भाषा नई गद्य-भाषा है, जब तक अद्वितीय। अनेक उक्तियों ने सूत्र-वाक्यों और सूक्तियों का रूप धर लिया है। इस पुस्तक को पढ़कर ही इसका पूरा आनंद लिया जा सकता है। सचमुच। चिंता मुक्त जीवन-शैली और अनुपम गद्य-शैली का अनोखा कॉकटेल है—‘ग़ालिब छुटी शराब’।

ग़ालिब छुटी शराब/रवींद्र कालिया/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 150

ई-1/32, सेक्टर-7, रोहिणी, नई दिल्ली-110085, ई-मेल : visproharwar@yahoo.com

मजाज की कहानी : छोटी बहन की जुबानी

साधना जैन

क

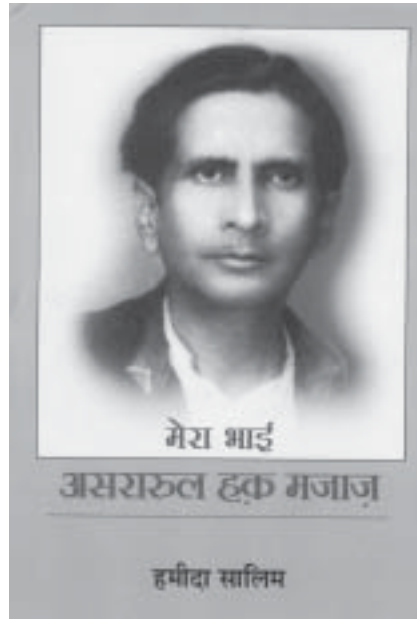
भी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी लेखक की एक रचना पाठकों में इतनी लोकप्रिय हो जाती है कि, वह सदा के लिए अमर हो जाती है। ऐसे कई गद्य और पद्य लेखक हिंदी में हैं तो उर्दू में भी कम नहीं। इस वक्त मैं केवल दो उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि करना चाहती हूँ। हिंदी के कथा लेखक चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' और उर्दू के शायर मजाज की 'ऐ गमे दिल क्या करूँ, ए वहशते दिल क्या करूँ' जैसी नज़्म जो पढ़ने-सुनने वालों को झकझोर कर रख देती है। इस दर्द भरी नज़्म के नायाब मोती की आब और चमक उनकी पूरी शायरी पर भारी पड़ती है। खुदा ने मजाज को इश्क की बूटी तो चटा दी पर उस इश्क की किस्मत लिखना भूल गया। कई पन्ने जिंदगी भर कोरे फड़फड़ाते रहे। फिर तो नाकाम मुहब्बत लिए दर्द की तंग और सुनसान गली से अकेले गुज़रना ही गुज़रना था। कोई चारा न था।

मजाज की छोटी बहन हमीदा सालिम ने 'मजाज मेरा भाई' नामक किताब में मजाज की जिंदगी के ऐसे बहुत से वाक्यांत लिखे हैं जो उनके पारिवारिक वातावरण, उनके बचपन, जवानी और उनकी शायरी के बारे में पाठक को बड़ी सादादिली और आत्मीयता से परिचित कराते हैं।

समीक्षकों का प्रायः यह आरोप होता है कि अपनों के बारे में लिखते हुए लेखक या लेखिका बहुत कांशस हो जाते हैं और नंगा सच लिखने से कतराते हैं। मेरा मानना है कि सच लिखना आसान नहीं होता और अपनों के बारे में तो और भी कठिन। सच्चाई बयान करने की तकलीफ़ उठाना सबके बस में नहीं होता। फिर पाठक कोई बच्चा तो नहीं होता

जो संकेतों या इशारों से बयान की गई सच्चाई को न समझे। वह खूब समझता है और बिल्कुल सही समझ लेता है। जो सच किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य तक न पहुंचाए, भला ऐसा सच बयान करके क्या हासिल। फिर अपने तो खैर अपने ही होते हैं। उनकी कुछ खामियां कुछ कमज़ोरियां अगर नज़रअंदाज़ कर भी दी जाएं तो लिखने वाले की तकलीफ़ आखिर को तकलीफ़ ही रहेगी। उससे वह कब तक और कैसे बचा रह सकता है। यह पुस्तक 'मजाज मेरा भाई' लिखते हुए उनकी छोटी बहन हमीदाजी न जाने कितनी बार यादों की उस तंग गली से अपना दर्द लिए अकेली गुज़रीं होंगी। हमीदाजी की इस तकलीफ़ से पाठक भी कराह उठता है।

अगर देवनागरी में यह पुस्तक छपकर न आई होती तो हम हिंदी वाले इतनी अच्छी पुस्तक से महरूम रह जाते। इसके लिए हमीदाजी और प्रकाशक दोनों कोटिशः धन्यवाद



के पात्र हैं। इसी संदर्भ में यह कहना मैं अपना फर्ज़ समझती हूँ कि अनुवाद की अहमियत सदा है और रहेगी। कभी कम न होगी। शुद्ध उर्दू के परस्तार अक्सर ये शिकायत करते हैं कि हिंदी वाले उर्दू के शब्दों का प्रयोग तो बखूबी करते हैं लेकिन लिखते हुए नुक्ता नहीं लगाते। शुद्ध उर्दू नहीं लिखते। हिंदी के देवनागरी में नुक्ते के लिए कोई स्थान नहीं है, न उसकी अनिवार्यता ही। खड़ी बोली और हिंदी की अन्य बोलियां ग्रामीण अंचलों की बोलियां हैं और उनमें उर्दू के शब्द दूध में शक्कर की तरह घुलकर रह गए हैं। उर्दू में जो आभिजात्य, नफ़ासत, नज़ाकत और शाइस्तगी है वह इस बात का परिचायक है कि उर्दू दरबारों की भाषा रही है। दरबारे ख़ास की भाषा जब लालकिले से चलकर दरबारे आम यानी चांदनी चौक में रच-बस जाएगी तो उसमें परिवर्तन तो होना लाज़िमी है। भाषा की लोकप्रियता को बहुत पाकीज़गी, बहुत पवित्रता की हदबंदी में न रखिए इससे उसकी लोकप्रियता और उम्र कम होती है। बहुत पवित्रता और बहुत पाकीज़गी को मंदिर और मस्जिद तक रहने दीजिए—ये मेरी विनम्र गुज़ारिश है।

हिंदी में अपनों के बारे में बहुत बेबाकी और पूरी आत्मीयता से लिखी गई किताबें कई हैं—जैसे सुधा अमृतराय की किताब अपने माता-पिता के बारे में 'मिला तेज से तेज' तो शिवरानी प्रेमचंद की किताब 'प्रेमचंद घर में'। इसी तरह डॉ. तेजप्रकाश चौधरी की किताब 'शमशेर जी मेरे बड़े भाई'।

ऐसी किताबें और आनी चाहिए। चाहे वे किसी भी भाषा से अनूदित क्यों न हों। ऐसी किताबों से पाठकों और लेखकों के बीच आत्मीयता और अपनेपन का संचार तो होता ही है—भाईचारा और सद्भाव भी बढ़ता है।

मैं 'मजाज मेरा भाई' नामक किताब में वर्णित कुछ खास वाक्यात का ज़िक्र करूंगी जो हमीदाजी ने पाठक की जानकारी के लिए बड़ी साफगोई से लिखे हैं।

'मजाज मेरा भाई' में वे अपने नामकरण का एक बहुत दिलचस्प वाक्या बयान करती हैं। उनका नाम बचपन में जकीया रखा गया था। लेकिन भाई मजाज ने जिद करके उनका नाम बदलवाया और हमीदा रखा गया। वो यूँ कि लखनऊ से ब्याहकर एक दुल्हन रुदौली आई। उन बहुत ही खूबसूरत भावज साहिबा के हुस्न के मजाज साहब कायल हो गए और उन नई भावज साहिबा के सरापा हुस्न पर यों निसार हुए कि अपनी प्यारी छोटी बहन का नाम बदलकर हमीदा रखवाया कि शायद कालांतर में उनकी छोटी बहन उन भावज साहिबा की तरह खूबसूरत निकल आए और उनकी हुस्नपरस्ती की लाज रह जाए।

मजाज बड़ी मन्नतों और मुरादों से बड़े हुए। जिस खानदान में एक बेटा दो ढाई साल का होकर कालकवलित हो जाए तो दूसरा जवान बेटा पेड़ से गिरकर मौत की आगोश में समा जाए तो फिर इस बेटे की परवरिश में भला कोई कमी क्यों कर होती। नानी और मां तो उन पर सौ-सौ जान से निसार रहतीं। मजाज अपने खानदान की आन-बान-शान लेकर बड़े हुए। मां और पिता की सारी अच्छी आदतें उनमें थीं। लेकिन उनकी किस्मत ने तो कुछ और लिख रखा था। उनकी हुस्नपरस्ती और मुहब्बतपरस्ती के अतिरेक ने उनको हर बार बहकाया। शायरी से लगाव था। शायरी ने उनके दिल और दिमाग को गैर मामूली नरमाई से लबरेज कर रखा था। उनका दिल पढ़ने-लिखने में जमकर नहीं लगता था। किसी तरह उन्होंने अलीगढ़ से इंटर किया। वहीं से यारी-दोस्ती और शायरी की धुन ने उनको बदलकर रख दिया। उनका दिल शायरी में था। और शायरी है तो यार-दोस्त हैं। शायर और शायरी है तो मयनोशी भी जरूरी है। इन सबके बावजूद उनमें अदब इतना था कि अपने अब्बू के आगे न कभी



सिगरेट पी न कभी कोई कलाम सुनाया। छोटी बहन हमीदाजी से इतना प्यार कि एक बार उन्हें माता निकली। घर वालों के लाख मना करने के बाद भी उनके आसपास ही बने रहते। नीम की नाजुक पत्तियों की डाली से हवा करते रहते। किस्से सुनाकर उनका दिल बहलाते। एक पल भी उन्हें अकेला न छोड़ते। जिस व्यक्ति में सेवा भाव इतना प्रबल हो, भला वह बुरा कैसे हो सकता है। घर में बड़े भाई, बड़ी बहन के बच्चों की खुशी के लिए आन के आन में कबूतर, घोड़ा, बकरी का स्केच बनाकर उनको खुश कर देते। बच्चों के साथ बच्चा बनकर छत पर पतंग उड़ाते और पेंच लड़ाते। किसी तरह बी.ए., एल.एल.बी. हो गए। शायरी ने अलीगढ़ में जो ऊंचाइयां हासिल कीं वह बरकरार रहीं। दिल्ली में लाइब्रेरी में नौकरी की। वहां एक परीचेहरा लड़की से मुहब्बत कर बैठे। वह मुहब्बत परवान न चढ़ सकी और वह बेल किसी और के मंडवे की शोभा बना दी गई। इस मुहब्बत की नाकामी ने उनके दिल और दिमाग को सुन्न कर दिया। मयनोशी और बढ़ गई। फिल्मी दुनिया में भी गए, वहां भी दिल न लगा। बेकारी और अपने आपसे बेज़ारी बढ़ती गई। फिर तो ज़िंदगी भटकाव ही भटकाव में उलझती चली गई। अब शादी के पैगाम आना तो दूर, उनकी

शादी का ज़िक्र भी किसी परिवार से करना मुश्किल हो गया था। लेकिन उनकी शायरी की बुलंदियों ने ऊंचाइयों पर जाने की राह दे दी। अपनी सच्ची साथिन कलम के सहारे वे अपनी नाकामियों के ज़ख्मों को सहलाते रहे। इतनी सारी नाकामी ने उनके व्यक्तित्व को बार-बार खंडित ही किया। अच्छी कदकाठी, तीखे नाक-नक्श, उनका घर संसार बसाने में नाकाम रहे। किस्मत ने उनका साथ न दिया। दिल और दिमाग में एक अज़ीब सूनापन भर गया जो उनके कद से भी बड़ा हो गया था। वे नर्वस ब्रेकडाउन का शिकार हो गए। एक बार नहीं, तीन बार। जोश ने तो यहां तक कह दिया कि उसे पागलखाने भेज दो। लेकिन जब रांची से इलाज के बाद लौटे तो कुछ दिनों बाद फिर वही नर्वस ब्रेकडाउन का हमला हुआ। इस बार यानी तीसरी

बार के नर्वस ब्रेकडाउन के हमले ने उनसे ज़िंदगी जीने का मौका ही छीन लिया।

इस 30 पन्नों की छोटी-सी कहानी में कई जगह दोहराव मिलते हैं। लेकिन ये दोहराव एक बहन की तकलीफ़ को जाहिर करते हैं। जब-जब भाई याद आते हैं तो दर्द जागता है और बराबर टीसता है। हमीदाजी का परिचय जब मजाज की छोटी बहन के रूप में कराया जाता है तो उन्हें बड़ा गर्व होता है। उन्होंने ही बहन हमीदा को पढ़ने-लिखने का बचपन से शऊर दिया। ऐसे भाई को एक बहन भला कैसे भूल पाएगी।

इस पुस्तक को पढ़ने के बाद यही लगता है—भगवान इतनी प्रतिभा किसी को न दे कि वह दोनों हाथों से भी उसे संभाल न सके और उसका हाल—निराला, भुवनेश्वर, मजाज या काजी नज़रूल इस्लाम की तरह हो जाए। प्रतिभा का अतिरेक असंतुलन को जन्म देता है और कभी-कभी असंतुलन पागलपन की हद तक पहुंचा देता है।

मजाज मेरा भाई/हमीदा सालिम/ प्रकाशन संस्थान, 4268/बी-3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 100

5, विद्यापुरम, मकरोनिया कैंप, सागर (म.प्र.) फो. : 07582-262354

ऐतिहासिक संपदा की सुरक्षा का प्रयास

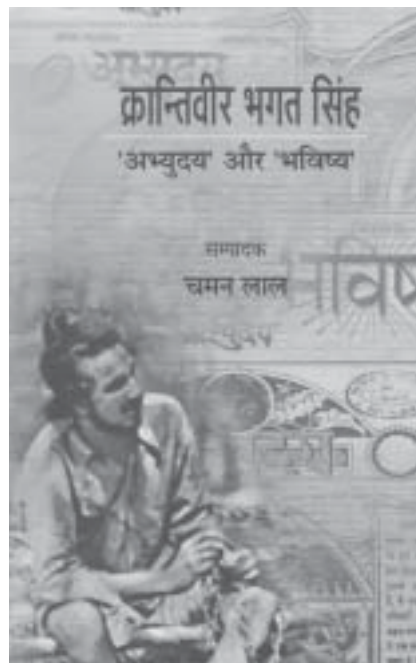
मनोज मोहन

ब

हुत से इतिहासकारों और विद्वानों का मत है कि बीसवीं सदी में दुनिया भर में दो ही ऐसे क्रांतिकारी व्यक्तित्व हुए जिनको मौत का खौफ नहीं था और वे अपनी जान हथेली पर लिए घूमते थे। ये थे भगतसिंह और चेम्बारा। दोनों की जिंदगी छोटी थी और दोनों का विश्वास समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा से जुड़ा था। चमनलाल द्वारा संपादित 'क्रांतिवीर भगतसिंह : अभ्युदय और भविष्य' भारत की आज़ादी की लड़ाई, खासकर इंकलाबी नौजवानों की लड़ाई की हकीकत जानने की कोशिश का नतीजा है। लेकिन इस पुस्तक के केंद्र में महान् क्रांतिकारी व्यक्तित्व भगतसिंह हैं। पुस्तक की अधिकांश सामग्री क्रांतिकालीन पत्रिकाएँ 'अभ्युदय' और 'भविष्य' की फाइलों से लिया गया है। हम अपने सांस्कृतिक विरासत से इतने लापरवाह रहे हैं कि इन दोनों पत्रिकाओं की पूरी फाइलें तक सुरक्षित नहीं रख पाए। जबकि भगतसिंह के जीवन, व्यक्तित्व और परिवार से जुड़ी सारी बातें 'अभ्युदय' और 'भविष्य' में छपी गई थीं— विशेषकर भगतसिंह और उनके परिवार के लोगों के चित्र। उन्हीं चित्रों के बदौलत भगत सिंह की विशेष छवि निर्मित हुई थी। चमनलाल जी ने भूमिका में इस ओर इशारा भी किया है, "1757 से 1947 तक के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान छपे पत्र-पत्रिकाओं/जब्त शुदा सामग्रियाँ अन्य किताबों/पर्चों का रिकार्ड या तो मिलता ही नहीं, या बहुत ही कम मिलता है और जो मिलता है वह इतना अव्यवस्थित होता है कि उसे संपादित/संयोजित करना एक मुश्किल काम होता है।"

पूरी पुस्तक को छह खंडों में बांटा गया है। 'परिशिष्ट' और 'चित्रावली' को भी खंडों के अंतर्गत रखा गया है। पहले खंड में सत्यभक्त लिखित भगतसिंह की बहुत ही संक्षिप्त और सारगर्भित जीवनी है। भले यह जीवनी भगत सिंह की फांसी के पचास वर्षों बाद 1981 में लिखा गया हो लेकिन इसमें भारतीय नौजवानों के क्रांतिकारी जीवन के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएं दर्ज हैं। हां इस जीवनी का सबसे

कमजोर पक्ष यह है कि इससे भगत सिंह के विचारों को लेकर कोई मुकम्मल राय, व्यक्ति नहीं बना सकता। इस जीवनी में भगत सिंह के साथ मिलने-जुलने वाले लोगों में अधिकतर कम्युनिस्ट आंदोलन से जरूर जुड़े थे लेकिन इस आधार पर यह सिद्ध करना कि वे एक कम्युनिस्ट थे, अन्याय होगा। सत्यभक्त अपनी जीवनी में कहते हैं कि 'भगत सिंह के पहले भले ही बड़े-बड़े साहसी और प्राणों को तिनके की भांति अर्पण कर देने वाले क्रांतिवीर उत्पन्न हो चुके थे, लेकिन उनकी तरह क्रांति के बाद समाज की रचना का कोई स्पष्ट चित्र किसी और के पास न था, फिर उनके क्रांति संबंधी विचार परिपक्व होते गए और आठ सितंबर, 1928 को दिल्ली के फिरोजशाह किले में की गई 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (क्रांतिकारी दल) की बैठक में उन्होंने जोर देकर उसके नाक में 'साम्यवादी' शब्द शामिल करा दिया। दूसरे खंड में साप्ताहिक पत्रिका 'अभ्युदय' में भगतसिंह से संबंधित सामग्रियों का एकत्रीकरण है। 8 मई 1931 को अपने तेरहवें अंक को 'अभ्युदय' ने भगत सिंह अंक के रूप में निकाला था। इस अंक में गांधीजी से लेकर कांग्रेस के तत्कालीन सभी बड़े नेताओं



ने एक स्वर में भगत सिंह के साहस की सराहना की थी। मदन मोहन मालवीय का यह काम बेहद सारगर्भित है, 'हिंसा की अपेक्षा अहिंसा के लिए अधिक साहस की आवश्यकता है। भारत के युवकों को मेरी सलाह है कि महात्मा गांधी के अहिंसा के लिए भगत सिंह जैसे साहस का परिचय दें।' इसी खंड में सुखदेव, राजगुरु और चंद्रशेखर आज़ाद के क्रांति जीवन की संक्षिप्त जानकारी भी दी गई है। 'अभ्युदय' पत्रिका के संपादक पद्मकांत मालवीय थे जो अंत तक वामपंथी विचारधारा के समर्थक बने रहे। तीसरे खंड में साप्ताहिक पत्रिका 'भविष्य' के अंकों से भगत सिंह को संबंधित संपादित अंश है। 'भविष्य' के पहले संपादक पं. सुंदरलाल थे और उनके साथ रामरख सिंह सहगल काम करते थे। इस पुस्तक में रामरख सिंह सहगल के संपादन में और भगत सिंह के शहादत के बाद के अंकों से सामग्री ली गई है। इसे क्रमवार रखा जाता तो पाठकों को सहूलियत होती। साथ ही इसी खंड में रघुवीर सहाय द्वारा अज्ञेय से किए गए लंबे साक्षात्कार का एक अंश है जो सर्वप्रथमतः आकाशवाणी से प्रसारित हुआ था और बाद में इसे पुस्तक रूप में छपा भी गया 'अज्ञेय अपने बारे में' शीर्षक से। इस साक्षात्कार में अज्ञेय के एक कथन से यह लगता है कि क्रांतिकारियों के बीच वैचारिक सामंजस्य का अभाव था, 'जिन लोगों को हम आदर्श पुरुष मानते रहे, ये सब लोग ऐसे ही थे। आपस में भी इस तरह लड़ते थे, कोई किसी का सम्मान नहीं करता, किसी को किसी पर विश्वास नहीं है। और इस लपेटे में ऐसे लोग भी आ जाएंगे जिनकी अभी तक प्रतिष्ठा बनी हुई है, उदाहरण के लिए चंद्रशेखर आज़ाद या भगत सिंह वगैरह।' क्रांतिकारियों के बीच के असम्मान, अविश्वास और असामंजस्य की स्थिति क्यों थी इस पर अभी भी शोध की संभावनाएं मौजूद हैं।

चौथा खंड 'भविष्य', 'चांद' और 'कर्मयोगी' जैसे क्रांतिकालीन पत्रिका के संपादक रामरख सिंह सहगल पर सामग्री है। उनके बेटे नरेंद्र सहगल के संस्मरणत्मक लेख से

यह पता चलता है कि रामरख सिंह सहगल को ब्रिटिश काल में जो उत्पीड़न झेलना पड़ा, वह स्वतंत्र भारत में भी जारी रहा। उनके शब्द हैं, 'यदि कोई अन्य देश होता तो उनको मुआवजा और पेंशन के साथ-साथ किसी उपाधि से संवारा होता, किंतु पाठकों को यह जानकर अचंभा होगा कि उनकी सेवाओं की सराहना तो दूर यह दोटूक जवाब मिला कि चूंकि आपने 1942 के आंदोलन में भाग नहीं लिया। अतः आप पॉलिटिकल सरकार की परिभाषा में नहीं आते, अतः आपका दावा रद्द किया जाता है।' यह स्वतंत्र भारत के सरकार की राय थी जबकि इस खंड में दुर्गा भाभी के शामिल पत्र से रामरख सहगल क्या थे, जानना दिलचस्प है, 'सहगल साहब से अपना खुला परिचय था। अपनी फरारी के अवस्था में मुझे सहगल साहब के निवास-स्थान पर शरण मिली थी। यदि उनके घर पकड़ी जाती तो उन्हें सात वर्ष की सजा होती। ऐसा था वह समय।'।

खंड पांच और छह पुस्तक का परिशिष्ट है। पांचवें खंड में भगत सिंह के पत्र और उर्दू अंश आर मूल और अनुवाद दोनों में दिया गया है और छठे खंड में क्रांति से जुड़े लोगों और उनके पारिवारिक चित्रों को संग्रहित किया गया है। तकनीकी के इस दौर में अंतिम दोनों खंडों को बेहतर ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता था। लेकिन यह समस्या प्रकाशक की है न कि पुस्तक संपादक की।

भगत सिंह की फांसी भारत में क्रांतिकारी आंदोलन की एक नैतिक जीत भले रही हो लेकिन यह जीत अधूरी थी और इसको समझने के लिए इस तरह की पुस्तक काफी सहायक हो सकती है। अंत में संपादकीय टिप्पणी के इस अंश से 'जब तक हमारे इतिहासकार हिंदुस्तानी जवानों, उनके लेखकों, संपादकों की विशिष्टतावादी नज़रिए से अवमानना करते रहेंगे वे कभी सही इतिहास के लेखक नहीं बन सकते।' सहमति जताते हुए पुस्तक संपादक को बधाई दी जानी चाहिए कि उन्होंने इतना महत्वपूर्ण काम किया है।

क्रांतिवीर भगत सिंह : 'अभ्युदय' और 'भविष्य' / संपादक : चमनलाल/ लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001/ मूल्य : ₹ 950

एल.पी.-61/बी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, मो. 09868664457

कला-संस्कृति

किताबें कुछ कहना चाहती हैं; तुम्हारे पास रहना चाहती हैं!

राकेश शुक्ला

“स

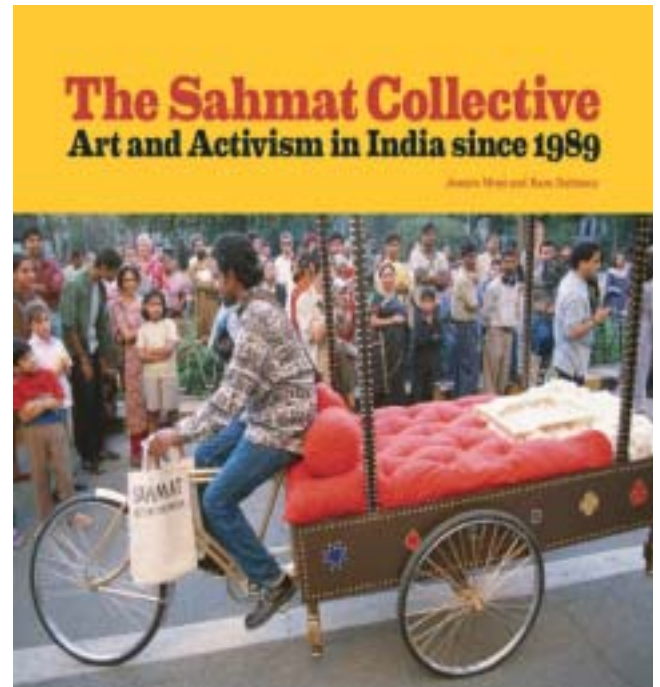
फदर हाशमी एक सुलझे हुए खुले दिमाग वाले इंसान थे। उनके मन में किसी के लिए दुर्भावना या नफरत नहीं थी।

सफदर पूर्वाग्रहों से परे थे। करीब 22 साल पहले, पहली जनवरी 1989 को जब वे दिल्ली की सीमा के पास, साहिबाबाद में एक नुक्कड़ नाटक में किरदार निभा रहे थे, उन पर कातिलाना हमला हुआ और उन जख्मों के असर से अगले दिन ही मौत की नींद सो गए।”

अपनी किताब 'द सहमत कलेक्टिव : आर्ट एंड एक्टिविज्म' के लोकार्पण के मौके पर राम रहमान ने ये शब्द कहे जो न सिर्फ इस किताब के लेखक और संग्रहकर्ता हैं, बल्कि सफदर हाशमी मेमोरियल ट्रस्ट के संस्थापकों में एक हैं।

अब सफदर को गुजरे दो दशक से ज्यादा हो गए हैं। तब उनके नाटक ग्रुप जनम, यानी जन नाट्य मंच, ने अपनी सक्रिय गतिविधियों से प्रगतिशील और बौद्धिक विचारों को आमजन तक जितने साधारण और सरल तरीके से पहुँचाया; वो आज एक मिसाल है। बौद्धिकता के तेवर को सफदर हमेशा बहुत ही सहज तरीके से अपने नाटकों और अपने विचार में उतारते थे। कठिन और दुरूह मसलों पर भी सरलतम तरीके से की

गई अभिव्यक्ति ही सफदर की खास पहचान थी। यही वजह थी कि नुक्कड़ नाटकों में और इस तरह की दूसरी कला अभिव्यक्तियों में वो खुद को एकदम सीधे और तुरंत आस-पास बैठी जनता और आम लोगों के साथ जोड़ लेते थे। कथ्य और शिल्प पर सफदर की शानदार पकड़ और जन साधारण से खुद को एकबारगी सीधे सपाट ढंग से जोड़ लेने की शैली आज भी रंगकर्मियों के लिए प्रेरणा स्रोत है। शायद उनकी यही कला समझ और प्रगतिशील मूल्यों के लिए मर मिटने का अदम्य साहस सबके लिए बेजोड़ मिसाल थी; जो फिरकापरस्त लोगों के गले नहीं उतरी और न लड़ पाने वाले बुजदिल, कायरों को भांति, जो उन ताकतों का पुराना पेशा रहा है; सफदर को हजारों लोगों के सामने 1989 के पहले दिन जान लेवा हमले में हमेशा के लिए हससे छिन ले गया।





इसलिए जेसिका मोस और राम रहमान की यह किताब 'द सहमत कलेक्टिव : आर्ट एंड एक्टिविज्म इन इंडिया सिंस 1989' एक बहुप्रतीक्षित रूबाइयत की तरह है। उसके आलेख, लेखगण, रूपरेखा, साज-सज्जा, रंग-रोगन, तमाम तस्वीरें, किताब की डिजाइन एवं उसका कैनवास अद्भुत है, देखने-पढ़ने और निश्चय ही संकलन के लायक है। हिन्दुस्तान में इस तरह के विषयों पर ऐसी प्रस्तुतीकरण का घोर अभाव है और इसलिए ये किताब न सिर्फ बेजोड़ है बल्कि ऐसे खाने में उभर आई दूरी को पाटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

इस बात का जिक्र यहां इसलिए भी जरूरी है कि इस किताब का प्रकाशक स्मार्ट म्यूजियम ऑफ आर्ट, शिकागो यूनिवर्सिटी है। किताब में लेखक द्वय को लेखक नहीं क्यूरेटर कहा गया है। क्यूरेटर यानी खोजकर्ता या जरा विस्तारित रूप में समझें तो अमूल्य धरोहर के संग्रहकर्ता। किताब के कवर को छोड़कर कुल 296 पृष्ठ हैं। तस्वीरों का अद्भुत संयोजन है और सफदर की कुछ अनदेखी तस्वीरें तो आपको भावुक बना देती हैं। पेज 30 पर अपने एक नाटक में महिलाओं को संबोधित करते सफदर की जो तस्वीर है, उनकी जो कलात्मक अभिव्यक्ति है; सामने बैठी आम-देहाती महिलाओं के चेहरे पर जो

कौतूहल और जिज्ञासा का भाव है, उसे आप आसानी से भूल नहीं पाएंगे।

सफदर द्वारा बच्चों को ध्यान में रखकर लिखी गई किताबों और कविताओं का भी लंबा जिक्र है। (पेज 62-67) शानदार तरीके से उन्हें यहां संजोया गया है। मुझे याद नहीं है कि अपने तमाम नये पुराने न जाने कितने दोस्तों के बच्चों को मैंने सफदर की ये किताब कितनी बार दी है। उनके जन्म दिन पर, पार्टी और पर्व त्योहारों पर! फिर आगे सहमत के तमाम कार्यक्रमों, गीत-संगीत, विचार-गोष्ठी, कविता-कहानी, प्रकाशन, वैचारिक और बौद्धिक सेमिनार-सम्मेलनों का जिक्र भी यहां बहुत तरीके और विस्तार से दिखता है। एक बार



फिर से कहना चाहिए कि इन सबकी तस्वीरें अद्भुत हैं।

भारतीय इतिहास, कला, समाज, संस्कृति और प्रगतिशील बौद्धिक वैचारिक अभिव्यक्तियों का अगर आप एक जगह संकलन देखना चाहते हैं; तो मेरे हिसाब से इससे बेहतर किताब अभी हाल फिलहाल क्या, मैंने सालों से नहीं देखी!

मगर लगभग 300 पृष्ठों की यह शानदार किताब उस वक्त बेहद खटकती है जब आप इसे हाथों में लेते हैं! क्योंकि ये पेपरबैक संस्करण है और इसलिए हार्डबाउंड के अभाव में ये ठीक से संभलती नहीं है। पेपर और किताब की मोटाई पेपरबैक से ताल मेल नहीं खाती। इसलिए इसे हार्डबाउंड में ही होना चाहिए था। इसकी कीमत किताब में छपी नहीं है लेकिन यह सहमत कार्यालय में 2000 रुपये में उपलब्ध है। कीमत थोड़ा ज्यादा है; लेकिन अगर एक बार आप हिम्मत करके जेब में हाथ डाल लें तो अंग्रेजी में कहते हैं, वर्थ इट! जिसे है यह प्रकाशन फरवरी, 2013 का है और किताब के आखिर में प्रिंटेड इन चाईना लिखा है। लेकिन शायद इसकी ऐसी प्रिंटिंग अब हिन्दुस्तान में भी संभव है। प्रकाशक अगर हिंदी संस्करण और अन्य क्षेत्रीय भाषाई संस्करण पर भी ध्यान दें तो शायद इन भाषाओं के पाठकों का भी भला होगा! कुल मिलाकर एक शानदार और अभूतपूर्व प्रस्तुति है यह किताब।

जेसिका मोस से मैं कभी मिला नहीं; लेकिन राम रहमान मेरे पुराने दोस्तों में एक हैं; इसलिए उनकी इस सुरुचिपूर्ण मेहनत और सफलता के लिए उन्हें ढेरों साधुवाद!

सबसे आखिर में इस किताब के बहाने सफदर तो याद आये ही, उनके साथ-साथ मिर्जा गालिब की वो पंक्तियां भी याद आईं, "रगों में दौड़ते रहने के हम नहीं कायल, जबां की हवी से न टपका, तो फिर लहू क्या है!..."

द सहमत कलेक्टिव, आर्ट एंड एक्टिविज्म इन इंडिया सिंस 1989/ लेखक/संग्रहकर्ता : जेसिका मोस और राम रहमान/ स्मार्ट म्यूजियम ऑफ आर्ट, शिकागो यूनिवर्सिटी, शिकागो, अमेरिका/ मूल्य : ₹ 2000

वरिष्ठ टेलीविजन पत्रकार, 211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091

गौतम सचदेव की कहानी 'जीरे वाला गुड़' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

भा

रतीय प्रवासी लेखकों/लेखिकाओं के सामने लेखन की दुनिया की सबसे बड़ी समस्या यह है कि बेशक वे वर्तमान में जीते हैं लेकिन अतीत की स्मृतियां उनका पीछा नहीं छोड़तीं। मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जिनका जन्म ही विदेश में हुआ, लेकिन जो भारत में जन्मे और नौकरी या किसी अन्य कारणवश विदेश में बस गए, उनके सामने यह समस्या बराबर बनी रहती है, खासकर तब, जब पीछे छूटे हुए भारत से उनके पारिवारिक संबंध शेष रहते हैं। माता-पिता के संस्कार बच्चों में आते ही हैं। प्रायः हर प्रवासी लेखक की कहानियों में कहीं न कहीं पूरब और पश्चिम के संस्कारों में टकराहट होती ही है।

इंग्लैंड प्रवासी कथाकार गौतम सचदेव की प्रस्तुत कहानी 'जीरे वाला गुड़' एक निहायत पारिवारिक कहानी है, जो विदेशी पृष्ठभूमि पर लिखी गई है, जबकि इस कहानी का मूल कथ्य भारतीय संस्कार और पश्चिमी संस्कार का द्वैत है। पंजाब के एक गांव फगवाड़ा से उखड़कर नौकरी की तलाश में हरीश लंदन चला गया। दिलचस्प बात यह है कि वहां उसने पश्चिमी रंग में ढलकर अपना नाम हरीश से बदलकर हैरिस कर लिया। वहां वह अंग्रेज लड़की सिंधिया से शादी कर लेता है। सिंधिया की डिलीवरी होने वाली है और इस अवसर पर हैरिस अपने माता-पिता को गांव से बुलाना चाहता है। चूंकि हैरिस जानता है कि उसकी अंग्रेज पत्नी भारतीय शिष्टाचार से बिल्कुल परिचित नहीं है इसलिए वह अपनी पत्नी को न केवल यह बताता है कि माता-पिता जरा पुराने ख्याल के हैं, इसलिए उनकी आवभगत में कोई कमी न रखे। उनका

चरण स्पर्श करे। वे आ गए हैं और सिंधिया मन ही मन सोच रही है कि हैरिस ने तो यह काम हवाई अड्डे पर ही कर लिया होगा। उसके मन में द्वंद्व है कि वह कैसे पांव छूएगी। उनके पैरों की ओर हाथ बढ़ाकर वह झुक तो गई लेकिन एक तो उसे पैर छूने नहीं आते और दूसरे प्रसव के बाद उसके टांके नहीं खुले हैं, इसलिए भी उसे झुकने में कष्ट हो रहा है। यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है। उन्होंने पंजाबी में आशीर्वाद दिया, जिसका हैरिस ने अनुवाद करके बताया कि ये तुम्हें सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दे रहे हैं। बाद में यह समझकर कि यह पंजाबी नहीं समझती डैडी ने पंजाबीनुमा लहजे में 'गॉड ब्लेस यू' कहा। सिंधिया उनके सामने बैठी है और वे दोनों सिंधिया को निहार रहे हैं। उसके नाक-नक्श, कद, रंग, बोलने का ढंग, यहां तक कि उसके चलकर आने और बैठने के तरीके को भी। और उधर सिंधिया यह देख रही थी कि हैरिस का चेहरा उसकी मां से मिलता है या उसके बाप से। चूंकि हैरिस की शादी के बाद उसके माता-पिता पहली बार सिंधिया से मिल रहे हैं और सिंधिया भी पहली बार उनको देख रही है।

इस कहानी की शुरुआत में एक विदेशी लड़की का भारतीय संस्कारों से अपरिचित होना उतना नहीं खटकता है जितना एक भारतीय मां-बाप का उससे भारतीय संस्कारों की अपेक्षा करना। सिंधिया पांव छू सकती थी लेकिन उसकी लाचारी थी। उसी तरह सिर पर पल्लू भी डाल सकती थी, जो उसके संस्कारों में नहीं था। इसी तरह हैरिस के सिखाने पर वह उसके माता-पिता द्वारा दी गई भेंट को स्वीकार करने में ना-नुकुर कर सकती थी। हैरिस ने अपनी ओर से पूरी

सावधानी बरती थी कि उसके माता-पिता के आने पर सिंधिया विदेशी लड़की की तरह नहीं बल्कि भारतीय बहू की तरह व्यवहार करे। इसलिए हैरिस ने उसे यहां तक सिखाया कि तुम उन्हें 'मम्मी और डैडी कहना, मिसेज चावला और मिस्टर चावला नहीं।' सिंधिया ने फिर से एक बार कोशिश की अपनी पिछली भूलों को दुरुस्त करने की। सिर ढकने के लिए उसे और कुछ नहीं मिला तो उसने एक नया 'टी टॉवल' सिर पर रख लिया। और मम्मी-डैडी के पास जाते हुए सॉरी कहते हुए उनके पैरों पर गिर पड़ी। स्वाभाविक था कि वे लोग खुश होते। मम्मी और डैडी द्वारा उपहार में लाए गए सामान की फैहरिस्त लंबी थी। सिंधिया ने इस अवसर पर बहुत सावधानी से काम लिया और हैरिस द्वारा बताए हुए और रटे गए वाक्यों का सहारा लिया। क्योंकि उसके सामने कोई विकल्प नहीं था इसलिए 'दैट्स टू मच' कहते हुए सब कुछ ले लिया। हैरिस की मम्मी ने खुश होकर कहा भी—हरीश, तेरी बहू बड़ी अच्छी है।'

इस कहानी में कई मोड़ हैं। चौराहे तो अनेक हैं। हैरिस के माता-पिता लंदन पहुंच गए हैं लेकिन उन्हें यह पता ही नहीं है कि उनके आने के पूर्व ही हैरिस की बेटी ऐन्या का जन्म हो चुका है। जब उनके आने के कुछ देर बाद वह ऐन्या को गोद में उठाए लौटा तो उसके मम्मी और डैडी पहले उसे और फिर हरीश को देखने लगे। मम्मी बोली, 'यह कब हुई? तुमने हमें बताया क्यों नहीं?' डैडी भी मम्मी का साथ देते हुए कहने लगे, 'हम तो दुश्मनों से भी गए-गुजरे हो गए, तुमने इतनी बड़ी खबर छुपा ली और वह भी मां-बाप से?' हैरिस के सामने स्पष्ट था कि

यह बात उन दोनों को बहुत बुरी लगी है और वे समझ रहे हैं कि हमने उपेक्षा करके उनका अपमान किया है। अपमान तो यह था ही कि बेटा मां-बाप को बच्चा पैदा होने तक की खबर न दे। ऐन्या को उसके दादा-दादी ने हाथों-हाथ लिया और सिंधिया को बधाई दी। मम्मी को हैरिस से ज्यादा शिकायत थी कि उसकी नजरों में अब उसके मां-बाप कुछ नहीं हैं, सब कुछ सिंधिया ही है। 'तुमने तो मां-बाप का दिया नाम तक बदल लिया।' हैरिस कहता रहा कि वह अपने माता-पिता को सरप्राइज देना चाहता था। फिर उन सबों के बीच पारिवारिक बातचीत होती रही। हैरिस ने कहा, 'सारी मम्मी, आप यूँ ही दूसरा मतलब निकाल रही हैं। हमने सचमुच आपको 'सरप्राइज' देना चाहा था और वैसे भी यह अभी सात दिन पहले ही तो हुई है और सिंधिया इसे लेकर आज सवेरे ही तो अस्पताल से आई है।'

अब यहां कहानी के इस मोड़ पर फिर संस्कारों की टकराहट है। दरअसल हुआ यह था कि समय पूर्व अचानक सिंधिया को दर्द हुआ और उसे अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा और फिर सिजेरियन कराना पड़ा अन्यथा ऐन्या को आपके आने से कम से कम 10-15 दिन बाद पैदा होना था। यह अप्रत्याशित घटित हुआ लेकिन मम्मी की शिकायत है कि क्या सिंधिया ने भी तुम्हें सलाह नहीं दी कि मां-बाप को सबसे पहले बताना चाहिए। तभी तो कहते हैं कि अपनी जात-बिरादरी में शादी करनी चाहिए। उधर सिंधिया हैरिस के यह पूछने पर कि कैसे लगे मम और डैड, कहती है—'नाराज हैं। चलो वह तो समझ में आता है, लेकिन शिकायतें बहुत करते हैं और घूरते भी बहुत हैं।' 'डार्लिंग, इन्हें शिकायतें नहीं, प्यार कहते हैं। मां-बाप का प्यार।' सिंधिया जिस वातावरण में पली है, उसमें बच्चों का विकास स्वतंत्र रूप में होता है। बड़े होने पर उनके पैरेंट्स का कोई कंट्रोल नहीं होता। इसलिए सिंधिया सवाल करती है, 'और, इंडियन पैरेंट्स शादीशुदा बच्चों पर भी कंट्रोल रखते हैं, क्यों? वे अपने फैसले और अपनी इच्छा को सबसे ऊपर समझते हैं?'

सिंधिया सब कुछ देखती है और सब कुछ समझती है और अपने भरसक कोशिश

करती है कि अनजाने में भी हैरिस के मां-बाप का उसके द्वारा अपमान न हो। लेकिन हैरिस की मां का व्यवहार सिंधिया के प्रति सहज नहीं था। यहां तक कि बेटा ऐन्या को गोद में उठाने से लेकर दूध पिलाने के तरीके को लेकर भी उनको आपत्ति थी। 'पता है, बच्चे को दूध पिलाते समय नजर लग जाती है। औरों की क्या, खुद अपनी नजर भी लग जाती है। इसलिए बच्चे को आंचल के नीचे दूध पिलाना चाहिए। और किसी के सामने भी नहीं। इसके बाद वे उठकर गईं और मेरी डेसिंग टेबल से 'आइब्रो पैसिल' ले आईं, जिससे उन्होंने ऐन्या के गाल पर डिठौना बनाया और कहने लगीं, 'ले, अब किसी की नजर नहीं लगेगी।' यहां फिर पूरब और पश्चिम के मातृत्व की टकराहट है। यह तो एक प्रसंग है। लेकिन जब ऐन्या एक रात जोर-जोर से रोने लगी तो उसके सख्त पेट को देखकर वे बोली, 'इसके पेट में हवा है। इसके पेट पर हींग लगा दो।' सिंधिया को इस तरह के इलाज से चिढ़ थी, हींग से तो और भी। लेकिन वह बर्दाश्त करती रही। हद तब हो गई जब उन्होंने ऐन्या की छोटी-मोटी परेशानियों के लिए भी देशी उपचार का सुझाव दिया। 'चूंकि हमारे यहां धारणा है कि आसन्न प्रसवा मां को देने के लिए देशी घी में जीरे का गुड़ दिया जाता है।' अब सिंधिया को देने के लिए उन्होंने 'घी में जीरा भूना और फिर उसमें गुड़ मिला दिया। घी से तर और अजीब स्वाद और गंध वाला, चिपचिपा-सा फज बन गया। मम्मी ने प्लेट में डालकर मुझे दिया। मैंने गुड़ कभी खाया नहीं और वह तो घी और जीरे वाला था। नाक के पास लाते ही मुझे उससे भयानक बास आई। मम्मी के आग्रह पर मैंने थोड़ा-सा चखा जरूर, लेकिन यह कहकर रख दिया कि अभी खाऊंगी, तो उल्टी आ जाएगी। बाद में खा लूंगी।' हैरिस ने सिंधिया को बताया कि यह पंजीरी है, जिससे जच्चा को ताकत मिलती है। ऐन्या को लेकर मम्मी जब-तब सिंधिया को टोकती रहती। जब कभी ऐन्या रोती तो इसी तरह सिंधिया को डांटती—'बच्ची भूख से तड़प रही है और तुम घोड़े बेचकर सो रही हो?'

इस तरह कहानी शुरू से लेकर अंत तक भारतीय और पश्चिम के संस्कारों की सरहद पर टकराती है। उसके बाद भी मम्मी-डैडी आए जब हैरिस ने सिंधिया से पूछे बिना उसकी दूसरी प्रेग्नेंसी की खबर उन्हें दी,

जब ऐंडी होने वाला था। इस बार उनके आने के 15 दिन बाद ऐंडी का जन्म हुआ इसलिए ढाई महीने बाद वे चले गए। यद्यपि सिंधिया को उनकी जरूरत महसूस हुई लेकिन वह नहीं चाहती थी कि हैरिस अपने मां-बाप को फिर बुलाए। लेकिन तीन महीने बाद हैरिस के आग्रह पर उन्हें फिर आना पड़ा। असली संस्कारों की टकराहट हैरिस की मां और सिंधिया के बीच इस बार हुई, 'जहां तक मेरी बात है मम्मी मुझे दंड देने का कोई मौका न छोड़तीं। उन्होंने अपने बेटे के लिए अंग्रेज नहीं, भारतीय बीवी की कामना की थी। हम अंग्रेज लोग सास-ससुर के बारे में कोई खास ऊंची धारणा नहीं रखते, लेकिन मैंने अपने विचार बदल लिए थे। मैं चाहती थी कि वे बच्चों के कारण ही सही मुझे पराई न समझें, लेकिन वे मुझे अपनाने को बिल्कुल भी तैयार नहीं थे। हैरिस उन्हें अपने साथ रखना चाहता था लेकिन मैं चाहती थी कि अब्वल तो उन्हें राइट ऑफ इंडैफिनेट स्टे न मिले और अगर मिल भी जाए, तो वे आस-पास कहीं अलग मकान लेकर रहें। इस पर मेरा उससे अक्सर झगड़ा होता।'

कहने की जरूरत नहीं कि पश्चिम और पूरब के संबंधों के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा फर्क है। इस कहानी की विषयवस्तु बहुत छोटी है लेकिन अंतर्वस्तु बहुत व्यापक है, जिसका संबंध हमारे संस्कारों से है। क्योंकि पश्चिम के अलग संस्कार हैं और पूरब के अलग। यदि दोनों पक्ष थोड़ा झुकें तो बीच का रास्ता निकाला जा सकता है। सिंधिया तो झुकने के लिए तैयार ही नहीं, बल्कि झुक गई है। लेकिन सवाल उसके अस्तित्व का है इसलिए प्राणपण से वह सचेष्ट है कि वह अपने अस्तित्व और स्वतंत्रता की रक्षा कर सके। जब कि हैरिस अपना नाम तो बदल चुका है लेकिन संस्कारों की गहरी जड़ों से वह कटा नहीं है। यह कहानी इसलिए एक अच्छी कहानी है कि इसमें कोई कथा नहीं है, कथा के नाम पर प्रसंग हैं, फिर भी इस कहानी को पढ़ने पर अच्छा लगता है। सिंधिया एक विलक्षण चरित्र है जिसका भोलापन और निर्दोषिता पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती है।

बी-19/एफ, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 9891349058

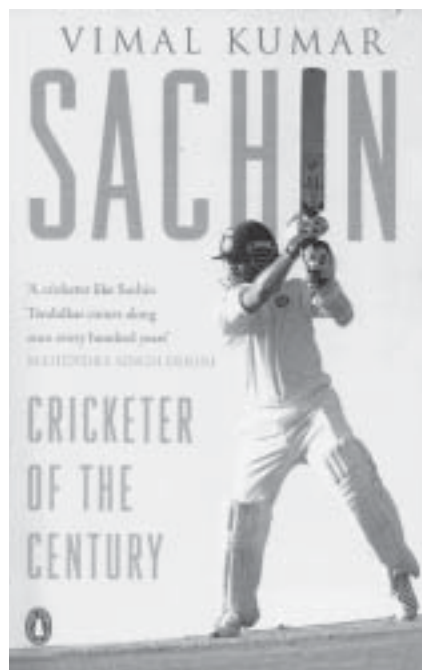
सचिन पर दिग्गजों की राय

अनंत विजय

आ

ज हिंदी को लेकर पूरी दुनिया में एक उत्साह का माहौल है। पूरी दुनिया की नजर हिंदी भाषा पर टिकी है। चीन के विश्वविद्यालय में हिंदी की पढ़ाई शुरू हो चुकी है, उधर भारत के विश्वविद्यालयों में भी चीन के छात्र हिंदी सीखने पढ़ने आने लगे हैं। चीन का उदाहरण इस वजह से दे रहा हूँ कि परंपरागत तौर पर चीन अपनी भाषा को लेकर बेहद सतर्क रहा है। चीन के लोग अपनी भाषा में काम करना और उसमें ही बोलना पसंद करते हैं। वैश्वीकरण और बाजार के दबाव ने चीन के लोगों को हिंदी की ओर मोड़ दिया। आज हिंदी सीखना उनकी मजबूरी है क्योंकि चीन की वस्तुओं का भारत में एक बड़ा बाजार है। इसके अलावा कान फिल्म महोत्सव के स्टेज से भी हिंदी सुनाई दी। वजह चाहे अमिताभ बच्चन का अपनी भाषा को लेकर प्यार रहा हो लेकिन इतना तय हो गया कि विश्व में हिंदी का ना केवल दायरा बढ़ा है बल्कि उसकी स्वीकार्यता भी। इस काम में टेलीवीजन सीरियल और न्यूज चैनलों की अहम भूमिका रही है। जोहानिसबर्ग के विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान बोलते हुए मॉरीशस के मंत्री ने इस बात को मंच से स्वीकारा था कि बॉलीवुड और भारतीय टीवी सीरियल्स ने हिंदी को बेहद लोकप्रिय बनाया। दरअसल उन्नीस सौ इक्यान्वे में जब से भारत ने उदारीकरण की राह अपनाई और अपना बाजार खोला तभी से विश्व को भारत के बाजार में संभावना नजर आने लगी। उदारीकरण और वैश्वीकरण के बाद भारत में साक्षरता दर भी बढ़ी और आम आदमी की क्रयशक्ति में भी इजाफा हुआ। बाजार का लाभ मिला तो उसके कुछ दुष्परिणाम से भी लोगों का सामना हुआ।

लेकिन आज के बदले वैश्विक परिवेश में बाजार एक हकीकत है और उससे मुंह नहीं चुराया जा सकता है। बाजार से टकराने का मतलब है कि बेहद मजबूत दीवार पर अपना सर मार देना। दीवार को तो कुछ नहीं होगा, सर अवश्य फूट जाएगा। जरूरत इस बात की है कि बाजार की हकीकत को समझते हुए हमें बाजार का इस्तेमाल अपने हक में करना चाहिए। वैसे यह बेहद अजीब बात है, और आश्चर्यजनक भी कि भारत में हिंदी का बाजार तो बढ़ा है, अखबारों और पत्रिकाओं की प्रसार संख्या और पाठक संख्या दोनों बढ़े हैं लेकिन साहित्य के पाठक घटते चले जा रहे हैं। आज हिंदी में साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशन को लेकर बहुत उत्साहजनक माहौल नहीं है खासकर फिक्शन और कविता के प्रकाशन को लेकर। प्रकाशन कारोबार से जुड़े



लोग कविता, कहानी और आलोचना से दूर साहित्येतर विधाओं की किताबों को छापने की जुगत में लगे हुए हैं। व्यक्तित्व विकास से लेकर सफलता की घुट्टी पिलाने वाली किताबों की हिंदी में बाढ़ आई हुई है। आज की युवा पीढ़ी के पाठक इन किताबों को बेहद सहजता से खरीद रहे हैं। अगर हम इसकी वजहों पर गौर करें और प्रकाशकों से बात करें तो उनका दावा है कि साहित्य बिकता नहीं है, नई पीढ़ी कविता और कहानी को लेकर उत्सुक नहीं है। उनका दावा है कि साहित्यिक कृतियों के तीन से लेकर पांच सौ तक के संस्करण को बिकने में सालों लग जाते हैं। उधर लेखकों का आदिकाल से आरोप है कि हिंदी के ज्यादातर प्रकाशक घपला करते हैं और वो बिक्री के सही आंकड़े नहीं देते हैं। कई लेखकों का तो दावा है कि सालों से उनको किताबों की बिक्री का लेखा-जोखा भी नहीं भेजा गया है ताकि पता लग सके कि कितनी किताबें बिकी हैं। इन आरोपों-प्रत्यारोपों के बीच नुकसान तो हिंदी साहित्य का ही हो रहा है।

हम इन नुकसान की वजहों पर गौर करें तो जो सबसे बड़ी वजह सामने आती है वह यह है कि हिंदी के साहित्यकारों ने अपने लेखन में विषयों का दायरा बढ़ाने की कोशिश ही नहीं की। कुल मिलाकर हिंदी के साहित्यकार कविता, कहानी और उपन्यास के इर्द-गिर्द ही घूमने में लगे रहे। कुछ लेखक आलोचना के मैदान में हाथ आजमाने में मगन रहे। साहित्य में संस्मरण, यात्रा वृत्तांत और रिपोर्टाज जैसी रोचक चीजें लिखने का चलन धीरे-धीरे खत्म होता चला जा रहा है। इसके अलावा हिंदी में नॉन फिक्शन तो बेहद ही कम लिखा जा रहा है। हिंदी के लेखकों ने खेल, फिल्म, स्वास्थ्य, समाज आदि पर लिखना छोड़ दिया। हिंदी में

व्यक्ति केंद्रित किताबें बेहद कम हैं। व्यक्ति केंद्रित से मेरा मतलब है कि किसी भी क्षेत्र- खेल, फिल्म, साहित्य, कला, सिनेमा आदि- की अहम शिखरियों पर लिखी किताबों से है। आज हमारे देश में क्रिकेट बेहद लोकप्रिय है लेकिन इस खेल की वजह से अपने प्रशंसकों के बीच लगभग भगवान का दर्जा प्राप्त कर चुके सचिन तेंदुलकर पर क्या कोई स्तरीय किताब हिंदी में है। आज महेन्द्र सिंह धोनी



भारतीय क्रिकेट के सार्वकालिक सफलतम कप्तान हैं। क्या झारखंड के रांची के उनके संघर्ष से लेकर सफलता के शिखर को बयां करती कोई किताब हिंदी में है। नहीं है। हिंदी के साहित्यकारों को यथार्थ की नई जमीन तोड़ने से ही फुरसत नहीं है इस वजह से वो नए विषय की तलाश में नहीं जुटते। कल्पना के आधार पर यथार्थ लिखने का शॉर्टकट उन्हें यथार्थ से दूर ले जाता है। नतीजा यह हुआ कि साहित्य लेखन में एकरसता आ गई। विषयों की विविधता नहीं होने से पाठकों का आकर्षण भी खत्म हो जाता है। दरअसल हिंदी के स्वनामधन्य साहित्यकारों को खेल और सिनेमा पर लिखना अपनी प्रतिष्ठा से कमतर लगता है। इन विषयों को वो दोयम दर्जे का समझते हैं। उनको तो विचारधारा का पोषण करनेवाले विषय भाते हैं।

अंग्रेजी में हालात इसके बिल्कुल उलट हैं। मेरी इस बात से राजेन्द्र यादव को आपत्ति होती है। हंस के मई 2013 अंक के संपादकीय में राजेन्द्र यादव ने लिखा—इधर हमारे अशोक वाजपेयी अपने रोजनामचे यानी कभी-कभार में अक्सर ही बताते रहते हैं कि उन्होंने देश-विदेश की किन गोष्ठियों में भाग लिया और उनकी तुलना में हिंदी कहां-कहां और कितनी दरिद्र है। इस दरिद्रता का कीर्तन अनंत विजय भी उसी उत्साह से करते हैं। वे दुनिया भर की चर्चित और अचर्चित पुस्तकें उसी उन्माद से घोंटते हैं जैसे अशोक वाजपेयी। फर्क इतना है कि अशोक वाजपेयी गंभीर, दार्शनिक या कविता केंद्रित पुस्तकें पढ़ते हैं तो अनंत विजय लगभग चर्चित, कुचर्चित और सनसनीखेज पुस्तकों के पढाकू हैं। वस्तुतः यह सुनते-सुनते मेरे कान पक गए हैं कि हम लोगों में क्या कमी है और हिंदी कहां-कहां

पिछड़ी हुई है। यह हिंदी वैशिंग मुझे मनोरोग जैसा लगने लगा है। मेरे दफ्तर में आनेवाले ज्यादातर लोग जब हिंदी कविता और कहानी की कमजोरियों और कमियों का रोना रोते हैं तो उसके पीछे भावना यही होती है कि देखिए इन कमियों और कमजोरियों को किस तरह अपनी महान रचनाओं के द्वारा मैं पूरा कर रहा हूं। यह अशोक और अनंत विजय जैसों की तरह ज्यादा पढ़ने और घूमने से उपजी हुई तकलीफ नहीं बल्कि एक सुना-सुनाया और आत्मप्रचार को सही सिद्ध करने का हथकंडा है। लगता है कि या तो ये लोग सिर्फ अपने बारे में बोल सकते हैं या हिंदी की कमियों को लेकर छाती माथा-कूटने की लत में लिप्त हैं। कभी कभी तो मुझे कहना पड़ता है कि हम हिंदुस्तानी या हम हिंदीवाले का रोदन बंद कीजिए और बताइये कि हमें क्या रहना है। यादव जी की यह पीड़ा ठीक है लेकिन इन कमियों पर भी उन्हें बात करनी चाहिए।

अभी-अभी अंग्रेजी में युवा और प्रतिभाशाली खेल पत्रकार विमल कुमार की सचिन तेंदुलकर पर एक बेहद अहम किताब आई है—सचिन, क्रिकेटर ऑफ द सेंचुरी। लगभग पौने तीन सौ पन्नों की यह किताब सचिन तेंदुलकर के बारे में एक मुकम्मल किताब है। तेंदुलकर के बारे में उनके समकालीन खिलाड़ियों से लेकर उनके वरिष्ठों की राय इस किताब को पढ़कर जानी जा सकती है। सर विवियन रिचर्ड्स के अलावा कपिलदेव, ग्राहम हिक, एलन डोनाल्ड, मैथ्यू हेडन, डेसमंड हेंस, गैरी कस्टन, एंड्रयू स्ट्रॉस, सौरभ गांगुली, कर्टली एंब्रोज, वेंकटपति राजू जैसे तमाम दिग्गजों की राय इस किताब में है। खिलाड़ियों की यह सूची बहुत लंबी है। इस किताब से सचिन का एक क्रिकेटर के

तौर पर तो मूल्यांकन होता ही है उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में परोक्ष रूप से एक तस्वीर उभर कर आती है। सर रिचर्ड्स इस बात को लेकर बेहद उत्साहित हैं कि सचिन उनके बल्लेबाजी की आक्रामक शैली के मुरीद हैं। उसी तरह कपिलदेव उनसे अपनी एक शर्त का जिफ्र करते हैं और कहते हैं कि विश्वकप की जीत के बाद फोन पर उन्होंने सचिन को कहा कि दो शर्त हारने की वजह से वो सचिन के हजार

रुपए के कर्जदार हैं। विमल कुमार ने इस किताब को दो खंडों में बांटा है। टेस्ट मैच और वनडे। उसमें सचिन की पारियों को आधार बनाकर उनके साथी खिलाड़ियों की बातों के आधार पर मूल्यांकन है। विमल कुमार ने बेहद श्रमपूर्वक दुनियाभर के खिलाड़ियों की राय इकट्ठा की है जो इस किताब को एक अलग स्वरूप प्रदान करती है। पाठकों को बांधे रखने के लिए इतने बड़े नाम काफी हैं। इसके अलावा इस किताब की भूमिका भी बड़े बड़े लोगों ने लिखी है। प्रस्तावना विवियन रिचर्ड्स ने तो विशेष तौर पर कर्टनी वॉल्स ने भी लिखा है। इसके अलावा राजदीप सरदेसाई और आशुतोष ने किताब की भूमिका लिखी है और अंतिम शब्द अमिताभ बच्चन का है। किताब में इतने बड़े नाम हैं कि पाठक आतंकित होने से बच ही नहीं सकते। लेकिन इससे इतर यह विमल कुमार की एक बड़ी उपलब्धि है कि एक स्थान पर क्रिकेट के भगवान के बारे में इस खेल के सारे दिग्गजों की राय मौजूद है। पाठकों को पढ़ने में यह किताब फिक्शन का आनंद देती है तो क्रिकेट प्रेमियों और क्रिकेट पर लिखने वालों के लिए यह किताब एक संदर्भ ग्रंथ के रूप में काम आएगी। फिर भी अंत में मेरा सवाल वही है कि हिंदी में इस तरह की किताब कब उपलब्ध होगी। कब हिंदी के पाठकों को अपने पसंदीदा खिलाड़ी के बारे में अपनी भाषा में जानने को मिलेगा। यह जितना जल्द होगा उतना ही हमारी अपनी भाषा के लिए बेहतर होगा।

आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी,
इंदिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201014,
फोन : 09871697248